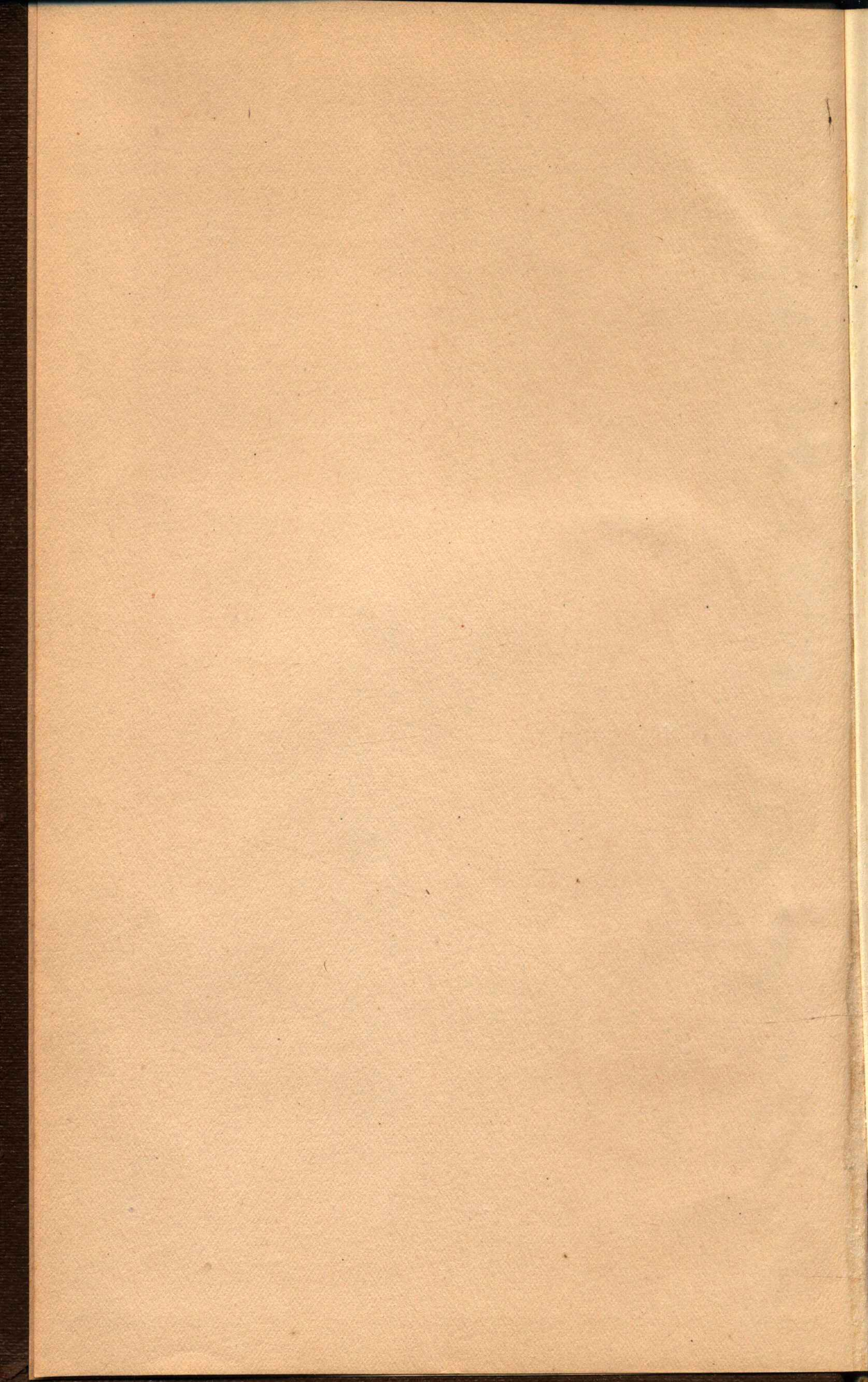
भारतीय ज्योतिष का इतिहास

डा॰ गोरख प्रसाद

प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार



भारतीय ज्योतिष का इतिहास

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास

हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला—१

भारतीय ज्योतिष का इतिहास

लेखक
गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन०)
रीडर, गणित विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

प्रकाशन ब्यूरो
उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
टेकनिकल प्रेस, प्रयाग

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङमय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषय में दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भंडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

भूमिका

यह पुस्तक लोकप्रिय साहित्य की श्रेणी की है । इसमें निजी नवीन खोजों का या वर्तमान ज्ञान के सभी ब्योरों का विवरण देने की चेष्टा नहीं की गयी है । उद्देश्य यह रहा है कि पाठक विषय को सुगमता से समझ सके और सब महत्त्वपूर्ण बातों को जान सके । मुझे आशा है कि ज्योतिष न जानने वाले भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे, क्योंकि ज्योतिष के वे पारिभाषिक शब्द जो प्रयुक्त हुए हैं सरल रीति से समझा दिये गये हैं ।

इस पुस्तक के प्रथम सात अध्याय लिखने में शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अपूर्व मराठी ग्रंथ "भारतीय ज्योतिषशास्त्र अथवा भारतीय ज्योतिषशास्त्राचा प्राचीन आणि अर्वाचीन इतिहास" से विशेष सहायता मिली है । ज्योतिष के प्रकांड विद्वान स्वर्गीय श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव ने मेरे आग्रह से मेरी पुस्तक "सरल विज्ञान-सागर" के लिए एक लेख भारतीय ज्योतिष पर लिखा था । मैंने उसका भी विशेष उपयोग किया है । अधिकांश संस्कृत श्लोकों के जो अर्थ यहाँ छापे गये हैं उनके लिए मैं श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय, श्री क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय अथवा डाक्टर आद्या प्रसाद मिश्र का ऋणी हूँ । प्रूफ-संशोधन में डाक्टर कृपाशंकर शुक्ल ने बड़ी सहायता की है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ । श्री के महोदय की "जयसिंह की ज्योतिष वेधशालाएँ" नामक अँग्रेजी पुस्तक से मैंने कुछ चित्र लिये हैं और मैं उनका अनुगृहीत हूँ ।

गोरख प्रसाद

अध्याय १

प्रारम्भिक बातें

ज्योतिष की महत्ता

भारतीय ज्योतिष का प्राचीनतम इतिहास सुदूर भूतकाल के गर्भ में छिपा हुआ है। केवल ऋग्वेद आदि अति प्राचीन ग्रंथों के स्फुट वाक्यांशों से आभास मिलता है कि उस समय ज्योतिष का ज्ञान कितना रहा होगा।

ज्योतिष का अध्ययन अनिवार्य था। जंगली जातियों में भी ज्योतिष का थोड़ा-बहुत ज्ञान रहता ही है क्योंकि इसकी आवश्यकता प्रति दिन पड़ा करती है; इसलिए आर्यों के ज्योतिष-ज्ञान का समुन्नत दिशा में पहुँचना आश्चर्य की बात नहीं है। ज्योतिष का विशेष रूप से अध्ययन उस समय भी होता था इसका प्रमाण यह है कि यजुर्वेद में 'नक्षत्रदर्श' (=ज्योतिषी) की चर्चा है[1]। छांदोग्य उपनिषद में नक्षत्रविद्या का उल्लेख है[2]। ज्योतिष अति प्राचीन काल से वेद के छः अंगों में गिना जाता रहा है[3]।

ज्योतिष के ज्ञान की आवश्यकता कृषकों को भी पड़ती है और पुजारियों को भी। यों तो सभी को समय-समय पर ऐसी बातों के जानने की आवश्यकता पड़ जाती है जिसे ज्योतिषी ही बता सकता है, परन्तु कृषक विशेष रूप से जानना चाहता है कि पानी कब बरसेगा, और खेतों के बोने का समय आ गया या नहीं। पुजारी तो बहुत-सी बातें जानना चाहता है। प्राचीन समय में साल-साल भर तक चलनेवाले यज्ञ हुआ करते थे और अवश्य ही वर्ष में कितने दिन होते हैं, वर्ष कब आरम्भ हुआ, कब समाप्त होगा, यह सब जानना बहुत आवश्यक था।

[1] ३०।१०।

[2] ७।१।२; ७।१।४; ७।२।१; ७।७।१।

[3] आपस्तंब धर्मसूत्र, ४।२।८।१०।

आजकल पंचांग इतना सुलभ हो गया है और उसके नियम इतने सुगम हो गये हैं कि इसकी कल्पना ही प्रायः असम्भव है कि अत्यन्त प्राचीन समय में क्या-क्या कठिनाइयाँ पड़ती रही होंगी। इसलिए इस प्रश्न पर विचार करना कि प्राचीनतम ज्योतिषी का वातावरण कैसा रहा होगा लाभदायक होगा।

समय की तीन एकाइयाँ

प्राचीनतम मनुष्य ने भी देखा होगा कि दिन के पश्चात रात्रि, रात्रि के पश्चात दिन होता है। एक रातदिन—ज्योतिष की भाषा में एक अहोरात्र और साधारण भाषा में केवल दिन—समय नापने की ऐसी एकाई थी जो मनुष्य के ध्यान के सम्मुख बरबस उपस्थित हुई होगी। परन्तु कई कामों के लिए यह एकाई बहुत छोटी पड़ी होगी। उदाहरणतः, बच्चे की आयु कौन जोड़ता चलेगा कि कितने दिन की हुई। सौ दिन के ऊपर असुविधा होने लगी होगी।

सौभाग्यवश एक दूसरी एकाई थी जो प्रायः इतनी ही महत्वपूर्ण थी। लोगों ने देखा होगा कि चन्द्रमा घटता-बढ़ता है। कभी वह पूरा गोल दिखायी पड़ता है, कभी वह अदृश्य भी रहता है। एक पूर्णिमा से दूसरी तक, या एक अमावस्या से दूसरी तक के समय को एकाई मानने में सुविधा हुई होगी। यह एकाई—एक मास या एक चान्द्र मास—कई कालों के नापने में सुविधाजनक रही होगी, परन्तु सबके नहीं। कुछ दीर्घ काल, जैसे बालक-बालिकाओं की आयु, बताने में मासों का उपयोग भी असुविधाजनक प्रतीत हुआ होगा; इससे भी बड़ी एकाई की आवश्यकता पड़ी होगी।

परन्तु लोगों ने देखा होगा कि ऋतुएँ बार-बार एक विशेष क्रम में आती रहती हैं—जाड़ा, गरमी, बरसात; फिर जाड़ा, गरमी, बरसात, और सदा यही क्रम लगा रहता है। इसलिए लोगों ने बरसातों की संख्या बताकर काल-मापन आरम्भ किया होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्ष शब्द की उत्पत्ति वर्षा से हुई है, और वर्ष के पर्यायवाची शब्द प्रायः सभी ऋतुओं से सम्बन्ध रखते हैं; जैसे शरद, हेमन्त, वत्सर, संवत्सर, अब्द, इत्यादि। शरद और हेमन्त दोनों का सम्बन्ध जाड़े की ऋतु से है; वत्सर और संवत्सर से अभिप्राय है वह काल जिसमें सब ऋतुएँ एक बार आ जायँ। अब्द का अर्थ जल देने वाला या बरसात है।

समय की एकाइयों में सम्बन्ध

सैकड़ों वर्षों तक अहोरात्र, मास और वर्ष के सम्बन्ध को सूक्ष्म रूप से जाने बिना ही काम चल गया होगा, परन्तु जैसे-जैसे गणित का ज्ञान बढ़ा होगा, जैसे-जैसे राजकाज में क्रमबद्ध आय-व्यय का लेखा वर्षों तक रखने की आवश्यकता पड़ी होगी, या लम्बे-

लम्बे एक या अधिक वर्षों के यज्ञ होने लगे होंगे, तैसे-तैसे इन तीन एकाइयों के सम्बन्ध को ठीक-ठीक जानने की आवश्यकता तीव्र होती गयी होगी।

मनुष्य के दोनों हाथों में कुल मिलाकर दस अँगुलियाँ होती हैं और इसी कारण गणित में दस की विशेष महत्ता है। सारा गणित दस अंकों से लिख लिया जाता है—१ से ९ तक वाले अंक और शून्य ०; इन्हीं से बड़ी-से-बड़ी संख्याएँ लिख ली जाती हैं। प्राचीनतम मनुष्य ने जब देखा होगा कि एक मास में लगभग तीस दिन होते हैं तो मास में ठीक-ठीक तीस दिन मानने में उसे कुछ भी संकोच न हुआ होगा। उसे मास में तीस दिन का होना उतना ही स्वाभाविक जान पड़ा होगा जितना दिन के बाद रात का आना।

परन्तु सच्ची बात तो यह है कि एक मास में ठीक-ठीक तीस दिन नहीं होते। सब मास ठीक-ठीक बराबर भी नहीं होते। इतना ही नहीं, सब अहोरात्र भी बराबर नहीं होते। इन सब एकाइयों का सूक्ष्म ज्ञान मनुष्य को बहुत पीछे हुआ। आज भी जब सेकेण्ड के हजारवें भाग तक वैज्ञानिक लोग समय नाप सकते हैं और डिगरी के दो हजारवें भाग तक कोण नाप सकते हैं, इन एकाइयों का इतना सच्चा ज्ञान नहीं है कि कोई ठीक-ठीक बता दे कि आज से एक करोड़ दिन पहले कौन-सी तिथि थी—उस दिन चन्द्रमा पूर्ण गोल था, या चतुर्दशी के चन्द्रमा की तरह कुछ कटा हुआ।

ऋग्वेद में वर्षमान

निस्सन्देह इन तीन एकाइयों के सम्बन्ध की खोज ही से ज्योतिष की उत्पत्ति हुई और यदि किसी काल की पुस्तक में हमें यह लिखा मिल जाता है कि उस समय मास में और वर्ष में कितने दिन माने जाते थे तो हमको उस समय के ज्योतिष के ज्ञान का सच्चा अनुमान लग जाता है।

ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम ग्रंथ है। परन्तु वह कोई ज्योतिष की पुस्तक नहीं है। इसलिए उसमें आनेवाले ज्योतिष-सम्बन्धी संकेत बहुधा अनिश्चित से हैं। परतु इसमें संदेह नहीं कि उस समय वर्ष में बारह मास और एक मास में तीस दिन माने जाते थे। एक स्थान पर लिखा है—

"सत्यात्मक आदित्य का, बारह अरों (खूँटों या डंडों) से युक्त चक्र स्वर्ग के चारों ओर बार-बार भ्रमण करता है और कभी भी पुराना नहीं होता। अग्नि, इस चक्र में पुत्रस्वरूप, सात सौ बीस (३६० दिन और ३६० रात्रियाँ) निवास करते हैं[1]।"

[1] १।१६४।४८; रामगोविन्द त्रिवेदी और गौरीनाथ झा का अनुवाद।

परन्तु यह मानने में कि मास में बराबर ठीक तीस दिन के होते हैं एक विशेष कठिनाई पड़ती रही होगी। वस्तुतः एक महीने में लगभग २९½ दिन होते हैं। इसलिए यदि कोई बराबर तीस-तीस दिन का महीना गिनता चला जाय तो ३६० दिन में लगभग ६ दिन का अन्तर पड़ जायगा। यदि पूर्णिमा से मास आरम्भ किया जाय तो जब बारहवें महीने का अन्त तीस-तीस दिन बारह बार लेने से आवेगा तब आकाश में पूर्णिमा के बदले अधकटा चन्द्रमा रहेगा। इसलिए यह कभी भी माना नहीं जा सकता कि लगातार बारह महीने तक तीस-तीस दिन का महीना माना जाता था।

मास में दिनों की संख्या

पूर्णिमा ऐसी घटना नहीं है जिसके घटित होने का समय केवल चन्द्रमा की आकृति को देखकर कोई पल-विपल तक बता सके। यदि इस समय चन्द्रमा गोल जान पड़ता है तो कुछ मिनट पहले भी वह गोल जान पड़ता रहा होगा और कुछ मिनट बाद भी वह गोल ही जान पड़ेगा। मिनटों की क्या बात; कई घण्टों में भी अधिक अन्तर नहीं दिखायी पड़ता। इसलिए एक मास में २९½ दिन के बदले ३० दिन मानने पर महीने, दो महीने तक तो कुछ कठिनाई नहीं पड़ी होगी, परन्तु ज्योंही लोगों ने लगातार गिनाई आरम्भ की होगी, उनको पता चला होगा कि प्रत्येक मास में तीस दिन मानते रहने से साल भर में गणना और वेध में एकता नहीं रहती। जब गणना कहती है कि मास का अन्त हुआ तब आकाश में चन्द्रमा पूर्ण गोल नहीं रहता; जब वेध बताता है कि आज पूर्णिमा है तब गणना बताती है कि अभी महीना पूरा नहीं हुआ।

अवश्य ही कोई उपाय रहा होगा जिससे लोग किसी-किसी महीने में केवल २९ दिन मानते रहे होंगे। इन २९ दिन वाले महीनों के लिए ऋग्वेद के समय में क्या नियम थे यह अब जाना नहीं जा सकता, परन्तु कुछ नियम रहे अवश्य होंगे। पीछे तो भारतीय ज्योतिष में ऐसे पक्के नियम बन गये कि लोग उन नियमों के दास बन गये; ऐसे दास कि आज भी हिन्दू ज्योतिषी तभी ही पूर्णिमा मानते हैं जब उनकी गणना कहती है कि पूर्णिमा हुई, चाहे वेध (आँख से देखी बात) कुछ बताये। मुसलमान वेध के भक्त हैं, हिन्दू गणित के। चाहे गणना कुछ भी कहे, जब तक मुसलमान ईद के चाँद को आँखों से देख न लेगा—चाहे निजी आँखों से, चाहे विश्वस्त पुजारियों की आँखों द्वारा—वह ईद मनायेगा ही नहीं। परन्तु आज का हिन्दू डेढ़ हजार वर्ष पहले के बने नियमों का इतना भक्त है कि वह वेध को भाड़ में झोंकने के लिए

उद्यत है। दृक्तुल्यता—गणना में ऐसा सुधार करना कि उससे वही परिणाम निकले जो वेध से प्राप्त होता है—आज के प्राय: सभी पंडितों को पाप-सा प्रतीत होता है। वेध की अवहेलना अभी इसलिए निभी जा रही है कि सूर्य-सिद्धान्त के गणित से निकले परिणाम और वेध में अभी घण्टे, दो घण्टे, से अधिक का अन्तर नहीं पड़ता, और घण्टे, दो घण्टे, आगे या पीछे पूर्णिमा बताने से साधारण मनुष्य साधारण अवसरों पर गलती पकड़ नहीं पाता। इसी से काम चला जा रहा है। ग्रहण के अवसरों पर अवश्य घण्टे भर की गलती सुगमता से पकड़ी जा सकती है[1], परन्तु पंडितों ने, चाहे वे कितने भी कट्टर प्राचीन मतावलम्बी हों, ग्रहणों की गणना आधुनिक पाश्चात्य रीतियों से करना स्वीकार कर लिया है। अस्तु। चाहे आज का पंडित कुछ भी करे, ऋग्वेद के समय के लोग साल भर तक किसी भी प्रकार तीस दिन ही प्रति मास न मान सके होंगे। सम्भवत: कोई नियम रहा होगा; ऐसे नियम वेदांग-ज्योतिष में दिये हैं और उनकी चर्चा नीचे की जायगी। परन्तु यदि कोई नियम न रहे होंगे तो कम-से-कम अपनी आँखों देखी पूर्णिमा के आधार पर उस काल के ज्योतिषी समय-समय पर एक-दो दिन छोड़ दिया करते रहे होंगे।

वर्ष में कितने मास

यह तो हुआ मास में दिनों की संख्या का हिसाब। यह भी प्रश्न अवश्य उठा होगा कि वर्ष में कितने मास होते हैं। यहाँ पर कठिनाई और अधिक पड़ी होगी। पूर्णिमा की तिथि वेध से निश्चित करने में एक दिन, या अधिक से अधिक दो दिन, की अशुद्धि हो सकती है। इसलिए बारह या अधिक मासों में दिनों की संख्या गिनकर पड़ता बैठाने पर कि एक मास में कितने दिन होते हैं अधिक त्रुटि नहीं रह जाती है।

परन्तु यह पता लगाना कि वर्षाऋतु कब आरम्भ हुई, या शरदऋतु कब आयी, सरल नहीं है। पहला पानी किसी साल बहुत पहले, किसी साल बहुत पीछे, गिरता है। इसलिए वर्षाऋतु के आरम्भ को वेध से, ऋतु को देख कर, निश्चित करने में पन्द्रह दिन की त्रुटि हो जाना साधारण-सी बात है। बहुत काल तक पता ही न चला होगा कि एक वर्ष में ठीक-ठीक कितने दिन होते हैं। आरम्भ में लोगों की यही धारणा रही होगी कि वर्ष में मासों की संख्या कोई पूर्ण संख्या होगी। बारह ही

[1] **क्योंकि चन्द्रग्रहण का मध्य पूर्णिमा पर और सूर्यग्रहण का मध्य अमावस्या पर ही हो सकता है।**

निकटतम पूर्ण संख्या है। इसलिए वर्ष में बारह महीनों का मानना स्वाभाविक था। दीर्घकाल तक होता यही रहा होगा कि बरसात से लोग मोटे हिसाब से महीनों को गिनते रहे होंगे और समय बताने के लिए कहते रहे होंगे कि इतने मास बीते।

तो भी, जैसे-जैसे ज्योतिष के ज्ञान में तथा राज-काज, सभ्यता, आदि, में वृद्धि हुई होगी, तैसे-तैसे अधिकाधिक दीर्घ काल तक लगातार गिनती रक्खी गयी होगी और तब पता चला होगा कि वर्ष में कभी बारह, कभी तेरह, मास रखना चाहिए, अन्यथा बरसात उसी महीने में प्रति वर्ष नहीं पड़ेगी। उदाहरणतः, यदि इस वर्ष बरसात सावन-भादों में थी और हम आज से बराबर बारह-बारह मासों का वर्ष मानते जायँ तो कुछ वर्षों के बाद बरसात कुआर-कार्तिक में पड़ेगी; कुछ अधिक वर्षों के बीतने पर बरसात अगहन-पूस में पड़ेगी। मुसलमानों की गणना-पद्धति आज भी यही है कि एक वर्ष में कुल १२ मास (चान्द्र मास) रक्खे जायँ। इसका परिणाम यही होता है कि बरसात उनके हिसाब से प्रति वर्ष एक ही महीने में नहीं पड़ती। उदाहरणतः, उनके एक महीने का नाम मुहर्रम है। उसी महीने में मुसलमानों का मुहर्रम नामक त्योहार पड़ता है। परन्तु यह त्योहार, जैसा सभी ने देखा होगा, बराबर एक ही ऋतु में नहीं पड़ता।

ऋग्वेद के समय में अधिमास

हिन्दुओं ने तेरहवाँ मास लगाकर मासों और ऋतुओं में अटूट सम्बन्ध जोड़ने की रीति ऋग्वेद के समय में ही निकाल ली थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है—

"जो व्रतावलम्बन करके अपने-अपने फलोत्पादक बारह महीनों को जानते हैं और उत्पन्न होनेवाले तेरहवें मास को भी जानते हैं, ..."।[1]

इससे प्रत्यक्ष है कि वे तेरहवाँ महीना बढ़ाकर वर्ष के भीतर ऋतुओं का हिसाब ठीक रखते थे।

नक्षत्र

लोगों ने धीरे-धीरे यह देखा होगा कि पूर्णिमा का चन्द्रमा जब कभी किसी विशेष तारे के निकट रहता है तो एक विशेष ऋतु रहती है। इस प्रकार तारों के बीच चन्द्रमा की गति पर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ होगा। तारों के हिसाब से चन्द्रमा एक चक्कर २७$\frac{1}{3}$ दिन में लगाता है। मोटे हिसाब से प्राचीन लोगों

[1] १।२५।८। रामगोविन्द त्रिवेदी और गौरीनाथ झा का अनुवाद।

ने इसे २७ ही दिन माना होगा। इसलिए चन्द्रमा के एक चक्कर को २७ भागों में बाँटना और उसके मार्ग में २७ चमकीले या सुगमता से पहचान में आनेवाले तारों या तारका-पुंजों को चुन लेना उनके लिए स्वाभाविक था। ठीक-ठीक बराबर दूरियों पर तारों का मिलना असम्भव था, क्योंकि चन्द्रमा के मार्ग में तारों का जड़ना मनुष्य का काम तो था नहीं। इसलिए आरम्भ में मोटे हिसाब से ही वेध द्वारा चन्द्रमा की गति का पता चल पाता रहा होगा, परन्तु गणित के विकास के साथ इसमें सुधार हुआ होगा और तब चन्द्र-मार्ग को ठीक-ठीक बराबर २७ भागों में बाँटा गया होगा। चन्द्रमा २७ के बदले लगभग २७⅓ दिन में एक चक्कर लगाता है, इसका भी परिणाम जोड़ लिया गया होगा।

चन्द्रमा के मार्ग के इन २७ बराबर भागों को ज्योतिष में नक्षत्र कहते हैं। साधारण भाषा में नक्षत्र का अर्थ केवल तारा है। इस शब्द से किसी भी तारे का बोध हो सकता है। आरम्भ में नक्षत्र तारे के लिए ही प्रयुक्त होता रहा होगा। परन्तु चन्द्रमा अमुक नक्षत्र के समीप है कहने की आवश्यकता बार-बार पड़ती रही होगी। समय पाकर चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध ऐसा घनिष्ठ हो गया होगा कि नक्षत्र कहने से ही चन्द्र-मार्ग के समीपवर्ती किसी तारे का ध्यान आता रहा होगा। पीछे जब चन्द्रमार्ग को २७ बराबर भागों में बाँटा गया तो स्वभावतः इन भागों के नाम भी समीपवर्ती तारों के अनुसार अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, आदि पड़ गये होंगे।

ऋग्वेद में कुछ नक्षत्रों के नाम आते हैं जिससे पता चलता है कि उस समय भी चन्द्रमा की गति पर ध्यान दिया जाता था[1]।

उदयकालिक सूर्य

कौषीतकी ब्राह्मण में इसका सूक्ष्म वर्णन है कि उदयकाल के समय सूर्य किस दिशा में रहता है। क्षितिज पर सूर्योदय-विन्दु स्थिर नहीं रहता, क्योंकि सूर्य का वार्षिक मार्ग तिरछा है और इसका आधा भाग आकाश के उत्तर भाग में पड़ता है, आधा दक्षिण में। कौषीतकी ब्राह्मण ने सूर्योदय-विन्दु की गति का सच्चा वर्णन दिया है कि किस प्रकार यह विन्दु दक्षिण की ओर जाता है, कुछ दिनों तक वहाँ स्थिर-सा जान पड़ता है और फिर उत्तर की ओर बढ़ता है[2]। यदि यज्ञ करनेवाला प्रति

[1] १०।८५।१३।

[2] १९।२।३।

दिन एक ही स्थान पर बैठकर यज्ञ करता था—और वह ऐसा करता भी रहा होगा—तो क्षितिज के किसी विशेष विन्दु पर सूर्य को उदय होते हुए देखने के पश्चात फिर एक वर्ष बीतने पर ही वह सूर्य को ठीक उसी स्थान पर (उसी ऋतु में) उदय होता हुआ देखता रहा होगा। वस्तुतः, क्षितिज के किसी एक विन्दु पर उदय होने से लेकर सूर्य के फिर उसी विन्दु पर वैसी ही ऋतु में उदय होने तक के काल में दिनों की संख्या गिनने से वर्ष का मान पर्याप्त अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है और सम्भव है कि इस रीति से भी उस समय वर्षमान निकाला गया हो। कम से कम इतना तो निश्चय है कि कौषीतकी ब्राह्मण के कर्त्ता ने सूर्योदय-विन्दु की गति को कई वर्षों तक अच्छी तरह देखा था।

तारों का उदय और अस्त होना

वर्षमान जानने की एक अन्य रीति भी थी। लोग सूर्य की उपासना करते थे। प्रातःकाल, सूर्योदय के पहले से ही, पूर्व दिशा की ओर ध्यान दिया करते थे। इस क्रिया में उन्होंने देखा होगा कि सूर्योदय के पहले जो तारे पूर्वीय क्षितिज के ऊपर दिखायी पड़ते हैं वे सदा एक ही नहीं रहते। उदाहरणतः, यदि मान लिया जाय कि आज प्रातःकाल मघा नामक तारा लगभग सूर्योदय के समय पूर्वीय क्षितिज से थोड़ी-सी ही ऊँचाई पर दिखायी पड़ रहा था तो यह निश्चित है कि आज से बीस-पच्चीस दिन बाद यह तारा सूर्योदय के समय क्षितिज से बहुत अधिक ऊँचाई पर रहेगा, और बीस-पच्चीस दिन पहले सूर्योदय के समय यह क्षितिज से नीचे और इसलिए अदृश्य था। अवश्य कोई दिन ऐसा रहा होगा जिस दिन यह तारा पहले-पहल लगभग सूर्योदय के समय, या तनिक-सा पहिले, दिखायी पड़ा होगा। वह तारा उस दिन 'उदय' हुआ, ऐसा माना जाता था। लोगों ने देखा होगा कि विशेष तारों का उदय विशेष ऋतुओं में होता है। तुलसीदास ने जो लिखा है "उदेउ अगस्त्य पंथ जल सोखा" उसमें उदय होने का अर्थ यही है कि अगस्त्य पहले प्रातःकाल नहीं दिखायी पड़ रहा था; जब वह सूर्योदय के पहले दिखायी पड़ने लगा तो बरसात बीत गयी थी।

विशेष तारों के उदय होने के समयों को बार-बार देखकर और इस पर ध्यान रखकर कि कितने-कितने दिनों पर एक ही तारा उदय होता है लोगों ने वर्ष का स्थूल मान अवश्य जान लिया होगा। एक बरसात से दूसरी बरसात तक के दिनों को गिनने की अपेक्षा तारों के एक उदय से दूसरे उदय तक या सूर्योदय-विन्दु के क्षितिज के किसी विशेष चिह्न पर फिर आ जाने तक के काल में दिनों के गिनने से वर्ष का अधिक सच्चा ज्ञान हुआ होगा, परन्तु इसमें भी स्थूलता तब तक न मिटी होगी जब तक कई वर्षों तक दिनों की गिनती लगातार न की गयी होगी।

तारों का उदय प्राचीन काल में भी देखा जाता था यह तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक स्थान से स्पष्ट है ।[१]

पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रत्यक्ष है कि ऋग्वैदिक काल में ज्योतिष की सच्ची नींव पड़ गयी थी ।

इस अध्याय में हमने प्राचीन ज्योतिष पर विहंगम दृष्टि डाल ली है । आगामी अध्याय में प्राचीन साहित्य में आयी हुई ज्योतिष संबंधी चर्चा पर ब्योरेवार विचार किया जायगा ।

[१] १।५।२।१, लोकमान्य तिलक न अपनी पुस्तक ओरायन में पृष्ठ १८ पर इसकी व्याख्या की है ।

अध्याय २

प्राचीनतम ज्योतिष

विषय-प्रवेश

ऋग्वेद तथा अन्य प्राचीनतम ग्रंथों में ज्योतिष से संबंध रखने वाली कई बातें हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपनी मराठी पुस्तक "भारतीय ज्योतिषशास्त्र" में अनेक उद्धरण दिये हैं और उन पर पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। यहाँ थोड़े-से चुने हुए उद्धरण दिये जायँगे, जिनसे पता चल जायगा कि हमारे प्राचीन ऋषियों को ज्योतिष का ज्ञान कैसा था। परंतु इन उल्लेखों पर विचार करने के पहले यह समझ लेना भी अच्छा होगा कि हमारे प्राचीनतम साहित्य में क्या-क्या ग्रंथ उपलब्ध हैं।

हमारा प्राचीनतम साहित्य

हमारे प्राचीनतम ग्रंथों में वेद हैं। वेद का साधारण अर्थ ज्ञान है, परंतु विशेष अर्थ है भारतीय आर्यों के सर्वप्रथम और सर्वमान्य धार्मिक ग्रंथ। इनकी संख्या चार है। हिन्दी शब्द-सागर में इनके संबंध में निम्न सूचना दी हुई है :

> आरंभ में वेद केवल तीन ही थे—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। इनमें से ऋग्वेद पद्य में है और यजुर्वेद गद्य में। सामवेद में गाने योग्य गीत या साम हैं। इसलिए प्राचीन साहित्य में "वेदत्रयी" शब्द का ही अधिक प्रयोग देखने में आता है; यहाँ तक कि मनु ने भी अपने धर्मशास्त्र में अनेक स्थानों पर "वेदत्रयी" शब्द का ही व्यवहार किया है। चौथा अथर्ववेद पीछे से वेदों में सम्मिलित हुआ था, और तब से वेद चार माने जाने लगे। इस चौथे या अंतिम वेद में शांति तथा पौष्टिक अभिचार, प्रायश्चित्त, तंत्र, मंत्र आदि विषय हैं। वेदों के तीन मुख्य भाग हैं जो संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक या उपनिषद कहलाते हैं। संहिता शब्द का अर्थ संग्रह है; और वेदों के संहिता भाग में स्तोत्र, प्रार्थना, मंत्र-प्रयोग, आशीर्वादात्मक सूक्त, यज्ञ-

विधि से संबंध रखनेवाले मंत्र और अरिष्ट आदि की शांति के लिए प्रार्थनाएँ आदि सम्मिलित हैं। वेदों का यही अंश मंत्र-भाग भी कहलाता है। ब्राह्मण-भाग में एक प्रकार से बड़े-बड़े गद्य ग्रंथ आते हैं जिनमें अनेक देवताओं की कथाएँ, यज्ञ-संबंधी विचार और भिन्न-भिन्न ऋतुओं में होनेवाले धार्मिक कृत्यों के व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक महत्व का निरूपण है। ··· वनों में रहने वाले यति, सन्यासी आदि परमेश्वर, जगत और मनुष्य इन तीनों के संबंध में जो विचार किया करते थे, वे उपनिषदों और आरण्यकों में संगृहीत हैं। इन्हीं में भारत का प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा हुआ है। यह सब मानो वेदों का अंतिम भाग है, और इसीलिए वेदांत कहलाता है। वेदों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से और विस्तृत प्रदेश में रहा है; इसलिए काल-भेद, देश-भेद और व्यक्ति-भेद आदि के कारण वेदों के मंत्रों के उच्चारण आदि में अनेक पाठ-भेद हो गये हैं। साथ ही पाठ में कहीं-कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो गयी है। इस पाठ-भेद के कारण संहिताओं को जो रूप प्राप्त हुए हैं वे शाखा कहलाते हैं, और इस प्रकार प्रत्येक वेद की कई-कई शाखाएँ हो गयी हैं। ··· शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद ये छः वेदों के अंग या वेदांग कहलाते हैं। ···

हिन्दू लोग वेदों को अपौरुषेय और ईश्वर-कृत मानते हैं। लोगों का विश्वास है कि ब्रह्मा ने ··· (स्वयं) वेद कहे हैं, और जिन-जिन ऋषियों ने जो मंत्र सुनकर संगृहीत किये हैं वे उन मंत्रों के द्रष्टा हैं। ··· कहा जाता है कि वेदों का वर्तमान रूप में संग्रह और संकलन महर्षि व्यास ने किया है, और इसीलिए वे वेदव्यास कहे जाते हैं। ···

वेदों के रचना-काल के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। मैक्समूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेदों की रचना ईसा से प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पहले उस समय हुई जिस समय आर्य लोग आकर पंजाब में बसे थे। परंतु लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष-संबंधी तथा अन्य कई आधारों पर वेदों का समय ईसा से लगभग ४,५०० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। बूलर आदि विद्वानों का मत है कि आर्य सभ्यता ईसा से प्रायः चार हजार वर्ष पहले की है और वैदिक साहित्य की रचना ईसा से प्रायः तीन हजार वर्ष पहले हुई है; और अधिकांश लोग यही मत मानते हैं।

वेद 'श्रुति' कहलाते हैं क्योंकि ऋषियों ने उन्हें ब्रह्मा के मुख से सुना था। 'स्मृति' ऐसी कृति को कहते हैं जो किसी पुरुष की रचना होती है। स्मृति

का अर्थ है वह जो स्मरण रह गया हो। श्रुति का अर्थ है वह जो सुना गया हो। स्मृतियों के कर्त्ता, कर्त्तार या स्रष्टार होते हैं, जिन्हें हम आज-कल की भाषा में ग्रंथकार या लेखक कहेंगे। श्रुतियों के कर्त्ता नहीं, द्रष्टा या द्रष्टार होते थे जो अपनी दिव्य दृष्टि से सत्य को देख सकते थे।

ब्राह्मण आदि

ऋग्वेद में एक हजार से अधिक सूक्त हैं और एक सूक्त में मध्यमानतः (औसतन) लगभग १० ऋचाएँ (छंद) है। सारे वेद को दस मंडलों में बाँटा गया है और हमने जहाँ-जहाँ ऋग्वेद की किसी पंक्ति का निर्देश किया है वहाँ प्रथम संख्या मंडल बताती है, दूसरी सूक्त, तीसरी मंत्र या ऋचा। ऋग्वेद के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय के आर्य अधिकांश पंजाब में बसे थे जहाँ सिंधु नदी तथा उसकी सहायक नदियाँ बहती थीं। परंतु वे गंगा, यमुना और गोमती तक एक ओर और कुभा (काबुल) तक दूसरी ओर फैले हुए थे। पशु-पालन (विशेषतः गो-पालन) और कृषि ये ही दो उनके प्रमुख काम थे।

ऋग्वेद के कई 'ब्राह्मण'[1] थे जिनमें से दो ही—ऐतरेय और कौषीतकी—अब उपलब्ध हैं। दोनों में बहुत-सी बातें एक ही हैं, परंतु प्रत्येक में कई ऐसी बातें हैं जो दूसरे में नहीं हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के साथ ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय उपनिषद भी हैं, इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मण के साथ कौषीतकी आरण्यक और कौषीतकी उपनिषद हैं। ताण्डय ब्राह्मण सामवेद का ब्राह्मण है।

सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ (लगभग १६००) ऋग्वेद से ली गयी हैं और उनके गान दिये गये हैं।

यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद, जिनमें से कृष्ण यजुर्वेद अधिक प्राचीन है। यजुर्वेद के ऋषि थे वैशम्पायन, जिनके शिष्य के शिष्य थे तित्रि, और इन्हीं के नाम से यजुर्वेद की एक शाखा तैत्तिरीय-संहिता है। परंतु इस संहिता में केवल ऋचाएँ नहीं हैं। वे सब विषय भी हैं जिन्हें साधारणतः ब्राह्मणों में जाना चाहिए। परंतु तैत्तिरीय ब्राह्मण भी है जो संभवतः कुछ काल बीतने पर तैयार हुआ। ऋचाओं और ब्राह्मण में जाने योग्य विषयों का सम्मिश्रण यजुर्वेद

[1] वेद के उस खंड को "ब्राह्मण" कहते हैं जो बताता है कि किस यज्ञ में कौन-से सूक्त का पाठ होना चाहिए, और जो ऋचाओं का अर्थ देता है और उन्हें स्पष्ट करने के लिए कथाएँ देता है।

की अन्य शाखाओं में भी था—काठक, कालापक और मैत्रायणी-संहिता में, परंतु इस दोष को याज्ञवल्क्य वाजसनेय ने दूर किया। उनके द्वारा प्रसारित संहिता वाजसनेयी-संहिता कहलायी। इसके साथ जो ब्राह्मण था उसका नाम शतपथ ब्राह्मण पड़ा। अधिक स्पष्ट होने के कारण वाजसनेयिओं ने अपनी संहिता को शुक्ल यजुर्वेद कहा और पहले वाली संहिताओं को कृष्ण कहा।

शतपथ ब्राह्मण में ज्योतिष-संबंधी कई एक सूचनाएँ हैं, परंतु वर्तमान शतपथ ब्राह्मण का सब अंग एक साथ नहीं बना है। प्राचीन वैयाकरण पाणिनि के वार्तिककार कात्यायन के अनुसार शतपथ के पिछले अंश पाणिनि के काल में या कुछ ही पहले तैयार हुए थे। समय पाकर तैत्तिरीय लोग नर्मदा की ओर बढ़े और वाजसनेयी लोग विदेह की ओर।

अथर्ववेद में अन्य वेदों की भांति स्तोत्रों के अतिरिक्त शत्रु को नाश करने के भी मंत्र हैं; दुर्घटना, पाप, विपत्ति आदि से बचने के लिए भी मंत्र हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आदिम निवासियों के संपर्क का यह परिणाम है। अथर्ववेद के ब्राह्मण का नाम गोपथ ब्राह्मण है। अथर्ववेद से संबंध रखने वाले उपनिषद कई एक है—प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, इत्यादि।

वैदिक साहित्य में वर्ष, मास और अधिमास

तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र, संवत्सर, ऋतु, मास, अर्धमास, अहोरात्र, पौर्णमास, आदि शब्द एक साथ ही आये हैं। पाठ इस प्रकार है :—

लोकोसि स्वर्गोसि ॥ अनंतोस्यपारोसि ॥ अक्षितोस्यक्षय्योसि ॥ तपसः प्रतिष्ठा ॥ त्वयीदमंतः ॥ विश्वं यक्षं विश्वं भूतं विश्वं सुभतं ॥ विश्वस्य भर्ता विश्वस्य जनयिता ॥ तंत्वोपदधे कामदुघमक्षितं ॥ प्रजापतिस्त्वासादयतु ॥ तया देवतयांगिरस्वध्रुवासीद ॥ ॥ तपोसि लोके श्रितं ॥ तेजसः प्रतिष्ठा ॥ त्वयीद० ...॥ तेजोसि तपसि श्रितं ॥ समुद्रस्य प्रतिष्ठा ... ॥ समुद्रोसि तेजसि श्रितः ॥ अपां प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ आपःस्थ समुद्रे श्रिताः ॥ पृथिव्याः प्रतिष्ठा युष्मासु ॥ ... ॥ पृथिव्यस्यप्सुश्रिता ॥ अग्नेः प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ अग्निरसि पृथिव्यां श्रितः ॥ अंतरिक्षस्य प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ अंतरिक्षमस्यग्नौ श्रितं ॥ वायोः प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ वायुरस्यंतरिक्षे श्रितः ॥ दिवः प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ द्यौरसि वायौ श्रिता ॥ आदित्यस्य प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ आदित्योसि दिवि श्रितः ॥ चंद्रमसः प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ चंद्रमा

अस्यादित्ये श्रितः ॥ नक्षत्राणां प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ नक्षत्राणि स्थ चंद्रमसि श्रितानि ॥ संवत्सरस्य प्रतिष्ठा युष्मासु ॥ ... ॥ संवत्सरोसि नक्षत्रेषु श्रितः ॥ ऋतूनां प्रतिष्ठा ॥ ... ॥ ऋतवः स्थ संवत्सरे श्रिताः ॥ मासानां प्रतिष्ठा युष्मासु ॥ ... ॥ मासाः स्थर्तुषु श्रिताः ॥ अर्धमासानां प्रतिष्ठा युष्मासु ॥ . . ॥ अर्धमासाः स्थ माःसु श्रिताः ॥ अहोरात्रयोः प्रतिष्ठा युष्मासु ॥ ... ॥ अहोरात्रे स्थोर्धमासेषु श्रिते ॥ भूतस्य प्रतिष्ठे भव्यस्य प्रतिष्ठे ॥ पौर्णमास्यष्टकामावास्या ॥ अन्नादाः स्थानदुघो युष्मासु ॥ राडसि बृहती श्रीरसींद्रपत्नी धर्मपत्नी ॥ ओजोसि सहोसि बलमसि भ्राजोसि ॥ देवानां धामामृतं ॥ अमर्त्यस्तपोजाः ॥ ... ॥

तै. ब्रा. ३. ११. १.

अर्थ—तू लोक है। तू स्वर्ग है। तू अनन्त है। तू अपार है। तेरा कभी नाश नहीं हुआ है। तू अविनाशी है। तू तप की प्रतिष्ठा (ठहरने की भूमि) है। तुझमें यह सब है। विश्व यक्ष है, विश्व भूत है, विश्व सुभूत है विश्व का धारण करने वाला। विश्व का उत्पन्न करने वाला। उस तुमको स्थापित करता हूँ। कामधेनु (कामनाओं के पूरक) और अनष्ट की। प्रजापति तुझको ठीक रक्खे। उस देवता के द्वारा अंगिराओं में विराजमान हो। तू तप है लोक में ठहरा हुआ। तेज की प्रतिष्ठा है। तुझमें यह अन्त है। तू तेज है तप में ठहरा हुआ। समुद्र की प्रतिष्ठा है। ...। तू समुद्र है तेज में ठहरा हुआ, जलों की प्रतिष्ठा है। ...। तुम जल हो समुद्र में ठहरे हुए। तुममें पृथ्वी की प्रतिष्ठा है। ...। तू पृथ्वी है जलों में ठहरी हुई। अग्नि की प्रतिष्ठा है। ...। तू अग्नि है पृथ्वी में ठहरी हुई। अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा है। ...। तू अन्तरिक्ष है अग्नि में ठहरी हुई। वायु की प्रतिष्ठा है। ...। तू वायु है अंतरिक्ष में ठहरी हुई। द्यौलोक की प्रतिष्ठा है। ...। तू द्यौः है वायु में ठहरी हुई। आदित्य की प्रतिष्ठा है। ...। तू आदित्य है द्यौ (आकाश) में ठहरा हुआ। चंद्रमा की प्रतिष्ठा है। ...। तू चंद्रमा है आदित्य (=सूर्य) में ठहरा हुआ। नक्षत्रों की प्रतिष्ठा है। ...। तुम नक्षत्र हो चंद्रमा में ठहरे हुए। तुम में संवत्सर की प्रतिष्ठा है। ...। तू संवत्सर है नक्षत्रों में ठहरा हुआ। तू ऋतुओं की प्रतिष्ठा है। ...। तुम ऋतु हो संवत्सर में ठहरे हुए। महीनों की प्रतिष्ठा तुम में है। ...। तुम महीने हो ऋतुओं में ठहरे हुए। तुम में आधे-महीनों की प्रतिष्ठा है। ...। तुम अर्धमास हो मासों में ठहरे हुए। अहोरात्र (रातदिन) की प्रतिष्ठा तुम में है। ...। तुम अहोरात्र हो अर्द्धमासों में ठहरे हुए। तुम भूत की भी

प्रतिष्ठा हो और भव्य (वर्तमान) की भी। पूर्णमासी, अष्टमी, अमावस्या। अन्न को पचाने (खाने) वाली, कामनाओं को दुहने वाली, तुममें। तू राट है, बृहती है, श्री है, इन्द्रपत्नी है, धर्मपत्नी है। ओज है, सह है, बल है, भ्राज है। देवों का धाम है, अमृत है। अमर्त्य (नाशरहित) है। तप से उत्पन्न हुई है।

इससे स्पष्ट है कि उस समय संवत्सर, मास आदि की प्रथा अच्छी तरह चालू थी। नक्षत्रों का भी वेध हुआ करता था।

एक ही सूर्य

यह भी कि सूर्य से ऋतुएँ होती हैं लोग जानते थे। ऋक् संहिता में यह है :

पूर्वामनु प्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु ॥

ऋ. सं. १. ९५. ३.

अर्थ—(सूर्य ने) पृथ्वी के प्राणियों के लिए ऋतुओं का विभाग करके अच्छे प्रकार से पूर्व दिशा को बनाया।

ऋक् संहिता की निम्न ऋचा से स्पष्ट है कि उस समय यह ज्ञात था कि विश्व में एक ही सूर्य है; पता नहीं कैसे पीछे जैनियों का यह मत हो गया कि दो सूर्य हैं:—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ॥
एकैवोषा सर्वमिदं विभाति ... ॥

ऋ. सं. ८. ५८. २.

एक ही अग्नि अनेक प्रकार से प्रदीप्त होती है। एक ही सूर्य विश्व भर में प्रभाव डालता है। एक ही उषा इस समस्त (जगत) को प्रकाशित करती है।

फिर एक ही सूर्य के उदय-अस्त से दिन-रात होने का भी उल्लेख है :

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे ॥
प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥

ऋ. सं. ४. ५३. ३.

अर्थ—सविता (सूर्य) देव तेज द्वारा द्यौलोक (आकाश) और पृथ्वी लोक को परिपूरित करते हैं, एवं अपने कार्य को प्रशंसित करते हैं। वे प्रति दिन जगत का अपने-अपने कार्य में स्थापन करते हैं और प्रेरित करते है। वे सृजन कार्य के लिए दोनों बाहुओं (किरणों) को फैलाते हैं।

महीने

अधिमास के संबंध में ऋक् संहिता की निम्न ऋचा ध्यान देने योग्य है :

वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः ॥ वेदा य उपजायते ॥

ऋ. सं. १. २५. ८.

इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है (पृष्ठ ६)।

तैत्तिरीय संहिता में ऋतुओं और मासों के नाम बताये गये हैं :

मधुश्च माधवश्च वासंतिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारदावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमंतिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू ॥

त. सं. ४. ४. ११.

अर्थ—वसन्त ऋतु के दो महीने हैं, मधु और माधव; ग्रीष्म ऋतु के दो महीने हैं, शुक्र और शुचि; वर्षा के दो महीने हैं, नभ और नभस्य; शरद के दो महीने हैं, इष और ऊर्ज; हेमन्त के दो महीने हैं, सह और सहस्य; शिशिर के दो महीने हैं, तपस और तपस्य।

वाजसनेयी संहिता में पूर्वोक्त १२ महीनों के नामों के अतिरिक्त तेरहवें महीने की भी चर्चा है। जान पड़ता है कि लौंद के तेरहवें महीने को तब लोग अंहसस्पति कहते थे—

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा
नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा
सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा
तपस्याय स्वाहांहसस्पतये स्वाहा ॥

वा. सं. २२. ३१.

अर्थ—मधु के लिए स्वाहा, माधव के लिए स्वाहा, शुक्र के लिए स्वाहा, शुचि के लिए स्वाहा, नभ के लिए स्वाहा, नभस्य के लिए स्वाहा, इष के लिए स्वाहा, ऊर्ज के लिए स्वाहा, सह के लिए स्वाहा, सहस्य के लिए स्वाहा, तपस के लिए स्वाहा, तपस्य के लिए स्वाहा, अंहसस्पति (पाप के पति या मलमास) के लिए स्वाहा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी तेरह महीनों के नाम हैं :

अरुणोरुणरजाः पंडरीको विश्वजिदभिजित् ॥
आर्द्रः पिन्वमानोऽन्नवान् रसवानिरावान् ॥
सर्वौषधः संभरो महस्वान् ॥

तै. ब्रा. ३. १०. १.

अर्थ—महीनों के १३ नाम ये हैं :—

(१) अरुण, (२) अरुणरज, (३) पुंडरीक, (४) विश्वजित्, (५) अभिजित्, (६) आर्द्र, (७) पिन्वमान, (८) उन्नवान्, (९) रसवान्, (१०) इरावान्, (११) सर्वौषध, (१२) संभर, (१३) महस्वान् ॥

वर्ष में ३६० दिन होने का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में निम्न प्रकार से है :

त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रयः ॥

ऐ. ब्रा. ७. १७.

अर्थ—तीन सौ साठ दिन का वर्ष होता है; वर्ष में सात सौ बीस दिन और रात होते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी तेरहवें मास की चर्चा है :—

द्वादशारत्नी रशना कर्तव्या ३ त्रयोदशारत्नी३रिति ॥ ऋषभो वा एष ऋतूनां ॥ यत्संवत्सरः ॥ तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपं ॥ ऋषभ एष यज्ञानां ॥ यदश्वमेधः ॥ यथा वा ऋषभस्य विष्टपं ॥ एवमतस्य विष्टपं ॥

तै. ब्रा ३. ८. ३.

अर्थ—रस्सी को १२ हाथ की करे या १३ हाथ की ? संवत्सर जो है वह ऋतुओं का ऋषभ (साँड़, स्वामी) है। तेरहवाँ महीना उसका विष्टप (=पूँछ) है। अश्वमेध जो है वह यज्ञों का ऋषभ है। जैसे ऋषभ का पुच्छ होता है उसी तरह यह अश्वमेध का पुच्छ है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में वर्ष में दिनों की संख्या ठीक रखने के संबंध में निम्न अति रोचक वाक्य है :

यथा वै दृतिराध्मात एवं संवत्सरोनुत्सृष्टः ॥

तां. ब्रा. ५. १०. २.

अर्थ—(यदि एक दिन न छोड़ दिया जायगा तो) वर्ष वैसे ही फूल जायगा जैसे चमड़े की मशक।

उत्तरायण और दक्षिणायन

अयन का अर्थ है चलना। ज्योतिष में वर्ष को दो बराबर भागों में विभाजित किया जाता है, जिनमें से एक को उत्तरायण और दूसरे को दक्षिणायन कहते हैं। जब क्षितिज पर का सूर्योदय-विन्दु दिनों-दिन उत्तर हटता रहता है तो उत्तरायण रहता है, अर्थात सूर्य उत्तर जाता रहता है। इसी प्रकार सूर्योदय-विन्दु को देखकर पता लगाया जा सकता है कि कब से कब तक दक्षिणायन है। परंतु कभी-कभी उत्तरायण उस काल को मानते थे जिसमें सूर्योदय विंदु पूर्व विंदु से उत्तर रहता था और दक्षिणायन उसको जिसमें सूर्योदय पूर्व से दक्षिण हुआ करता था। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण यह लिखता है :

वसंतो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः। शरद्धेमंतः शिशिरस्ते पितरो ..स (सूर्यः) यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति...यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति ॥

शत. ब्रा. २. १. ३.

अर्थ—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा ये देव-ऋतु में हैं। शरद, हेमंत और शिशिर ये पितर-ऋतु में हैं। जब उत्तर की ओर सूर्य रहता है तो ऋतुएँ देवों में गिनी जाती हैं। जब दक्षिण की ओर रहता है तो पितरों में।

इससे जान पड़ता है कि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उत्तरायण तब होता था जब सूर्योदय पूर्व-विन्दु से उत्तर की ओर हट कर होता था।

तैत्तिरीय में केवल इतना ही है कि ६ महीने तक सूर्य उत्तर जाता रहता है और ६ महीने तक दक्षिण :—

तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण॥

तै. सं. ६. ५. ३.

अर्थ—इसलिए आदित्य (सूर्य) छः मास दक्षिणायन रहता है और छः मास उत्तरायण।

अध्याय ३

मासों के नये नाम

नाम बदलने का कारण

महीनों के नाम तैत्तिरीय संहिता में मधु, माधव, आदि थे। इसका प्रमाण पहले दिया जा चुका है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि महीनों के मधु, माधव, आदि, नामों का प्रचार धीरे-धीरे मिट गया और उनके बदले उनके नये नाम प्रचलित हो गये, जो तारों (नक्षत्रों) के नाम पर पड़े थे। उदाहरणतः, चैत्र (जिसे हिन्दी में चैत कहते हैं) चित्रा नामक तारे पर पड़ा, जो रविमार्ग के समीप एक बहुत चमकीला तारा है। वस्तुतः, सभी नाम इसी प्रकार पड़े। नाम बदलने का कारण भी स्पष्ट है। मधु नाम का मास कौन-सा है, यह कैसे कोई बता सकता था? केवल गणना से। वह जोड़ता कि मधु नामक मास के बाद ग्यारह महीने और बीत गये हैं; इसलिए अब फिर मधु का महीना होना चाहिए। परंतु यदि वह इसी तरह कई वर्षों तक लगातार प्रत्येक बारहवें महीने को मधु कहता चलता तो अवश्य ही ऋतुओं और महीनों में कोई संबंध न रहता, ठीक उसी प्रकार जैसे मुसलिम महीनों और ऋतुओं में कोई संबंध नहीं रहता। एक मुसलिम महीने का नाम मुहर्रम है और मुहर्रम का त्योहार उसी महीने में पड़ता है। सभी ने देखा होगा कि यह त्योहार कभी गरमी में पड़ता है, कभी जाड़े में, और कभी बरसात में। ऋतु के हिसाब से त्योहार पहले ही पड़ जाता है। इसका कारण यह है कि पहले-जैसा ऋतु एक वर्ष में, अर्थात लगभग ३६५¼ दिन में, आता है; परंतु बारह चांद्र मास लगभग ३५४ दिनों में ही पूरे हो जाते हैं। यदि वर्ष में सदा बारह ही चांद्र मास रक्खे जायँ तो वर्ष का अंत पुरानी ऋतु आने के लगभग ११ दिन पहले ही हो जायगा, जैसा मुसलिम वर्षों में होता है। परंतु हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि महीनों और ऋतुओं में संबंध न रहे। उन्होंने समुचित उपाय ढूँढ़ ही निकाला। उन्होंने देखा कि पूर्णिमा के समय तारों के बीच चंद्रमा की स्थिति और ऋतु में प्रत्यक्ष

संबंध है। इसलिए उन्होंने तारों के हिसाब से महीना बताना आरंभ किया और कुछ काल बीतने पर महीनों के नाम भी तारों के अनुसार पड़ गये। तैत्तिरीय संहिता के निम्न वाक्य से स्पष्ट है कि उस समय मास-निर्धारण के लिए तारों का वेध (अर्थात देखना) आरंभ हो गया था :—

न पूर्वयोःफल्गुन्योरग्निमादधीत ॥ एषा वै जघन्या रात्रिः संवत्सरस्य ॥ यत् पूर्वेफल्गुनी ॥ पृष्टित एव संवत्सरस्याग्निमाधाय ॥ पापीयान् भवति ॥ उत्तरयोरादधीत ॥ एषा वै प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य ॥ यदुत्तरेफल्गुनी ॥ मुखत एव संवत्सरस्याग्निमाधाय ॥ वसीयान् भवति ॥

तै. ब्रा. १. १. २. ८.

अर्थ—पूर्वफल्गुनियों में अग्नि की स्थापना न करे। यह वस्तुतः संवत्सर की जघन्य (बुरी) रात है, जिसको पूर्वफल्गुनी कहते हैं। संवत्सर की पीठ की ओर अग्नि की स्थापना करने से पापी होता है। उत्तराफल्गुनी में अग्नि की स्थापना करे। यह संवत्सर की पहली (मुख्य) रात्रि है जिसे उत्तराफल्गुनी कहते हैं। जो संवत्सर के मुख की ओर अग्नि की स्थापना करता है वह श्रेष्ठ होता है।

इसमें पूर्णिमा शब्द नहीं आया है, परंतु निस्संदेह अर्थ यही है कि जब उत्तरा फाल्गुनी तारे के पास पूर्ण चन्द्र रहे तो समझना चाहिए कि वर्ष का आरंभ हुआ और तब (यज्ञ के लिए) अग्नि जलानी चाहिए। अन्यथा, प्रत्येक मास में चंद्रमा कभी-न-कभी तो उत्तरा फाल्गुनी के पास पहुँचता ही है।

नामकरण के नियम

आरंभ में नक्षत्र केवल चमकीले तारे या सुगमता से पहचाने जाने वाले छोटे तारका-पुंज थे। परंतु आकाश में बराबर-बराबर दूरी पर तारे या तारका-पुंजों के न रहने से असुविधा होती रही होगी। पीछे तो चंद्रमार्ग (वस्तुतः रविमार्ग) को ठीक बराबर २७ खंडों में विभाजित किया गया और प्रत्येक को एक नक्षत्र कहा गया, जिससे नक्षत्र का पुराना अर्थ ही बदल गया। ऊपर दिये गये तैत्तिरीय ब्राह्मण के उद्धरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि उस समय पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी आदि से तारे समझे जाते थे या रविमार्ग के सत्ताइसवें भाग। चाहे कुछ भी अभिप्राय रहा हो, इतना स्पष्ट है कि यज्ञादि धार्मिक कर्मों के लिए मधु, माधव, आदि में से कोई एक नाम बताने के बदले ग्रंथकार ने पूर्वा फाल्गुनी आदि का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा। यहाँ हम उस प्रथा को देख रहे हैं जिससे पीछे मासों के नवीन नामों का जन्म हुआ। यह कदापि न समझना चाहिए कि तैत्तिरीय संहिता या ब्राह्मण के

समय में मासों के नाम फाल्गुन, चैत्र आदि पड़ गये थे। इन ग्रंथों में, और सम-कालीन अन्य ग्रंथों में फाल्गुन, चैत्र आदि शब्द कहीं आये ही नहीं हैं। ये नाम तो बहुत काल पीछे के साहित्य में आते हैं। तब महीनों के नामकरण के लिए निम्न नियम था :—

पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा ।
नाम्ना स पौषो माघाद्याश्चैवमेकादशा परे ॥
अमरकोष, कालवर्ग १४

अर्थ—उस मास को जिसमें पूर्णिमा पुष्य नक्षत्र में होती है पौष नाम दिया जाता है (और किसी मास को नहीं); इसी प्रकार शेष ग्यारह महीनों के, अर्थात माघ इत्यादि के, नाम भी पड़ते हैं।

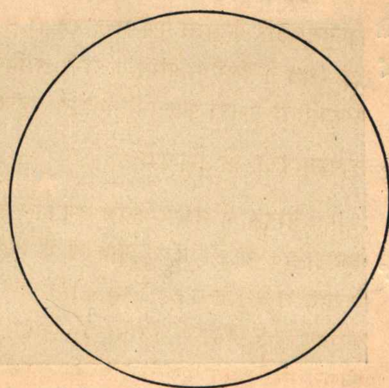
सूर्य-सिद्धान्त में निम्न नियम है :

नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्वान्तियोगतः ।

अर्थ—पूर्णिमा के अंत में चंद्रमा जिस नक्षत्र में रहता है उसी के नाम पर मासों के नाम पड़े हैं।

चंद्रमा की जटिल गति

यह भी देख लेना उचित होगा कि प्राचीन ऋषियों को चंद्रमा की जटिल गति के कारण क्या-क्या कठिनाइयाँ पड़ी होंगी। पहली कठिनाई तो यह पड़ी होगी कि पूर्णिमा के अवसर पर मंद तारे सभी छिप जाते हैं। इसलिए ठीक पता नहीं चलता रहा होगा कि तारों के बीच चंद्रमा कहाँ है। यह अवश्य सत्य है कि चमकीले तारे पूर्णिमा पर भी दिखायी पड़ते रहते हैं। उन्हीं से अनुमान करना पड़ता रहा होगा कि पूर्णिमा के अवसर पर चंद्रमा तारों के सापेक्ष कहाँ पर है।



चतुर्दशी का चंद्रमा।

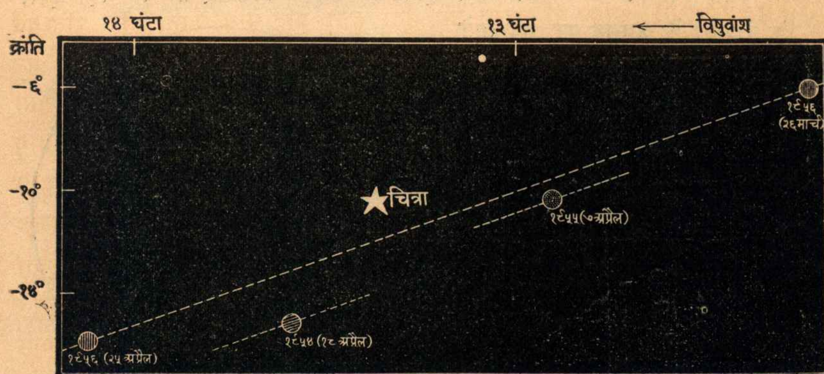
चतुर्दशी का चंद्रमा वृत्ताकार ही जान पड़ता है; यह चित्र पैमाने के अनुसार सावधानी से खींचा गया है।

दूसरी कठिनाई इससे हुई होगी कि ठीक पता नहीं चलता कि पूर्णिमा कब हुई। पूर्णिमा के २४ घंटे पूर्व या २४ घंटे पश्चात भी चंद्रमा का

आकार, जैसा बगल के चित्र में दिखाया गया है, गोल (वृत्ताकार) ही जान पड़ता है।

परंतु एक दिन में चंद्रमा आकाश में लगभग १३° (अर्थात अपने व्यास का लगभग २६ गुना) चल लेता है। इसलिए ठीक पता नहीं लगता कि किस तारे के पास रहने पर पूर्णिमा हुई। कोई विशेष पूर्णिमा पूर्वा फाल्गुनी के पास हुई या उत्तरा फाल्गुनी के पास इसे ठीक-ठीक निर्णय कर सकने की शक्ति निस्संदेह सैकड़ों वर्षों में आयी होगी।

फिर, इससे भी कठिनाई पड़ी होगी कि १२ चांद्र मास बीतने पर जब फिर पूर्णिमा होती है तो चंद्रमा अपने पुराने स्थान पर नहीं रहता। कारण यह है कि ३६५¼ दिन के वर्ष में और २९½ दिन के चांद्र मास में सरल संबंध नहीं है : एक वर्ष में पूरे-पूरे महीने नहीं हैं। इसलिए यदि गत वर्ष चैत में पूर्णिमा तब हुई थी जब चंद्रमा चित्रा नामक तारे के बहुत निकट था तो इस वर्ष चित्रा तक पहुँचने से लगभग ११° पहले ही (अर्थात चंद्रमा के व्यास के लगभग बाईस गुनी दूरी रहने पर) पूर्णिमा होगी। इसी प्रकार प्रति वर्ष पूर्णिमा के क्षण पर चंद्रमा का स्थान ११° पिछड़ता चला जाता है और तब जब बीच में कभी एक अधिमास लग जाता है यह स्थान एकाएक लगभग ३०° आगे बढ़ जाता है (चित्र देखें)। स्थिति वैसी ही है जैसे आप



चैत्र में पूर्णिमा

विविध वर्षों के एक ही मास में भी पूर्णिमा पर चंद्रमा एक स्थिति में नहीं रहता है। यहाँ तीन वर्षों में चित्रा नामक तारा के पास होने वाली पूर्णिमाओं पर चंद्रमा की स्थितियाँ दिखायी गयी हैं।

की घड़ी प्रति दिन ११ मिनट सुस्त जाती हो और जब आप उसे मिलायें तो एकदम तीस मिनट तेज कर दें। घड़ी के सुस्त जाने का पता तो एक-आध दिन में ही लग जाता है, परंतु चंद्रमा की स्थिति में अंतर जानने के लिए वर्ष भर तक ठहरना पड़ता है और स्मरण रखना पड़ता है कि पिछले वर्ष पूर्णिमा पर चंद्रमा कहाँ था; ऊपर से कठिनाई यह भी रहती है कि ठीक पता नहीं चलता कि पूर्णिमा इस क्षण हुई, या कई घंटे पहले हुई जब दिन था और तारे दिखायी न पड़ते थे, या कई घंटे पीछे होगी, जब सूर्योदय हो जायगा और तारे दिखायी न पड़ेंगे।

चन्द्रमार्ग स्थिर नहीं है

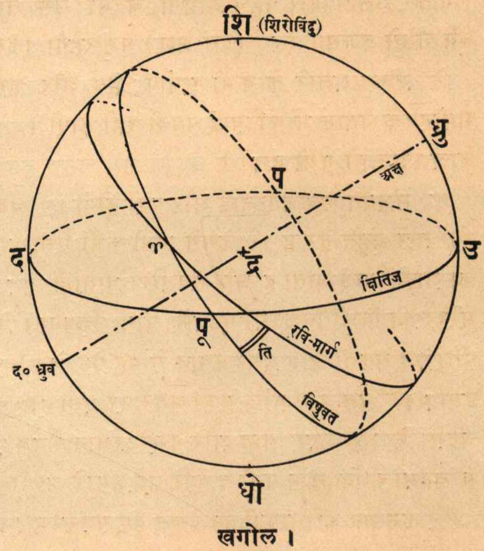
केवल पूर्वोक्त ही कठिनाई होती तो भी कुशल होता। परंतु एक दूसरे प्रकार की कठिनाई भी पड़ी होगी। वह इस कारण कि चंद्रमार्ग आकाश में स्थिर नहीं रहता। यदि चंद्रमा का मार्ग स्थिर भी होता तो, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कठिनाई से पता चलता कि चंद्रमा के किस स्थान पर पहुँचने पर पूर्णिमा हुई; परंतु जब मार्ग ही बदला करता है तो अवश्य ही कठिनाई बहुत बढ़ जाती है। इस बात को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए विचार करें कि यदि चंद्रमार्ग अचल होता और मघा नामक तारा उसके पास इस प्रकार स्थित होता कि चंद्रमा उसे प्रायः छूता हुआ जाता तो अवश्य ही चंद्रमा उसे छूता हुआ प्रति मास जाता और प्रति वर्ष एक मास ऐसा आता जब उस तारे के आस-पास ही कहीं चंद्रमा के रहने पर पूर्णिमा होती। उस तारे तक पहुँचने में अधिक से अधिक चौदह-पंद्रह अंश पूर्णिमा पर बचे रहते या इतना ही अधिक तय हो गया रहता। परंतु चंद्रमा का मार्ग स्थिर नहीं है। इसलिए यदि चंद्रमा इस वर्ष किसी तारे को छूता हुआ निकलता है तो संभव है आगामी वर्ष वह उस तारे को छू न पाये और उसकी बगल से निकल जाय। तब एक वर्ष और बीतने पर चंद्रमा उस तारे से अधिक दूरी से होता हुआ निकल जायगा; इत्यादि; ९ वर्ष बाद वह उस तारे से लगभग १०° (अर्थात चंद्र-व्यास की बीस गुनी दूरी) पर से निकल जायगा; तब दूरी कम होने लगेगी और लगभग १८$\frac{2}{3}$ वर्ष बाद चंद्रमा फिर उस तारे को छूता हुआ चलेगा, और पुराना कार्य-क्रम फिर दोहराया जायगा। ऊपर के चित्र में ३ वर्षों के लिए चंद्रमार्ग दिखाया गया है जिससे पूर्वोक्त बातें अधिक स्पष्ट हो जायँगी।

चंद्रमार्ग ठीक-ठीक किस प्रकार हटता-बढ़ता है इसे समझने के लिए चंद्रमार्ग और रविमार्ग में अंतर समझ लेना अच्छा होगा। तारों के बीच सूर्य भी चलता है और चंद्रमा भी। परंतु सूर्य का मार्ग निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि सूर्य के

उदित होने पर तारे अदृश्य हो जाते हैं। सूर्य का मार्ग इसे देखकर निर्धारित किया गया होगा कि सूर्योदय के पहले चमकीले तारे कहाँ रहते हैं। रविमार्ग तारों के हिसाब से अचर है; प्रतिवर्ष विशेष तारों से उतना ही दायें या बायें हट कर रविमार्ग रहता है। बरसों तक देखते रहने पर कुशाग्र-बुद्धि ऋषियों में से कुछ को रविमार्ग का ठीक पता (या प्रायः ठीक पता) लग ही गया होगा।

चंद्रमा के एक मास के मार्ग को निर्धारित करना अपेक्षाकृत बहुत सरल है। कोई भी दो-चार महीने तक चंद्रमा को प्रति रात्रि देखता रहे तो उसे चंद्र-मार्ग का अनुमान हो सकता है। यदि तारों का चित्र बना लिया जाय और उसमें चंद्रमा की स्थितियों को प्रति रात्रि अंकित किया जाय तो और भी शीघ्र पता चल जायगा कि चंद्रमार्ग क्या है। चंद्रमा तारों के सापेक्ष एक चक्कर लगभग २७$\frac{१}{३}$ दिन में लगाता है। यही कारण है कि एक चक्कर को सत्ताइस (या कभी-कभी अट्ठाइस) भागों में बाँटा गया, जिनमें से प्रत्येक एक नक्षत्र कहलाया।

आकाश को हम गोले से निरूपित कर सकते हैं जिसे खगोल कहते हैं। इसका चित्र बगल में दिखाया गया है। आकाश को देखने वाला इस गोले के केंद्र द्र पर रहता है, परंतु चित्र में हम खगोल को बाहर से देख रहे हैं। रविमार्ग इस गोले को दो बराबर भागों में बाँटता है। चंद्रमार्ग भी खगोल को दो बराबर भागों में बाँटता है, परंतु चंद्रमार्ग रवि-मार्ग को ५° के कोण पर काटता है[1]। इसका परिणाम यह होता है कि चंद्रमार्ग का आधा भाग रविमार्ग के उत्तर



खगोल।

रविमार्ग विषुवत को लगभग २३½ अंश के कोण पर काटता है।

[1] चित्र में स्पष्टता के लिए इसे नहीं दिखाया गया है।

रहता है, आधा दक्षिण। इसलिए प्रत्येक मास चंद्रमा आधे समय तक रविमार्ग के उत्तर रहता है, आधे समय तक दक्षिण।

खगोल पर बने चित्र में चंद्रमार्ग रविमार्ग को दो बिंदुओं में काटता है। इनमें से प्रत्येक को 'पात' कहते हैं। यदि इन्हें पृथक-पृथक बताना हो तो एक को आरोही पात और दूसरे को अवरोही पात कहा जा सकता है[1]।

अब हम बता सकते हैं कि चंद्रमार्ग किस प्रकार अपनी स्थिति बदलता रहता है। रविमार्ग और चंद्रमार्ग के बीच का कोण नहीं बदलता, और न रविमार्ग चलता है, केवल दोनों पात पीछे मुँह धीरे-धीरे बराबर चलते रहते हैं और प्रत्येक पात एक चक्कर लगभग १८½ वर्ष में लगाता है। इससे सारा चंद्रमार्ग अपना स्थान बदलता रहता है।

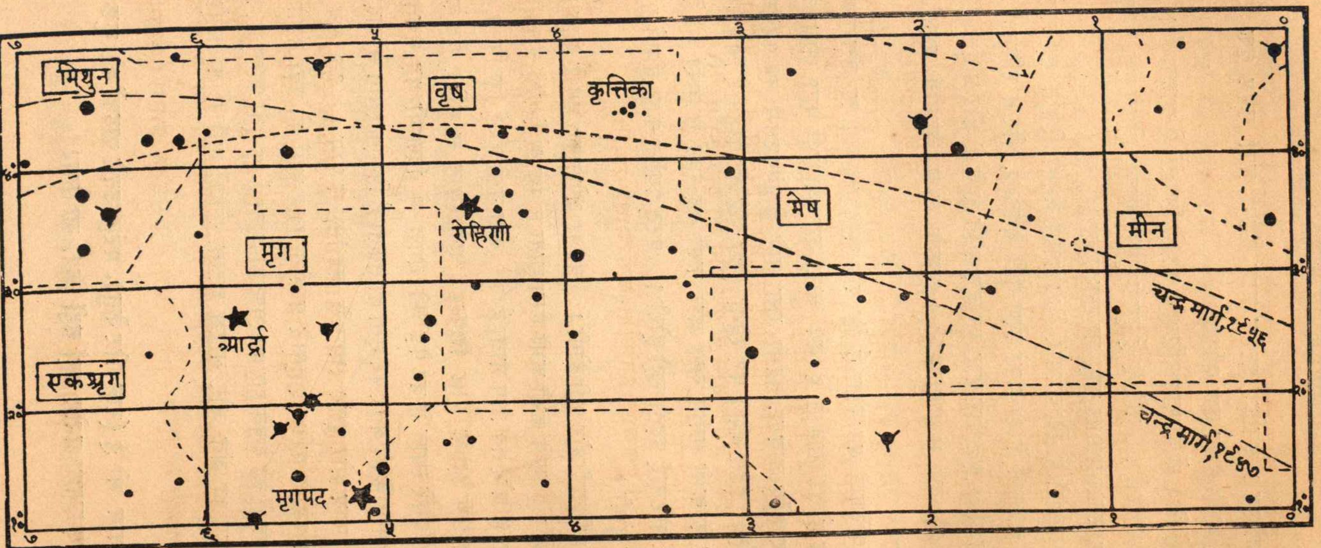
इसका एक परिणाम यह होता है कि यदि आज चंद्रमार्ग का उत्तरतम भाग किसी तारे के पास है तो आज से ९ वर्ष बाद, जब आरोही पात आधा चक्कर लगाकर उलटी ओर पहुँच जायगा, चंद्रमा उस तारे के निकटतम तब पहुँचेगा जब वह उससे लगभग १०° (दस अंश) पर रहेगा (इस पन्ने की पीठ पर चित्र देखें)।

एक ही तारे के कभी समीप रहने और कभी दूर रहने से तारों को देखकर महीनों के बताने में कठिनाई पड़ती रही होगी। परंतु पर्याप्त काल बीतने पर सब बातें स्पष्ट हो गयी होंगी।

संभवत: एक कठिनाई और पड़ी होगी। चंद्रमा अपेक्षाकृत हमारे बहुत निकट है; तारे बहुत दूर हैं। इससे कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई-कोई तारा चंद्रमा की आड़ में पड़ जाता है और तब छिप जाता है। बात वैसी ही है कि किसी दूरस्थ मंदिर का किसी निकटस्थ पेड़ के पीछे छिपना। एक स्थान से मंदिर पेड़ के ठीक पीछे पड़ सकता है; दूसरे स्थान से वह पेड़ की बगल में दिखायी पड़ सकता है। इसी प्रकार दस-बीस मील के ही अंतर पर ऐसा हो सकता है कि एक स्थान से कोई तारा चंद्रमा के पीछे छिप जाय और दूसरे स्थान से वह छिप न पाये। इन सब बातों से चंद्रमा के विषय में पर्याप्त कठिनाई हमारे प्राचीन नक्षत्र-दर्शों को पड़ी होगी।

इन सब कठिनाइयों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, आदि, से वर्ष का अंत और आरंभ बताना सैकड़ों वर्षों में आया होगा।

[1] **इनके विशेष नाम भी हैं (राहु और केतु), परंतु उनसे पाठकों को कुछ भ्रम हो सकता है। इसलिए उनका प्रयोग यहाँ नहीं किया जायगा।**



चंद्रमार्ग, १९४७ और १९५६ में

देखें कि ९ वर्ष में चंद्रमार्ग की स्थिति बहुत बदल जाती है। १९५६ के चंद्रमार्ग पर चंद्रमा विंदुमय वृत्त से पैमाने के अनुसार दिखाया गया है, जिससे इसका अच्छा अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रमार्ग कितना हटता है। चंद्रमार्ग की स्थितियों में ९$\frac{१}{४}$ वर्ष में महत्तम अंतर पड़ता है। १८$\frac{१}{२}$ वर्ष में चंद्रमार्ग अपनी पुरानी स्थिति पर पहुँच जाता है।

और तैत्तिरीय ब्राह्मण के काल के बहुत पहले से चंद्रमा का नियमित रूप से वेध आरंभ हो गया रहा होगा।

अमांत या पूर्णिमांत ?

महीने का आरंभ अमावस्या से होता था या पूर्णिमा से ? यदि महीने का अंत अमावस्या से हो तो उसे अमांत मास कहते हैं; पूर्णिमा से हो तो उसे पूर्णिमांत कहते हैं। पूर्णिमांत मासों में यह विशेषता है कि इधर चंद्रमा पूर्ण हुआ तो उधर मास भी। अमांत मास का आरंभ तब होता है जब सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों (मोटे हिसाब से दिशाओं) का अंतर शून्य होता है; और शून्य अंतर से मास आरंभ करना अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है। सारे ज्योतिष में अमांत मासों की गणना होती है। अधिमास (लौंद का महीना) भी अमावस्या से आरंभ होता है और उसका अंत आगामी अमावस्या पर होता है। परंतु उत्तर प्रदेश में, और कई अन्य प्रदेशों में भी, पूर्णिमांत मास ही चलते हैं।

प्राचीन साहित्य में भी पूर्णिमांत प्रथा का वर्णन मिलता है। पूर्णमासी या पौर्णमासी शब्द से ही स्पष्ट है कि मास के पूर्ण होने का यह दिन था।

तैत्तिरीय संहिता कहता है :

बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सैरमावास्यायां ॥

तै. सं. १. ६. ७.

अर्थ—पूर्णमासी के व्रत को बर्हि (कुशों) से ग्रहण करना चाहिए और अमावस्या के व्रत को वत्सों (=बछड़ों) से।

इससे स्पष्ट है कि मास पूर्णिमा पर पूर्ण होता था।

परंतु तैत्तिरीय संहिता के एक अन्य स्थान पर पूर्णिमांत और अमांत दोनों पद्धतियों का आभास मिलता है :

अमावास्यया मासान्संपाद्याहरुत्सृजंति अमावास्यया हि मासान् संपश्यंति
पौर्णमास्या मासान्संपाद्याहरुत्सृजंति पौर्णमास्या हि मासान्संपश्यंति ॥

तै. सं. ७. ५. ६. १५.

अर्थ—अमावस्या से मासों को समाप्त करके एक दिन को कुछ लोग छोड़[1] देते हैं, क्योंकि वे अमावस्या से ही मासों को देखते हैं। (कुछ लोग) पूर्णमासी से

[1] अर्थात उस दिन कोई अनुष्ठान नहीं करते।

मासों को समाप्त करके एक दिन छोड़ देते हैं क्योंकि वे पूर्णमासी से मासों को देखते हैं।

एक आगामी अध्याय में प्रमाण दिया जायगा कि संभवतः तैत्तिरीय संहिता ३००० ई० पू० के पहले का संगृहीत ग्रंथ है। ब्राह्मण इस दिनांक के बाद के ग्रंथ हैं। न तो तैत्तिरीय संहिता में और न किसी ब्राह्मण में चैत्र, वैशाख आदि नाम हैं। परंतु ये नाम वेदांग ज्योतिष में हैं जो संभवतः १२०० ई० पू० का ग्रंथ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि महीनों के नाम में परिवर्तन लगभग २००० ई० पू० में हुआ होगा।

अध्याय ४

वैदिक काल में दिन, नक्षत्र, आदि

पक्ष

अति प्राचीन समय में सप्ताह का कुछ महत्त्व नहीं था, और न रविवार, सोमवार आदि नाम ही प्रचलित थे। ये नाम तो ग्रहों के आधार पर पड़े हैं और वेद, ब्राह्मण, संहिता आदि में इन नामों का कहीं उल्लेख नहीं है। उस काल में पक्ष और उसके उपविभाग चलते थे। पक्ष महीने में दो होते थे। इनका उल्लेख कई स्थानों में मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पक्ष के उपविभागों के नाम इस प्रकार हैं :—

संज्ञानं विज्ञानं दर्शा दृष्टेति ॥ एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयाति ॥ प्रस्तुतं विष्टुतं सुतासुन्वतांति ॥ एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोत्राणां नामधेयानि ॥

तै० ब्रा. ३. १०. १०. २.

अर्थ—संज्ञान, विज्ञान, दर्शा, दृष्टा ये दो-दो करके पूर्व पक्ष के अहोरात्र (= दिनरात) के नाम हैं। प्रस्तुत, विष्टुत, सुत, असुन्वत ये दो-दो करके अपर पक्ष के अहोरात्र के नाम हैं।

अन्य स्थानों में कुछ भिन्न नाम हैं, परंतु सब सूचियों को यहाँ देना आवश्यक नहीं जान पड़ता।

वैदिक काल में तिथि

वैदिक काल के साहित्य में तिथि शब्द उस अर्थ में कहीं नहीं आया है जिसमें इसे हम आज लेते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में तिथि की परिभाषा यों दी गयी है :

यां पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथिः ॥

ऐ. ब्रा. ३२. १०.

अर्थ—जहाँ चंद्रमा अस्त होता और उदित होता है वह तिथि है।

इससे स्पष्ट है कि उस काल में तिथि का कुछ और ही अर्थ था। पीछे तिथि का अर्थ वह समय हो गया जितने में चंद्रमा सूर्य के सापेक्ष १२° चलता है और इसी

अर्थ में यह शब्द आज भी प्रयुक्त होता है। सामविधान ब्राह्मण में कृष्ण चतुर्दशी, कृष्ण पंचमी, शुक्ल चतुर्दशी आदि शब्द आये हैं[1]। बहुत संभव है कि पंचमी आदि से यही बताया जाता रहा होगा कि यह महीने का पाँचवाँ आदि दिन है। पाठक जानते होंगे कि तिथियों में यह विशेषता है कि बीच-बीच में एक तिथि छोड़ दी जाती है। वैदिक काल में ऐसा न होता रहा होगा। क्षय तिथि की चर्चा कहीं भी वैदिक साहित्य में नहीं है। पंचदश का भी कहीं-कहीं उल्लेख है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह है :

चंद्रमा वै पंचदशः॥ एष हि पंचदश्यामपक्षीयते॥ पंचदश्यामापूर्यते॥

तै. ब्रा. १. ५. १०.

अर्थ—चंद्रमा का नाम पंचदश है, यह पन्द्रह दिन में क्षीण होता है और पंद्रह दिन में पूरा होता है।

परंतु इन सब उद्धरणों से भी यह नहीं सिद्ध होता कि ब्राह्मणों के समय में तिथियों का उपयोग होता था। शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत है[2] कि पहले प्रतिपदा, द्वितीया इत्यादि शब्द पहली, दूसरी, इत्यादि, रातों के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे। पीछे उनका अर्थ बदल गया होगा और उनका अर्थ वह हो गया होगा जो अब ज्योतिष में दिया जाता है।

चंद्रमा क्यों चमकता है?

तैत्तिरीय संहिता के समय में भी लोग जानते थे कि चंद्रमा सूर्य के प्रकाश से चमकता है, क्योंकि उसे सूर्य-रश्मि कहा गया है, जिसका अर्थ है वह पिंड जिस पर सूर्य की रश्मियाँ पड़ती हों :

सूर्यरश्मिश्चंद्रमा गंधर्वः॥

तै. सं. ३. ४. ७. १.

अर्थ—चंद्रमा या गंधर्व (=चंद्रमा) को सूर्यरश्मि कहते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में अमावस्या का भी कारण बताया गया है। लिखा है कि—

चंद्रमा वा अमावास्यामादित्यमनुप्रविशति ... आदित्याद्वै चंद्रमा जायते।

ऐ. ब्रा. ४०. ५.

अर्थ—चंद्रमा अमावस्या पर आदित्य में प्रवेश करता है ...। आदित्य से ही चन्द्रमा उत्पन्न होता है।

[1] **सा० वि० ब्रा०, २।६; २।८; ३।३।** [2] **भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ ४४।**

दिन के विभाग

दिन को कभी दो भागों में बाँट कर उन्हें पूर्वाह्ण और अपराह्ण कहते थे और कभी तीन भागों में बाँट कर उन्हें पूर्वाह्ण, मध्याह्ण और अपराह्ण कहते थे। दिन को चार भागों में विभाजित करने की प्रथा भी थी और तब प्रत्येक को एक प्रहर कहते थे (जिसे अब हिन्दी में पहर कहते हैं)। इनके नाम तब पूर्वाह्ण, मध्याह्ण, अपराह्ण और सायाह्ण थे। दिन को १५ भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक मुहूर्त भी कहते थे। ये सब शब्द वैदिक काल से ही चले आ रहे हैं। परंतु अब कुछ अर्थ बदल गया है। अब तो फलित ज्योतिष के आधार पर कुछ मुहूर्तों को शुभ और शेष को अशुभ मानते हैं, और साधारणत: मुहूर्त से शुभ मुहूर्त समझा जाता है। सिनेमा-पत्रिकाओं में बहुधा नवीन फिल्मों के "मुहूर्त" की सूचना रहती है और जान पड़ता है कि मुहूर्त का अर्थ सिनेमा-निर्देशकों में वह जलसा हो गया है जो नवीन फिल्म के आरंभ के संबंध में किया जाता है।

नक्षत्र

आरंभ में नक्षत्र शब्द सभी तारों के लिए प्रयुक्त होता था। उदाहरणत: ऋक् संहिता में यह है :

अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यंत्यक्तुभिः ॥ सूराय विश्वचक्षसे ॥

ऋ. सं. १. ५०. २; अथ. सं. १३. २. १७; २०. ४७. १४.

अर्थ—सर्व शक्तिमान सूर्य के आगमन से नक्षत्र (=तारे) और रात चोर की तरह भागते हैं।

परंतु धीरे-धीरे अवश्य ही नक्षत्र शब्द उन तारों के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा होगा जो चंद्रमार्ग में पड़ते हैं। संभवत: निम्न अवतरण में नक्षत्र से उन तारों को समझना चाहिए जो चंद्रमार्ग में हैं :

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥

ऋ. सं. १०. ८५. २; अथ. सं. १४. १. २.

अर्थ—चंद्रमा तारों के बीच रहता है।

तैत्तिरीय संहिता के निम्न अनुवाक में सब नक्षत्रों के नाम गिनाये गये हैं। अवश्य ही यहाँ नक्षत्र शब्द से उन तारका-पुंजों को समझना चाहिए जो चंद्रमार्ग में पड़ते हैं :

कृत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवताग्नेरुचस्थ प्रजापतेर्धातुः सोमस्यर्चे त्वा रुचे त्वा द्युते त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्षे नक्षत्रं सोमो देवतार्द्रानक्षत्रं रुद्रो देवता पुनर्वसूनक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो

नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवताश्रेषा नक्षत्रं सर्पा देवता मघा नक्षत्रं पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता फल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता हस्तो नक्षत्रं सविता देवता चित्रा नक्षत्रमिंद्रो देवता स्वाती नक्षत्रं वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिंद्राग्नी देवतानूराधा नक्षत्रं मित्रो देवता ज्येष्ठा नक्षत्रमिंद्रो देवता विचृत्तौ नक्षत्रं पितरो देवताषाढानक्षत्रमापो देवताषाढा नक्षत्रं विश्वेदेवा देवता श्रोणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्रं वसवो देवता शतभिषङ्नक्षत्रमिंद्रो देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमजएकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्नियो देवता रेवती नक्षत्रं पूषा देवताऽश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवतापभरणीनक्षत्रं यमो देवता . . . ॥

तै., सं. ४. ४. १०

(तू है) (१) कृत्तिका नक्षत्र, अग्नि देवता। तू अग्नि की चमक है, प्रजापति की, विधाता की, सोम की। त्वारुचे (तुझको प्रकाश के लिए), त्वा द्युते (तुझको द्युति के लिए), त्वा भासे (तुझको कांति के लिए), त्वा ज्योतिषे (तुझको ज्योतिष के लिए)। (तू है) (२) रोहिणी नक्षत्र, प्रजापति देवता। (३) मृगशीर्ष नक्षत्र, सोम देवता। (४) आर्द्रा नक्षत्र, रुद्र देवता। (५) दोनों पुनर्वसु नक्षत्र, अदिति देवता। (६) तिष्य नक्षत्र, बृहस्पति देवता। (७) आश्लेषा नक्षत्र, सर्प देवता। (८) मघा नक्षत्र, पितर देवता। (९) पूर्वा फल्गुनी नक्षत्र, भग देवता। (१०) उत्तरा फल्गुनी नक्षत्र, अर्यमा देवता। (११) हस्त नक्षत्र, सविता देवता। (१२) चित्रा नक्षत्र, इंद्र देवता। (१३) स्वाती नक्षत्र, वायु देवता। (१४) दो विशाखाओं का नक्षत्र, इन्द्राग्नी देवता। (१५) अनुराधा नक्षत्र, मित्र देवता। (१६) ज्येष्ठा नक्षत्र, इंद्र देवता। (१७) दो विचृत्तों का नक्षत्र, पितर देवता। (१८) आषाढा नक्षत्र, आपः देवता। (१९) आषाढा नक्षत्र, विश्वेदेवा देवता। (२०) श्रोणा नक्षत्र, विष्णु देवता। (२१) श्रविष्ठा नक्षत्र, वसु देवता। (२२) शतभिषक् नक्षत्र, इन्द्र देवता। (२३) प्रोष्ठपदा नक्षत्र, अजएकपात् देवता। (२४) प्रोष्ठपदा नक्षत्र, अहिर्बुध्नि देवता। (२५) रेवती नक्षत्र, पूषा देवता। (२६) अश्वयुज नक्षत्र, अश्विन् देवता। (२७) अपभरणी नक्षत्र, यम देवता।

तारा समूह

निम्न उद्धरण से नक्षत्र का अर्थ तारा-समूह होना अधिक निश्चित हो जाता है :

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
अष्टाविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥ १॥

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥ २ ॥
पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वातिः सुखो मे अस्तु ।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टं मूलम् ॥ ३ ॥
अन्नं पूर्वा रासंतां मे अषाढा ऊर्जं ये द्युत्तर आ वहन्तु ।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥ ४ ॥
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ॥ ५ ॥

अथ. सं. १९. ७.

भावार्थ—मैं अपने कल्याण के लिए वाणी से आकाश की पूजा करता हूँ जहाँ अट्ठाइस सुमति (=तारापुंज?) सर्प के रूप में चमकते हैं[1] ॥ १ ॥

कृत्तिका और रोहिणी मेरे निमंत्रण को सुगमता से स्वीकार करें । मृगशिर और आर्द्रा कल्याणकारी हों । पवित्र पुनर्वसू, पुष्य, ज्योतिर्मय आश्लेषा, मघा मेरे लिए अच्छे मार्ग को दिखायें ॥ २ ॥

दोनों पूर्व फल्गुनियाँ, हस्त नक्षत्र, चित्रा, स्वाति मेरे लिए सुखकारी हों । पूजा रूप विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा और अच्छा नक्षत्र मूल मेरे लिए कल्याणप्रद हों ॥ ३ ॥

पहली अषाढ़ा नक्षत्र मुझे अन्न दे । उत्तर अषाढ़ा मुझे तेज दे । शुभ अभिजित् मुझे पुण्यशील बनाये । श्रवण और श्रविष्ठ मुझे शक्ति दें ॥ ४ ॥

बड़े शतभिषक् मुझे स्वतंत्रता दें । दोनों प्रोष्ठपद कल्याण करें । रेवती और अश्वयुज मुझे भाग्यशाली करें और भरणी नक्षत्र मुझे धन दे ॥ ५ ॥

[1] चंद्रमा तारों के सापेक्ष एक चक्कर २७$\frac{1}{3}$ दिन में लगाता है । २७$\frac{1}{3}$ से निकटतम पूर्ण संख्या २७ है । इसलिए चंद्रमार्ग में या उसकी अगल-बगल में पड़ने वाले तारों में से २७ तारे चुन लिये गये थे जिनके बताने से सूचित किया जाता था कि आज आकाश में चंद्रमा किस तारे के पास है, परंतु कभी-कभी अट्ठाइस तारे इस काम के लिए चुने जाते थे, जैसे यहाँ, क्योंकि २८ भी २७$\frac{1}{3}$ के निकट ही है । बाद में केवल इन्हीं तारों को लोग नक्षत्र कहते थे, यद्यपि नक्षत्र का अर्थ है कोई तारा । इसके बहुत बाद नक्षत्र का अर्थ हुआ चंद्रमार्ग (अथवा रविमाग) का ठीक सत्ताइसवाँ भाग, और इन भागों के नाम भी कृत्तिका, रोहिणी आदि ही पड़े ।

इति० ३

ऋक् संहिता में ऋक्ष (=सप्तर्षि ?) की भी चर्चा है :

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद्दिवेयुः ॥

ऋ. सं. १. २४. १०.

अर्थ—ये जो ऋक्ष हैं, जो ऊपर आकाश में स्थित हैं और रात में दिखायी पड़ते हैं, वे दिन में कहाँ चले जाते हैं ?

इसपर शतपथ ब्राह्मण ने यह टीका की है कि—

सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते ॥

श. ब्रा. २. १. २. ४.

अर्थ—सप्तर्षियों को ही पहले ऋक्ष कहते थे ।

एक बात यहाँ देखने योग्य है कि पाश्चात्य ज्योतिष में सप्तर्षि तारामंडल को अब भी उर्सा मेजर या ग्रेट बेयर (=ऋक्ष=भालू)[1] कहते हैं ।

कुछ अन्य तारों की भी चर्चा मिलती है । परंतु सब उद्धरण यहाँ देना आवश्यक नहीं जान पड़ता ।

ग्रहण

ग्रहणों की चर्चा भी वेदों में है, परंतु कहीं कोई ऐसी बात नहीं लिखी है जिससे पता चले कि वेदकालीन ऋषियों को ग्रहण के कारण का कितना पता था । परंतु एक स्थान में यह है :

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ॥

अत्रयस्तमन्वविंदन्नह्य१न्ये अशक्नुवन् ॥

ऋ. सं. ५. ४०. ९

जिस सूर्य को असुर के पुत्र स्वर्भानु ने अंधकार में छिपा दिया था उसे अत्रि लोगों ने पा लिया । यह शक्ति दूसरों में तो थी नहीं ।

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः अत्रि के पुत्र ग्रहण की किसी प्रकार की गणना कर सकते रहे होंगे और पहले से बता सकते रहे होंगे कि सूर्यग्रहण का अंत कब होगा ।

[1] ऋक्ष शब्द के संस्कृत में दो अर्थ थे : (१) तारा (२) रीछ । संभवतः कभी भूल से ऋक्ष रीछ का पर्याय समझ लिया गया होगा ।

ग्रह

चंद्रमार्ग में अथवा उसके पास ही ग्रह रहते हैं। वे तारों के ही समान होते हैं, परंतु कुछ ग्रह उनसे बहुत चमकीले होते हैं। इसलिए अवश्य ही ग्रहों को प्राचीन ऋषियों ने देखा होगा। उन्होंने यह भी देखा होगा कि ये अन्य तारों के सापेक्ष चलते रहते हैं। कोई भी व्यक्ति जो चंद्रमा की स्थिति जानने के लिए तारों को देखा करेगा अवश्य ही इसका पता पा जायगा। इसलिए ग्रहों की चर्चा स्वाभाविक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में बृहस्पति के जन्म का भी उल्लेख है। लिखा है कि—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः ॥ तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव ॥

तै. ब्रा. ३. १. १.

अर्थ—जब बृहस्पति पहले प्रकट हुआ वह तिष्य (=पुष्य) नक्षत्र के पास था।

दीक्षित ने इसका अर्थ यह लगाया है कि कभी पुष्य तारा बृहस्पति ग्रह की ओट में हो गया होगा (आधुनिक ज्योतिष बताता है कि यह संभव है)। अपनी गति के कारण जब दो-चार घंटे में बृहस्पति पुष्य से पृथक हुआ होगा तो लोगों ने समझा होगा कि बृहस्पति का जन्म हुआ। तब बृहस्पति पुष्य के निकट रहा होगा।

शतपथ ब्राह्मण में शुक्र की चर्चा यों है :

चक्षुषी हवा अस्य शुक्रामंथिनौ। तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपति तद्य देष एतत्तपति तेनैषशुक्रश्चंद्रमा एव मंथी ॥ १ ॥ ... इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वंति। अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जराय्‌ रजसो विमान इति तदेतस्य रूपं कूर्मो य एष तपतीति यदाहज्योतिर्जरायूरिति ॥ ८ ॥

शत. ब्रा. ४. २. १.

अर्थ—शुक्र और मंथी उसकी दो आँखें हैं। शुक्र वही है जो चमकता है। यह चमकता है इसलिए इसको शुक्र कहा गया है। चंद्रमा मंथी है। ... कुछ लोग 'अयं वेनः' इन शब्दों से आरंभ होने वाली ऋचा को 'शुक्र' के लिए पुरोरुवा मंत्र (अर्थात आरंभ में पढ़े जाने वाले मंत्र) बनाते हैं। वह ऋचा यह है "अयं वेनश्चोदयति पृश्निगर्भा, ज्योतिर्जराय रजसो विमान"।

तैत्तिरीय संहिता में शुक्र और चंद्रमा के साथ ही बृहस्पति का नाम आया है:

वस्व्यसि रुद्रास्यदितिस्यादित्यासि शुक्रासि चंद्रासि बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु।

तै. सं. १. २. ५.

अर्थ—(हे सोम को खरीदने वाले!) तू वस्वी है, अर्थात वसु आदि देवों का रूप है। रुद्र है, अदिति है, आदित्य है, शुक्र है, चंद्र है, बृहस्पति है। तू सुख से रह।

अथर्व संहिता में 'ग्रह' शब्द आया है:—

उत्पाताः पार्थिवांतरिक्षाछंनो दिविचरा ग्रहाः ॥ ७ ॥

शं नोभूमिर्वेपमाना शनुल्कानिर्हतं च यत् ॥ ८ ॥

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु ॥९॥

शं नो ग्रहाश्चांद्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा ॥

शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥ १०॥

अथ. सं. १९. ९.

पृथ्वी और अन्तरिक्ष के उत्पात और द्यौलोक के ग्रह हमारे लिए कल्याणकारी हो जायँ। काँपती हुई भूमि कल्याणकारक हो। और वह भी जो उल्का के साथ है। उल्का सहित नक्षत्र कल्याण कारक हों। राहु के साथ चांद्र ग्रह और सौर ग्रह कल्याणकारक हों। अनर्थकारी धूमकेतु कल्याणकारी हों। तीक्ष्ण प्रकाश वाले रुद्र कल्याणकारी हों।

जरमन आचार्य प्रोफेसर वेबर की सम्मति है कि भारत में ही ग्रहों का आविष्कार हुआ होगा, क्योंकि इनके नाम विशेष रूप से भारतीय हैं[1]।

वैदिक काल में ही ज्योतिष के विशेषज्ञ दूसरों से कुछ पृथक-से हो गये थे। वाजसनेयी संहिता में लिखा है:

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शं ॥ वा. सं. ३०. १०.

अर्थ—विशेष ज्ञान के लिए नक्षत्रदर्श के पास जाओ।

सारांश

अब स्पष्ट हो गया होगा कि वैदिक काल में ज्योतिष की सच्ची नींव पड़ गयी थी। मास चांद्र था और वर्ष का आरंभ और अंत ज्ञात करने के लिए ऐसी रीति का पता लगा लिया गया था कि कभी भी अधिक त्रुटि नहीं उत्पन्न हो सकती थी। वर्ष का आरंभ लगभग पंद्रह दिन इधर-उधर हो सकता था, परंतु इससे अधिक नहीं। पूजा-पाठ के लिए अमावस्या और पूर्णिमा का बड़ा महत्त्व था। इस पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था कि वर्षारंभ से संबंध रखने वाले कर्म उचित समय पर ही हों।

वेद के छः अंगों में एक ज्योतिष भी था और इस वेदांग की एक प्राचीन पुस्तक आज भी उपलब्ध है, जिसका विवेचन आगामी अध्याय में किया जायगा।

[1] **वेबर: भारतीय साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी में); पृष्ठ २५१।**

अध्याय ५

वेदांग-ज्योतिष

वेदांग (अर्थात वेद का अंग) होने के कारण वेदांग-ज्योतिष नामक ग्रंथ पवित्र माना जाता था और इसे स्मरण रखना तथा पढ़ना पुण्य का काम समझा जाता था। इसी से यह पुस्तक लुप्त होने नहीं पायी है। परंतु इसे ग्रंथ या पुस्तक कहना बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें कुल ४४ श्लोक हैं; इसे पुस्तिका कहना अधिक उचित होगा।

दो पाठ

वदांग-ज्योतिष के दो पाठ मिलते हैं, एक ऋग्वेद ज्योतिष और दूसरा यजुर्वेद ज्योतिष। दोनों में विषय प्राय: एक-से हैं, परंतु यजुर्वेद ज्योतिष में ४४ श्लोक हैं[1] और ऋग्वेद ज्योतिष में केवल ३६। दोनों में अधिकांश श्लोक एक ही हैं, परंतु उनका क्रम दोनों में विभिन्न है। कुछ श्लोकों में शब्दों का भी कुछ अंतर है, यद्यपि अर्थ एक ही है। ऋग्वेद ज्योतिष के सात श्लोक यजुर्वेद ज्योतिष में नहीं हैं और यजुर्वेद ज्योतिष के १४ श्लोक ऋग्वेद ज्योतिष में नहीं हैं। ऐसा संभव है कि ज्योतिष की ये दोनों पुस्तिकाएँ किसी बड़े ग्रंथ से संकलित की गयी हैं और उस बड़े ग्रंथ का अब लोप हो गया है। आधुनिक भाष्यकारों में से कुछ की यही सम्मति है, परंतु डाक्टर शामशास्त्री का मत है कि ऋग्वेद ज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष के श्लोकों की गिनतियों में अंतर इसलिए है कि यजुर्वेद ज्योतिष में टीका के रूप में कुछ श्लोक बढ़ा दिये गये हैं।

[1] कुछ संस्करणों में केवल ४३ श्लोक हैं; परंतु डाक्टर शामशास्त्री द्वारा संपादित पुस्तक में ४४ श्लोक हैं।

टीकाओं का इतिहास

वेदांग-ज्योतिष के श्लोकों को समझना बहुत कठिन है। कारण यह है कि अधिकांश श्लोकों की भाषा बहुत संक्षिप्त है और उनमें अनेक शब्द छोड़ दिये गये हैं। सच्ची बात तो यह है कि ये श्लोक सूत्र हैं जिनका उद्देश्य यह है कि गणना के नियम जानने वाले को आवश्यकता पड़ने पर नियम स्मरण हो आये; उनका यह अभिप्राय नहीं है कि नौसिखिये को पूरा-पूरा नियम बताया जाय। वे तो ऐसे ही हैं जैसे गणित-पुस्तकों के अंत में दी गयी सूत्रों की सूची, जिसे वे ही समझ सकते हैं जो विषय को अच्छी तरह मनन कर चुके हैं।

वेदांग-ज्योतिष पर एक भाष्य सोमाकर का है, परंतु यह अच्छा नहीं है। इस भाष्य से स्पष्ट है कि भाष्यकार स्वयं कई एक श्लोक का अर्थ नहीं समझता था। आधुनिक समय में वेदांग-ज्योतिष का पहला संस्करण वेबर का था। उसके बाद सर विलियम जोन्स, व्हिटनी, कोलब्रुक, बेंटली, डेविस, मैक्स म्यूलर, थीबो और कुछ अन्य विद्वानों ने श्लोकों के अर्थ लगाने की ओर ध्यान दिया, परंतु तब भी कुछ श्लोकों का अर्थ संतोषजनक रीति से नहीं लग सका। थीबो ने इस विषय पर अपनी टिप्पणियाँ सन १८७९ में प्रकाशित कीं। इसके बाद कृष्ण शास्त्री गोडबोले, जनार्दन बालाजी मोडक और शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने उन श्लोकों को समझाने की चेष्टा की जिनका अर्थ पूर्व टीकाकारों से नहीं लग पाया था, परंतु पूर्ण सफलता नहीं मिली। सन १९०६ में लाला छोटे लाल ने, अपना उपनाम बार्हस्पत्य रख कर, हिंदुस्तान रिव्यू में कई लेख छपाये, जिनमें इन श्लोकों के चातुर्यपूर्ण अर्थ थे, परंतु वे विद्वानों को संतोषजनक नहीं जँचे। १९०८ में महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने पंडित नामक पत्रिका में कई लेख प्रकाशित किये जिनमें उन्होंने छोटे लाल के मतों का खंडन किया और अपने मतानुसार पाठ का संशोधन करके अर्थ लगाया। १९३६ में डाक्टर आर० शामशास्त्री ने मैसूर सरकार के यंत्रालय से एक संस्करण छपाया जिसमें वेदांग-ज्योतिष के श्लोकों को सूर्यप्रज्ञप्ति आदि जैन ज्योतिष ग्रंथों तथा ज्योतिष-करंड में आये उन्हीं विषयों पर दिये गये नियमों की सहायता से समझाया गया है। इन जैन पुस्तकों ने वेदांग-ज्योतिष के नियमों को अपनाया था और उनकी विस्तृत व्याख्या दी थी। डाक्टर शामशास्त्री अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में लिखते हैं:

"ग्यारहवाँ श्लोक, जो विद्वानों को बराबर चक्कर में डाले था, सूर्यप्रज्ञप्ति में प्राकृत में पूर्ण रूप से अनुवादित है।"

इस प्रकार अब वेदांग-ज्योतिष के सब श्लोकों का पर्याप्त अच्छा अर्थ लग गया है।

वेदांग-ज्योतिष की विषय-सूची

वेदांग-ज्योतिष में पंचांग बनाने के प्रारंभिक नियम दिये गये हैं। इन नियमों से प्राचीन समय में यज्ञादि के लिए उचित समय का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। बाद में ये श्लोक पवित्र माने जाते थे और जब सूर्य-सिद्धांत या अन्य सिद्धांतों के अनुसार अधिक शुद्ध पंचांग बनने लगे तब भी, जैसा पहले बताया जा चुका है, लोग इन श्लोकों का पाठ करते थे। इसी कारण ये अब भी उपलब्ध हैं।

यजुर्वेद ज्योतिष के ४४ श्लोकों में से प्रथम चार और अंतिम दो में कोई गणित नहीं है। प्रथम श्लोक में प्रजापति की वंदना है और दूसरे में काल की। तीसरे में ज्योतिष-शास्त्र का उद्देश्य बताया गया है और चौथे में बताया गया है कि वेदांगों में ज्योतिष सर्वश्रेष्ठ है। लिखा है:

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥

अर्थ—जैसे मोरों में शिखा है और नागों (सर्पों) में मणि, इसी प्रकार वेदांग-शास्त्रों में ज्योतिष चोटी पर है।

अंतिम श्लोक में ज्योतिषी के लिए आशीर्वाद है। लिखा है कि:

"वह विद्वान जो चंद्रमा, सूर्य और नक्षत्रों की गतियों को जानता है इस लोक में बाल-बच्चे पा कर सुखी होगा और (मृत्यु के पश्चात) चंद्रमा, सूर्य और नक्षत्रों के लोक में जायगा।"

श्लोक ४२ ज्योतिष विषयक नहीं है। उसमें त्रैराशिक का प्रसिद्ध नियम है जो अंकगणित में अत्यंत उपयोगी है।

इस प्रकार ३७ श्लोक बच जाते हैं जिनमें ज्योतिष-संबंधी विषय हैं।

युग

जैसा पहले बताया जा चुका है समय के लिए तीन प्राकृतिक एकाइयाँ हैं। वे हैं (१) अहोरात्र (अर्थात दिन-रात), (२) चांद्र मास, और (३) वर्ष। प्रत्येक प्राचीन पद्धति में प्रधानतः इसी समस्या का हल रहता था कि इन एकाइयों में क्या संबंध है। पृथ्वी के अपने अक्ष के परितः एक बार घूमने से हमें अहोरात्र मिलता है, चंद्रमा की एक पूर्णिमा (या अमावस्या) से आगामी पूर्णिमा (या अमावस्या) तक एक चांद्र मास होता है और यह पृथ्वी के परितः चंद्रमा के परिक्रमण के कारण उत्पन्न होता है। सूर्य पृथ्वी के परितः चक्कर लगाता हुआ दिखायी पड़ता है; एक चक्कर का समय एक वर्ष होता है और यह एक बरसात से आगामी बरसात तक का समय है।

इन तीन एकाइयों के अतिरिक्त लोग यह भी जानना चाहते थे कि तारों के बीच चंद्रमा आज कहाँ पर है। इसके लिए चंद्रमार्ग को सत्ताइस बराबर भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक नक्षत्र कहा गया है, जिनके नाम पहले बताये जा चुके हैं।

देखने की बात है कि एक चांद्र मास में पूरे-पूरे दिन नहीं होते। वस्तुतः, आधुनिक नापों के अनुसार एक चांद्र मास में २९·५३०५८८ ... दिन होते हैं। इसी प्रकार वर्ष में दिनों की संख्या भी पूर्ण संख्या नहीं है। एक वर्ष में ३६५·२४२ ... दिन होते हैं। प्राचीन समय में दशमलव पद्धति चली नहीं थी और भिन्नों का ज्ञान भी सीमित ही था। इसलिए तब लोग युगों का प्रयोग करते थे जो बहुत ही सुंदर प्रथा है। वे कई वर्षों की अवधि चुन कर उसे युग कहते थे और तब बताते थे कि इस युग में कितने वर्ष, कितने मास और कितने दिन होते हैं। इस प्रकार भिन्नों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। जब फल बेचने वाला कहता है कि पाँच आने में दो आम मिलेंगे तो वह भिन्नों से बचने की उसी रीति का प्रयोग करता है जिसे वेदांग-ज्योतिष ने मास में दिनों की संख्या बताने के लिए अपनाया था।

प्रत्यक्ष है कि युग जितना ही लंबा चुना जायगा, चांद्र मास की लंबाई उतनी ही अधिक सूक्ष्मता से बतायी जा सकेगी। उदाहरणतः, हम चाहें तो केवल दो चांद्र मासों का युग चुन कर कह सकते हैं कि एक युग में दो चांद्र मास होते हैं और उतने ही में ५९ दिन होते हैं। तो इस प्रकार एक चांद्र मास में ठीक-ठीक २९·५ दिन होंगे। परंतु चांद्र मास इससे कुछ लंबा होता है। तो भी इससे अधिक सूक्ष्मता इस छोटे से युग में मासों और दिनों की संख्या को पूर्ण संख्याएँ रख कर हम ला ही नहीं सकते। यदि एक युग में केवल एक दिन अधिक रक्खा जाय तो एक चांद्र मास में दिनों की संख्या तुरंत ३० हो जायगी, जो वास्तविकता से बहुत अधिक है। इससे स्पष्ट है कि अधिक सूक्ष्मता के लिए आवश्यक है कि अधिक लंबा युग चुना जाय।

पंचवर्षीय युग

वेदांग-ज्योतिष में ५ वर्ष का युग चुना गया है और बताया गया है कि एक युग में १८३० दिन होते हैं और ६२ चांद्र मास होते हैं। १८३० को ६२ से भाग देकर हम देख सकते हैं कि वेदांग-ज्योतिष के अनुसार एक चांद्र मास में २९·५१६ दिन होते हैं। यह संख्या वास्तविकता से छोटी है। यदि एक युग में १८३० के बदले १८३१ दिन रक्खे जाते तो चांद्र मास की लंबाई वास्तविकता से कुछ अधिक, तो भी पहले मान की अपेक्षा शुद्धतर, निकलती; परंतु एक युग में १८३१ दिन मानने से वर्ष में दिनों की संख्या ३६६·२ हो जाती, जो वास्तविकता से

अधिक दूर है। स्पष्ट है कि वेदांग-ज्योतिष ने भी पर्याप्त लंबा युग नहीं चुना। अवश्य ही, चांद्र मास के लिए वेदांग-ज्योतिष का मान (२९·५१६ दिन) साढ़े उनतिस दिन की तुलना में बहुत अच्छा है, परंतु यह मान इतना सच्चा नहीं है कि वर्षों तक इसी मान से लगातार गणना की जाय और अंतर न पड़े। उदाहरणतः, २० वर्ष में साढ़े तीन दिन की अशुद्धि पड़ जायगी और यदि कोई प्राचीन ज्योतिषी २० वर्ष तक ठीक २९·५१६ दिन पर मास का अंत मानता चला जाता तो वह देखता कि जब उसकी गणना से अमावस्या होती तो आकाश में चंद्रमा हँसिया-सा दिखायी पड़ता रहता और वह तुरंत देख लेता कि उसकी गणना में लगभग ३½ दिन की अशुद्धि है।

अब स्पष्ट है कि वेदांग-ज्योतिष में एक मौलिक त्रुटि थी; यह कि युग बहुत छोटा चुना गया था। पीछे जो ज्यौतिष ग्रंथ लिखे गये उनमें युग अत्यंत लंबा रक्खा गया। उदाहरणतः, आर्यभटीय में (जिसकी रचना पाँचवीं शताब्दी ई० में हुई) ४३,२०,००० वर्षों का युग माना गया था।

भिन्न

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वेदांग-ज्योतिष में कहीं भिन्न हैं ही नहीं। परंतु जहाँ-जहाँ भिन्नों की आवश्यकता पड़ी है वहाँ सब से छोटे भिन्न को कोई विशेष नाम दे दिया गया है। उदाहरणतः, एक नक्षत्र के एक सौ चौबीसवें भाग को एक भांश कहा गया है। जिसे हम अब $\frac{११}{१२४}$ भांश लिखेंगे उसे वेदांग-ज्योतिष में ११ भांश कहा गया है। इसी प्रकार एक दिन को ६०३ भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक कला कहा गया है। फिर एक कला को १२४ भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक काष्ठ कहा गया है और एक काष्ठ को पाँच भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक अक्षर कहा गया है। यह तो प्रत्यक्ष है कि ये नाम इसलिए नहीं रक्खे गये थे कि समय की पूर्वोक्त एकाइयाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इन एकाइयों की कल्पना केवल इसलिए की गयी थी कि ग्रंथकार को दिन के ऐसे भिन्नों की आवश्यकता पड़ गयी थी जिनके हर में ६०३ × १२४ × ५ आता है और उस समय भिन्नों का प्रचलन कम था; और संभवतः इसलिए भी कि छंद रचने में नामयुक्त भिन्नों से सुगमता होती थी। सौभाग्यवश भिन्नों की आवश्यकता बहुत कम पड़ी, अन्यथा नामों का एक बृहत समूह खड़ा हो जाता, जिसे गढ़ने में भी कठिनाई पड़ती और स्मरण रखने में भी।

वेदांग ज्योतिष में क्या है

जैसा पहले बताया गया है यजुर्वेद ज्योतिष के ६ श्लोकों का गणित से कोई संबंध नहीं है। शेष श्लोकों में से २१ में या तो परिभाषाएँ हैं या तथ्य बताये

गये हैं। शेष १६ श्लोकों में ज्योतिष घटनाओं की गणना के लिए नियम दिये गये हैं।

परिभाषाओं में आढक, द्रोण, कुडव, नाडिका, पाद, काष्ठ, कला, मुहूर्त और ऋतुशेष की परिभाषाएँ हैं। तथ्यों में यह बताया गया है कि युग में कितने वर्ष, मास और दिन होते हैं; एक युग में तारों का उदय कितनी बार होता है; युग में जो दो अधिमास (लौंद के महीने) लगते हैं उन्हें कब-कब लगना चाहिए, और इसी प्रकार की कुछ अन्य बातें। युग के आरंभ वाले क्षण पर सूर्य और चंद्रमा की क्या स्थितियाँ रहती हैं इनका भी स्पष्ट उल्लेख है। यह भी बताया गया है कि उत्तरायण और दक्षिणायन का आरंभ कब-कब होता है। पाठक को ज्ञात होगा कि इन क्षणों पर सूर्य अपनी वार्षिक परिक्रमा में[1] क्रमानुसार उत्तर और दक्षिण जाना आरंभ करता है। तीन श्लोकों में २७ नक्षत्रों के देवताओं के नाम गिनाये गये हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि यह गणित-ज्योतिष के लिए बेकार है, क्योंकि आगे चलकर एक श्लोक में सत्ताइसों नक्षत्रों को एक विशेष क्रम में प्रदर्शित किया गया है और संक्षिप्तता के विचार से यह आवश्यक था कि एक-एक अक्षर से ही एक-एक नक्षत्र को इंगित किया जाय। इस काम में जहाँ दुविधा पड़ने का भय था वहाँ नक्षत्र के देवता के नाम से कोई लाक्षणिक अक्षर लेकर काम बड़ी सुन्दरता से पूरा किया गया है। इसलिए, यदि देवताओं का नाम न बताया जाता तो उस श्लोक को समझना ही असंभव हो जाता; यही पूर्वोक्त श्लोकों की महत्ता है। एक श्लोक का संबंध विशुद्ध फलित ज्योतिष से है; उसमें बताया गया है कि कौन-कौन से नक्षत्र अशुभ हैं।

एक श्लोक में बताया गया है कि सबसे लंबे दिन का मान क्या है। यह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे हम पता चला सकते हैं कि लेखक के निवास-स्थान का अक्षांश क्या था। इस पर विचार आगे चलकर किया गया है।

शेष १६ श्लोकों में, जैसा ऊपर बताया गया है, गणना के नियम हैं। इनमें से एक श्लोक में बताया गया है कि किन तिथियों का क्षय होता है। पाठक को ज्ञात होगा कि भारतीय पद्धति में तिथियाँ क्रमानुसार सभी नहीं आतीं। बहुधा एक

[1] संभवतः कोई पाठक आपत्ति करेगा कि सूर्य तो स्थिर है; पृथ्वी परिक्रमा करती है। परंतु इस बात को जानते हुए भी सुविधा रहने पर ज्योतिष में यह कह देने की प्रथा है कि "सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है"। यह सूर्य की आभासी गति है और किसी को इससे भ्रम नहीं होता।

तिथि छूट जाती है ; छूटी हुई तिथि को ही क्षय तिथि कहते हैं । उदाहरणतः, एक दिन तृतीया हो सकती है और आगामी दिन चतुर्थी न होकर पंचमी हो सकती है । तब कहा जायगा कि चतुर्थी का क्षय हुआ । तिथियों के क्षय होने का कारण यह है कि एक चांद्र मास में लगभग २९½ दिन होते हैं और ३० तिथियाँ होती हैं । इसलिए दो महीने में ५९ दिन और ६० तिथियाँ होती हैं । इससे स्पष्ट है कि लगभग दो महीने में औसतन एक तिथि का क्षय तो होगा ही ; अन्यथा तिथियों और मास का संबंध टूट जायगा ।

आठ श्लोकों में बताया गया है कि पूर्णिमा या अमावस्या पर अपने नक्षत्र में चंद्रमा किस स्थान पर रहता है । तीन श्लोकों में बताया गया है कि नक्षत्र में सूर्य के स्थान का पता कैसे लगाया जाय । तीन श्लोकों में बताया गया है कि विषुव की गणना कैसे की जाय (विषुव पर दिन और रात दोनों बराबर होते हैं) । एक श्लोक में बताया गया है कि योग का कैसे पता लगाया जाय । योग सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों का जोड़ है, और इस जोड़ के न्यूनाधिक होने के अनुसार इसे कई विशेष नाम दे दिये गये हैं । पीछे योग के अनुसार शुभाशुभ विचार होने लगा, जो फलित ज्योतिष के अंतर्गत है ।

वेदांग-ज्योतिष के अनुसार तिथि-नक्षत्र

वेदांग-ज्योतिष में पंचांग-पद्धति स्थूल रूप से वही है जो वर्तमान समय में हिंदुओं में प्रचलित है । महीने चंद्रमा के अनुसार चलते थे, जैसे अब भी चलते हैं । एक मास को ३० भागों में बाँटा जाता था और प्रत्येक को एक तिथि कहते थे । तिथि और चंद्रमा की आकृति का संबंध बनाये रखने के लिए कोई-कोई तिथियाँ छोड़ दी जाती थीं, जिसका कारण ऊपर समझाया जा चुका है । वर्ष में साधारणत १२ महीने होते थे, परंतु आवश्यकतानुसार वर्ष में एक महीना बढ़ा दिया जाता था, जिसमें वर्ष के आरंभ और ऋतु का संबंध न टूटने पाये ।

एक अद्भुत सूत्र

दो पंक्तियों के एक सूत्र में सत्ताइसों नक्षत्र एक विशेष क्रम में इंगित किये गये हैं । उस श्लोक में कोई नक्षत्र किस स्थान में आता है इसे गिन कर तुरंत जाना जा सकता है कि जब सूर्य उस नक्षत्र में रहता है तो पूर्णिमा या अमावस्या के क्षण नक्षत्र के आदि विंदु से सूर्य कितना हटा रहता है । २७ अक्षरों को इस प्रकार चुनना कि उनसे बिना किसी प्रकार की दुविधा के सत्ताइसों नक्षत्रों का पता चले, फिर उन्हें उस क्रम से रखना जो गणना के अनुसार प्राप्त होता है, और उनसे एक श्लोक

बना देना सूत्र बनाने की कला में अवश्य ही आश्चर्यजनक निपुणता है। श्लोक यह है :

जौद्रागः खे श्वे ही रो षा चिन्मूषक्ण्यः सूमा धानः
रेमृघास्वापोजः कृष्योहज्येष्ठा इत्यृक्षालिंगैः या ।

इस श्लोक में नक्षत्र-सूचक अक्षर नक्षत्र के नाम का आदि, मध्य, या अंत वाला अक्षर है। जहाँ ऐसा करने पर भ्रम होने का डर था, या जहाँ एक ही नाम के दो नक्षत्र थे, वहाँ नक्षत्र के देवता के नाम से अक्षर चुना गया है। नीचे प्रत्येक अक्षर का तात्पर्य दिया जाता है[1] :

१. ज्यौ = अश्वयुजौ = अश्विनी;
२ द्रा = आर्द्रा;
३ गः = भगः (पूर्वा फाल्गुनी के देवता);
४. खे = विशाखे;
५. श्वे = विश्वेदेवा (उत्तराषाढा के देवता);
६. हिः = अहिर्बुध्न्य (उत्तरा भाद्रपदा के देवता);
७. रो = रोहिणी;
८. षा = आश्लेषा;
९. चित् = चित्रा;
१०. मू = मूल;
११. षक् = शतभिषक्;
१२. ण्यः = भरण्यः, भरणी;
१३. सू = पुनर्वसू;
१४. मा = अर्यमा (उत्तरा फाल्गुनी के देवता);
१५. धा = अनुराधा;
१६. नः = श्रवणः;
१७. रे = रेवती;
१८. मृ = मृगशिरा;
१९. घा = मघा;
२०. स्व = स्वाती;
२१. पः = अपः (पूर्वाषाढा के देवता);

[1] विज्ञान, दिसम्बर, १९४४; पृष्ठ ५४ ।

२२. अजः=अजएकपात् (पूर्वा भाद्रपदा के देवता);
२३. कृ=कृत्तिका;
२४. ष्यः=पुष्यः;
२५. ह=हस्त;
२६. ज्ये=ज्येष्ठा;
२७. ष्ठा=श्रविष्ठा।

वेदांग-ज्योतिष का काल

वेदांग-ज्योतिष में यह बताया गया है कि विषुव के अवसर पर (जब दिन और रात दोनों बराबर होते हैं) तारों के सापेक्ष सूर्य कहाँ रहता है। देखने की बात है कि यह स्थिति सदा एक-सी नहीं बनी रहती। यह धीरे-धीरे बदलती रहती है और विषुव के इस चलने को 'अयन' कहते हैं। इसलिए वेदांग-ज्योतिष में बतायी गयी स्थिति से उस ग्रंथ का काल-निर्णय हो सकता है। गणना से पता चलता है कि यह लगभग १२०० ई० पू० की बात होगी। यूरोपीय विद्वानों में से कई एक वेदांग-ज्योतिष की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि तारों के सापेक्ष सूर्य की स्थिति नापना कठिन है और इसलिए इसमें अधिक त्रुटि हो जाने की संभावना है। फिर यह भी संभव है कि वेदांग-ज्योतिष के ग्रंथकार ने अपने समय में स्वयं विषुव पर सूर्य की स्थिति का वेध न किया हो। उसने किसी प्राचीन प्रमाण के आधार पर सुनी-सुनायी बात लिख दी हो। यह तो मानना पड़ेगा कि त्रुटि की संभावना है और पुरानी बात के लिखे जाने की संभावना है, परंतु निष्पक्ष विचार में यह भी मानना पड़ेगा कि त्रुटि ऐसी भी हो सकती है जिसके कारण वेदांग-ज्योतिष की प्राचीनता कुछ कम निकली हो। कुछ भी हो, अन्य प्रमाण के अभाव में यही मानना उचित होगा कि वेदांग-ज्योतिष का काल लगभग १२०० ई० पू० है। आगामी अध्याय में इन बातों पर अधिक विस्तार से विचार किया जायगा।

वेदांग ज्योतिष का लेखक

ऋग्वेद ज्योतिष के श्लोक २ में[१] और यजुर्वेद ज्योतिष के श्लोक ४३ में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि पुस्तक के ज्योतिष का ज्ञान लेखक को महात्मा लगध से मिला है। यद्यपि इन दो श्लोकों की रचना विभिन्न है तो भी अर्थ एक ही है।

[१] कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।

परंतु स्वयं लेखक कौन है इस विषय पर मतभेद है। पुस्तक के प्रथम श्लोक से कुछ लोग यह कहते हैं कि लेखक का नाम 'शुचि' था, परंतु इस अर्थ के बदले कि "मैं, शुचि, बताऊँगा..." यह अर्थ भी लग सकता है कि "मैं, शुद्ध हो कर, बताऊँगा..."।

यह कहना कठिन है कि लगध महात्मा कौन थे, क्योंकि संस्कृत साहित्य में उनका नाम अन्यत्र कहीं नहीं आता। परंतु लगध शब्द संस्कृत मूल से उत्पन्न हुआ नहीं जान पड़ता। इससे कुछ लोगों की धारणा है कि वे कोई विदेशी रहे होंगे और भारत में ज्योतिष का ज्ञान विदेश से आया होगा।

वेदांग-ज्योतिष में यह दिया हुआ है कि बड़े-से-बड़े दिन की लंबाई क्या थी। इससे हम इसका पता लगा सकते हैं कि जिस स्थान में ग्रंथकार रहता था वहाँ का अक्षांश क्या था। गणना से पता चलता है कि अक्षांश लगभग ३५° रहा होगा। उत्तर काश्मीर या अफगानिस्तान के स्थानों में यह अक्षांश संभव है। इसलिए संभावना यह है कि वेदांग-ज्योतिष का ग्रंथकार कहीं वहीं का निवासी था। दिनमान को, अर्थात दिन की लंबाई को, लोग छेद वाली पेंदी के बरतन का पानी में डूबना गिनकर सुगमता से नाप सकते थे। इसलिए ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती कि दिनमान त्रुटिहीन होगा और इसलिए उसके आधार पर निकाले गये अक्षांश पर भरोसा किया जा सकता है।

केवल मध्यक गतियाँ

कुछ बातें वेदांग-ज्योतिष में नहीं हैं जिनको रहना चाहिए था। ग्रंथकार ने कहीं इसकी चर्चा नहीं की है कि चंद्रमा और सूर्य समान कोणीय वेग से नहीं चलते। यह मानकर कि चंद्रमा और सूर्य समान कोणीय वेग से चलते हैं, जो यथार्थ नहीं है, सब गणना की गयी है। इसलिए वेदांग-ज्योतिष में सब तिथियाँ बराबर लंबाई की मानी गयी हैं। पीछे के सब ज्यौतिष ग्रंथों में (सूर्य-सिद्धांत, आदि में) चंद्रमा और सूर्य के असमान कोणीय वेगों पर विचार किया गया है; तिथियाँ छोटी-बड़ी मानी गयी हैं और उनकी गणना के लिए आवश्यक नियम दिये गये हैं। संभवतः वेदांग-ज्योतिष के ग्रंथकार को इसका पता न रहा होगा कि चंद्रमा और सूर्य असमान कोणीय वेग से चलते हैं। यह भी हो सकता है कि उसने गणना की सुगमता के लिए माना हो कि ये पिंड समान वेग से चलते हैं, परंतु ऐसा अधिक संभव नहीं जान पड़ता।

वेदांग-ज्योतिष के ग्रंथकार को अयन का पता नहीं था और इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है कि उस प्राचीन काल में इस सूक्ष्म गति का ज्ञान नहीं था।

वेध और गणना में अंतर

एक बात अवश्य विचित्र है। यह कहीं नहीं बताया गया है कि यदि वेध और गणना में अंतर पड़ जाय तो उसका समाधान कैसे करना चाहिए। हम देख चुके हैं कि युग के छोटा होने के कारण, और संभवतः वेधों के पर्याप्त सूक्ष्म न होने के कारण, वर्ष और मास की लंबाइयों में त्रुटियाँ थीं, और वेदांग-ज्योतिष के नियमों के लगातार प्रयोग से कुछ वर्षों में इतना अंतर पड़ सकता था कि उसकी अवहेलना नहीं हो सकती थी। इसलिए कोई इस प्रकार का नियम अवश्य होना चाहिए था कि इतने वर्षों में इतने दिन छोड़ दो; या वेध करके देख लो और आवश्यक दिन छोड़ दो।

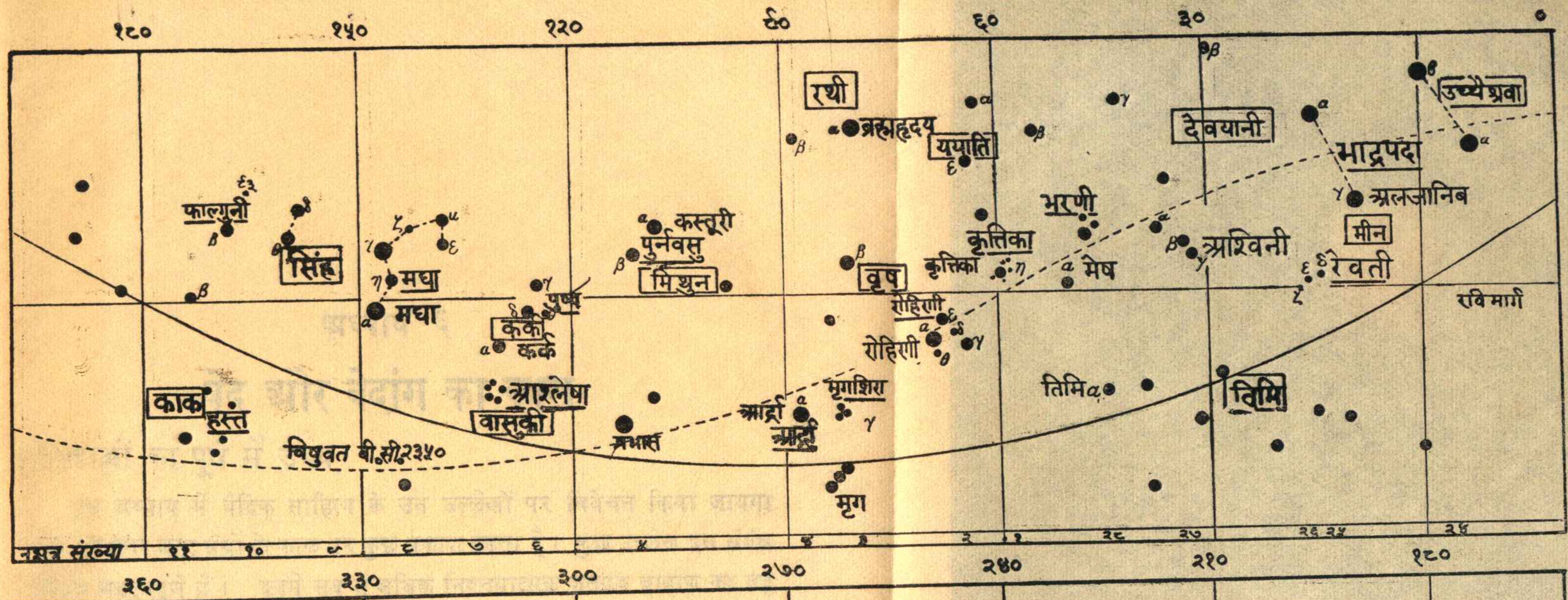
हम अब केवल अनुमान कर सकते हैं कि क्या होता रहा होगा। या तो ऐसे नियम थे और अब उनका लोप हो गया है, जैसा लाला छोटे लाल का मत है; या कोई नियम नहीं थे और समय-समय पर गणना में संशोधन करके गणना के परिणाम को आँख से देखी बातों के अनुसार कर दिया जाता था, जैसा डाक्टर शामशास्त्री का मत है। लाला छोटे लाल ने बहुत ज़ोरदार शब्दों में अपने मत का **समर्थन** किया है कि वेदांग-ज्योतिष किसी बड़े ज्योतिष-ग्रंथ का सारांश-मात्र है; परंतु मुझे भी ऐसा लगता है कि संपूर्ण नियम न रहे होंगे। केवल कभी-कभी गणना में कुछ घटती-बढ़ती कर दी जाती रही होगी, जैसे पीछे बीज-संस्कार करके दृक्-तुल्यता लायी जाती थी। डाक्टर शामशास्त्री का मत है कि एक श्लोक में इसका संकेत है कि आवश्यकता पड़ने पर गणना में घटती-बढ़ती कर देनी चाहिए; परंतु दूसरों को यह अर्थ स्वीकार नहीं है और निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

व्रत आदि के लिए दिन निश्चित करने वालों को इसका पता अवश्य रहा होगा कि वेदांग-ज्योतिष के नियम स्थूल हैं और वे आवश्यकता के अनुसार, आँख से देख कर, गणना में संशोधन कर लेते रहे होंगे, परंतु संभवतः वे ऐसे नियम नहीं बना पाये होंगे जिससे अधिक सच्ची गणना हो सके।

यह भी आश्चर्य की बात है कि वेदांग-ज्योतिष में एक वर्ष में ३६६ दिन माने गये हैं, जब वर्ष की सच्ची लंबाई लगभग ३६५$\frac{१}{४}$ दिन है। यह तो अवश्य सत्य है कि वर्ष का आरंभ या अंत ऋतु देखकर बताना बहुत कठिन है; एक वेध में कई दिनों का अंतर पड़ सकता है। परंतु कई वर्षों का पड़ता बैठाने पर (औसत लेने पर) अधिक शुद्ध मान सुगमता से निकल सकता था। वर्षमान अशुद्ध रहने से ऋतु और वर्ष के आरंभ में अंतर लगातार बढ़ता जाता है। यदि १०० वर्षों तक सदा ३६६ दिन

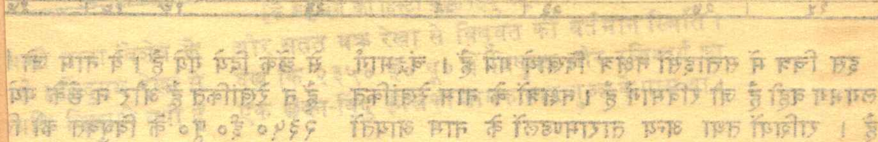
के वर्ष रक्खे जायँ तो अंत में गणना से प्राप्त और परंपरागत ऋतुओं में लगभग ७५ दिन का अंतर पड़ जायगा; अर्थात बरसात का आरंभ तभी हो जायगा जब गणना के अनुसार केवल वैशाख या जेठ बीता रहेगा, और जब लू चलनी चाहिए। अवश्य ही वर्ष को ठीक रखने के लिए कुछ अन्य भी नियम रहे होंगे, या वेदांग-ज्योतिष के बाद बने होंगे, परंतु वे अब लुप्त हो गये हैं।

दुर्भाग्य की बात है कि १२०० ई० पू० और लगभग ५०० ई० के बीच बने ज्यौतिष ग्रंथों का, या इस दीर्घ काल में ज्योतिष की उन्नति का, हमें कुछ भी पता नहीं है। ५०० ई० के लगभग कई ग्रंथ बने और उनमें से महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का वर्णन आगामी अध्यायों में दिया जायगा।



[कि महोदय की हिस्ट्री ऑफ हिंदू ऐस्ट्रॉनोमी के आधार पर

इस चित्र में सत्ताइसों नक्षत्र दिखाये गये हैं। चंद्रमार्ग लगभग वही है जो रविमार्ग है। नक्षत्रों के नाम रेखांकित हैं। राशियों तथा अन्य तारामण्डलों के नाम आयतों से छेंक दिये गये हैं। वे नाम जो किसी तारा विशेष के हैं न रेखांकित हैं और न छेंके गये है। बिंदुमय रेखा से २३५० ई० पू० के विषुवत की स्थिति दिखायी गयी है और सतत वक्र रेखा से विषुवत की वर्तमान स्थिति। देखें कि २३५० ई० पू० में विषुवत और रविमार्ग का एक छेदन-बिंदु कृत्तिका नामक तारागुच्छ के पास था।



अध्याय ६

वेद और वेदांग का काल

कृत्तिकाओं का पूर्व में उदय

इस अध्याय में वैदिक साहित्य के उन उल्लेखों पर विवेचन किया जायगा जिनसे वेद तथा अन्य ग्रंथों के काल पर कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ उल्लेख इस संबंध में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सब से अधिक निश्चयात्मक शतपथ ब्राह्मण का वह वाक्य[1] है जो बताता है कि कृत्तिकाएँ "पूर्व दिशा से नहीं हटतीं, अन्य नक्षत्र पूर्व दिशा से हटते हैं।"[2] इसमें तो कोई संदेह है नहीं कि कृत्तिकाएँ तारों के उसी छोटे समूह की सदस्याएँ हैं जिसे आज भी वही नाम दिया जाता है और जिसे अँग्रेजी में प्लाइडीज़ कहते हैं[3]। सभी इसे स्वीकार करते हैं कि दिशा उस समय की बतायी गयी है जब कृतिकाएँ उदित होती हैं[4]। फिर, पूर्वोक्त नियम इस अभि-प्राय से बताया गया है कि उसकी सहायता से यज्ञ की वेदी की दिशा ठीक की जाय। इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि ठीक पूर्व दिशा जानने के लिए ही कृत्तिकाओं के उदित होने की दिशा पूर्व दिशा बतायी गयी है। यह बात और भी पक्की

[1] २।१।२।३।

[2] एर्गालिंग के अनुवाद के आधार पर (देखो सेकरेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, १२।

[3] वैदिक इंडेक्स, १। पृष्ठ ४१५।

[4] दीक्षित: इंडियन एँटीक्वेरी, २५।२४५, और उसके बाद के लोग। जहाँ तक मैंने देखा है, केवल एक व्यक्ति ने इस उद्धरण से दूसरा परिणाम निकाला है। दीनानाथ चुलैट ने अपने 'वेदकाल-निर्णय' नामक (इंदौर से प्रकाशित) ग्रंथ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यह ३,००,००० ई० पू० की बात है। इस पुस्तक का सारांश आई० एच० क्यू० ९(१९३३)।९२३ में छपा है।

इससे हो जाती है कि कहा गया है कि अन्य नक्षत्र पूर्व से हटे रहते हैं। कृत्तिकाओं के पूर्व में उदित होने से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि यह किस काल की बात है; क्योंकि अयन के कारण (पृष्ठ ७२ देखो) कोई तारा पूर्व में थोड़े ही काल तक उदित होगा, और जैसे-जैसे समय बीतेगा तैसे-तैसे वह पूर्व से अधिक हट कर उदित होगा। अंतर साढ़े छः हजार वर्ष तक बढ़ता जायगा और तब घटने लगेगा। लगभग १३,००० वर्ष बाद तारा फिर पूर्व में उदित होगा। इसलिए इस बात की गणना सुगमता से हो सकती है कि कृत्तिकाएँ कब पूर्व में उदित होती थीं। परिणाम यह निकलता है कि ऐसा २५०० ई० पू० में होता था[1]।

इस प्रश्न का उत्तर देना अधिक कठिन है कि शतपथ ब्राह्मण अपने समय की बात बता रहा है या केवल किसी प्राचीन बात को दोहरा रहा है। दीक्षित[2] का विचार है कि यह बात लगभग शतपथ ब्राह्मण के ही समय की है, प्राचीन नहीं। उनका कहना है कि यह बात तब लिखी गयी होगी जब कृत्तिकाएँ वस्तुतः पूर्व में उदित होती थीं, क्योंकि वर्तमान काल का प्रयोग करके लिखा गया है कि कृत्तिकाएँ पूर्व में उदित होती हैं। यदि केवल इसी एक तर्क पर भरोसा करना होता तो परिणाम को पक्का मानना कठिन होता, परंतु, जैसा नीचे दिखाया गया है, अन्य तर्कों से भी यही समय प्राप्त होता है, और यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि प्रत्येक बार ब्राह्मण ग्रंथ पुरानी ही बात दोहरा रहे हैं। परंतु नवीन तर्कों पर विचार करने के पहले यह देख लेना अच्छा होगा कि पूर्वोक्त रीति से प्राप्त समय के विरुद्ध औरों को क्या आपत्तियाँ हैं।

आपत्तियाँ

मैकडॉनेल और कीथ[3] ने आपत्तियों को इस प्रकार संक्षेप में दर्शाया है :—

शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोक्त कथन पर इसलिए भरोसा न करना चाहिए कि (क) बौधायन श्रौत सूत्र[4] में भी ऐसी ही सूचना है, जिसके साथ एक अन्य सूचना

[1] दीक्षित ने, आई० ए०, २४। २४५-२४६ में, गणना करके ३,००० ई० पू० प्राप्त किया है, परंतु अयन का जो मान उन्होंने लिया था वह कुछ अशुद्ध था। २,५०० ई० पू० अधिक ठीक तिथि है। देखो के: हिंदू ऐस्ट्रॉनोमी मेमॉयर्स ऑव दि आर्किओलॉजिकल सरवे ऑव इंडिया, १८ (१९२४)।

[2] वही, २४६।

[3] वेदिक इंडेक्स, १।४२७।

[4] १८।५।

भी है, जो, बार्थ के अनुसार[१], केवल छठवीं शताब्दी ई० या उसके बाद सच हो सकती है, और (ख) वही बात जो शतपथ ब्राह्मण में है माध्यंदिन पाठ[२] में भी है, परंतु उसके साथ यह भी लिखा है कि कृत्तिकाओं की संख्या अन्य नक्षत्रों के तारों की संख्या से अधिक है; अन्य नक्षत्रों में केवल एक, दो, तीन, या चार तारे होते हैं, या काण्व पाठ[३] के अनुसार, चार तारे होते हैं।

मैकडॉनेल और कीथ यह भी कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों के इन उल्लेखों पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हस्त में पाँच तारे थे[४] (नाम भी हस्त इसलिए पड़ा कि हाथ में पाँच अँगुलियाँ होती हैं) और संभवतः ऋग्वेद[५] में भी हस्त में पाँच तारों के होने का संकेत है।

बौधायन श्रौत सूत्र

परंतु ये आपत्तियाँ सबल और ग्राह्य नहीं जान पड़तीं। बौधायन श्रौत सूत्र में जिस वाक्य का उल्लेख किया है वह यों है :—

"शाला को यहाँ नापना चाहिए, जिसकी छानी की बल्लियाँ पूर्व की दिशा में रहती हैं। कृत्तिकाएँ पूर्व की दिशा से नहीं हटतीं। उनकी ही दिशा में इसे नापना चाहिए, यह एक रीति है। श्रोण की दिशा में नापे यह दूसरी है; चित्रा और स्वाती के मध्य नापे यह तीसरी।"

यहाँ पहली रीति तो वही है जो शतपथ ब्राह्मण में दी हुई है। परंतु यह नियम वर्ष के सात-आठ महीनों तक लागू नहीं हो सकता था, क्योंकि इतने समय तक कृत्तिकाओं का उदय प्रतिवर्ष दिन में या उषा अथवा संध्या काल में होता है। इसीलिए बौधायन श्रौत सूत्र ने दो अन्य वैकल्पिक रीतियाँ भी बता दी हैं। शतपथ को आदर के साथ देखने के कारण, और साथ ही अयन का ज्ञान न रहने के कारण, यह मान लिया गया होगा कि उदय होती हुई कृत्तिकाओं की दिशा में शाला की बल्ली रखना ठीक है ही, और तब दो अन्य तारों को चुना होगा जो ठीक उसी दिशा में उदित होते रहे होंगे जिसमें कृत्तिकाएँ उदित होती थीं। इससे हमें यह बहुमूल्य सूचना मिलती

[१] देखो कैलंड : यीबर डास रिचुयेल सूत्र डेस बोधायन, ३७-३९।

[२] शतपथ ब्राह्मण, २।१।२।२।

[३] देखो एगलिंग : सेकरेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, १२।२८२। टिप्पणी २।

[४] तुलना करो : वेबर : नक्षत्र, २।३६८।३८१।

[५] १।१०५।१०।

है कि बौधायन श्रौत सूत्र के समय में श्रोण और कृत्तिकाओं का उदय एक ही दिशा में होता था। इससे पता चलता है कि बौधायन श्रौत सूत्र का समय लगभग १३३० ई० पू० रहा होगा[1]। तीसरा विकल्प भी इस दिनांक के अनुसार ही है। उस समय चित्रा और स्वाती के ठीक बीच का विंदु भी उसी दिशा में क्षितिज पर आता था जिस पर कृत्तिकाएँ आती थीं। कृत्तिकाएँ, श्रोण और चित्रा-स्वाती का मध्यविंदु ये तीनों आकाश में ऐसी स्थितियों में हैं कि वर्ष के प्रत्येक महीने में इनमें से एक-न-एक का उदय देखा जा सकता था।

सूत्र ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के बाद बने[2]। इसलिए बौधायन श्रौत सूत्र के लिए १३३० ई० पू० शतपथ के लिए २५०० ई० पू० का समर्थन ही करता है।

इससे प्रत्यक्ष है कि बौधायन श्रौत सूत्र में दिये गये तीन विकल्प यह नहीं सिद्ध करते कि शतपथ का नियम भ्रममूलक था। फिर, विविध नक्षत्रों में तारों की गिनतियों से भी यह नहीं सिद्ध होता कि शतपथ अविश्वसनीय है, क्योंकि मौलिक कथन कि कृत्तिकाओं में अन्य नक्षत्रों से अधिक तारे हैं सत्य है ही। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्य नक्षत्रों के तारों की गिनती बताने में शतपथ ने गलती की है, क्योंकि यह ज्ञात नहीं है कि उस समय हस्त में कितने तारे माने जाते थे। चीन वाले नक्षत्रों को स्यू कहते थे और हस्त वाले तारिका-पुंज में वे केवल चार तारे गिनते थे[3]। वेद में हस्त नक्षत्र में पाँच तारों के बारे में जिस वाक्य का संकेत किया गया है वह यों है :

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रावाच्यं सध्रीचीना नि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी ॥१०॥

ऋग्वेद १।१०५

इसका अर्थ रामगोविंद त्रिवेदी और गौरीनाथ झा ने यह लगाया है :—

विशाल आकाश में ये जो (अग्नि, वायु, सूर्य, इंद्र और विद्युत आदि) पाँच अभीष्टदाता हैं, वे मेरे इस प्रशंसनीय स्तोत्र को शीघ्र देवों के पास ले जाकर लौट आयें। द्यावा-पृथिवी, मेरी यह बात जानो।

[1] देखो गोरखप्रसाद : जरनल, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लंडन, जूलाई, १९३६।

[2] मैकडॉनेल : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर (१९००), ३५।

[3] ह्विटनी : ओरियंटल ऐंड लिंग्विस्टिक स्टडीज़, २।३५३।

दूसरों ने भी इस ऋचा के अनुवाद में हस्त में पाँच तारों के होने की बात नहीं लिखी है[१]। जान पड़ता है कि हस्त के तारों और इस ऋचा से कोई संबंध है ही नहीं; पाँच की संख्या आ जाने से यह समझना कि उस समय हस्त में पाँच तारे होते थे भ्रम है।

स्वयं बार्थ का यही कहना है कि शतपथ की बात उस समय के वेधों के आधार पर है जब कृत्तिकाएँ पूर्व में उदित होती थीं[२]। इस प्रकार मैकडॉनेल और कीथ की सब आपत्तियाँ निर्मूल ही जान पड़ती हैं।

विंटरनिट्स की आपत्तियाँ

विंटरनिट्स[३] ने शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोक्त वाक्य का अर्थ यह लगाया है कि कृत्तिकाएँ पूर्व की ओर बहुत अधिक समय तक—कई घंटों तक—प्रति रात्रि दिखायी पड़ती हैं, और इसलिए यह बात लगभग ११०० ई० पू० की है। उनका कथन है की इस अर्थ की सत्यता का प्रमाण बौधायन श्रौत सूत्र के वाक्य में मिलता है।

परंतु विंटरनिट्स का अर्थ निस्संदेह ठीक नहीं है। कारण यह है कि यदि स्थूल रूप से ही पूर्व दिशा बतानी होती तो किसी भी ऐसे तारे, या तारका-पुंज, से काम चल जाता जो विषुवत के आस-पास होता। यदि स्थूल रूप से ही पूर्व दिशा जाननी होती तो शतपथ ब्राह्मण यह क्यों कहता कि अन्य नक्षत्र पूर्व दिशा से हटे रहते हैं, और बौधायन श्रौत सूत्र यह कहने का कष्ट क्यों उठाता कि चित्रा और स्वाती का मध्य विंदु भी एक विकल्प है? स्थूल माप के लिए केवल चित्रा से ही काम चल जाता, या स्वाती से काम चल जाता; और बीसों अन्य तारे इस काम के लिए उपयुक्त होते। फिर विंटरनिट्स का यह कहना कि शतपथ में बतायी बात लगभग ११०० ई० पू० की है बहुत ही भ्रममूलक है। यदि उदय के बदले कई घंटों तक की कृत्तिकाओं की औसत स्थिति ली जाय तो २५०० ई० पू० के दो-चार हजार वर्ष इधर या इतना ही उधर से भी काम चल जायगा!

[१] देखो ग्रिफिथ : दि हिम्स ऑव दि ऋग्वेद, १।१७९; ग्रासमान : ऋग्वेद यीबरट्ज़ेसुंग, २।१०६।

[२] वही, ३८।

[३] ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, श्रीमती केतकर द्वारा अनुवादित, १, २९८। विंटरनिट्स के अर्थ की आलोचना सेनगुप्त ने भी की है: आई० एच० क्यू०, १० (१९३४), ५३९।

वैदिक काल में वेध

अंत में, इस पर भी जोर दिया गया है[१], यद्यपि दिशा ज्ञात करने के संबंध में नहीं, कि वैदिक काल के हिंदू ज्योतिषी अच्छे वेधकर्ता न थे, क्योंकि वे वर्ष में दिनों की संख्या को भी ठीक-ठीक न नाप सके थे, यहाँ तक कि वेदांग-ज्योतिष में भी वर्ष में ३६६ दिन माने गये हैं और सूर्य-सिद्धांत तक में अयन का ज्ञान नहीं है। परंतु यदि ये सब आक्षेप ठीक भी हों[२], तो इनसे यह नहीं समझा जा सकता कि पूर्व दिशा ज्ञात करना, जो अपेक्षाकृत अति सरल है, वैदिक कालीन आर्यों को ठीक-ठीक न आता था। यदि कोई व्यक्ति सदा एक ही स्थान से वेध करे[३] (स्मरण रहे कि यज्ञ के लिए प्राचीन समय में वेदी नियत स्थान में बनी ही रहती थी) और क्षितिज मील भर पर या अधिक दूरी पर रहे (जैसा भारतवर्ष में साधारणतः रहता ही है), तो उदित होते समय सूर्य या चमकीले तारे की दिशा बिना किसी यंत्र के ही कम-से-कम आधे अंश (डिगरी) तक ज्ञात तो की ही जा सकती है[४]। इसमें भी संदेह नहीं कि क्षितिज के उस विंदु को ध्यान से देखा जाता था जहाँ सूर्य का उदय होता था, क्योंकि कौषीतकी ब्राह्मण में इस विंदु के उत्तर-दक्षिण हटने का सूक्ष्म वर्णन है[५]। वहाँ बताया गया है कि किस प्रकार यह विंदु दक्षिण हटता है, फिर कुछ समय तक स्थिर जान पड़ता है और तब उत्तर जाता है। यदि सूर्योदय के उन दो विंदुओं को देख लिया जाय जो महत्तम उत्तर और महत्तम दक्षिण की ओर रहते हैं, और

[१] मकडॉनेल और कीथ : वेदिक इंडेक्स, १।४२३-२४।

[२] देखो बार्हस्पत्य (छोटे लाल), ज्योतिष वेदांग (१९०७), १९, जहाँ उन्होंने सिद्ध किया है कि ३६६ दिन विशेष प्रयोजन से चुना गया था। फिर, सूर्य-सिद्धान्त में अयन की चर्चा है (३।९) और जितना लिखा है उस समय के लिए पर्याप्त था, परंतु गुरुत्वाकर्षण न जानने के कारण सूर्य-सिद्धांत यह नहीं बता सकता था कि सुदूर भविष्य में क्या होगा।

[३] तीस फुट इधर-उधर हटने से कोई हानि न होगी। यदि क्षितिज एक मील पर हो तो इतने से एक-तिहाई अंश (डिगरी) से कम का अंतर पड़ेगा और यदि क्षितिज अधिक दूरी पर हो तो उसी हिसाब से और कम अंतर पड़ेगा।

[४] चंद्रमा का व्यास लगभग आधे अंश का है।

[५] १९।२।३।

क्रियात्मक ज्यामिति[1] से, या दिनों की संख्या गिनकर, या केवल अनुमान से ही, पूर्व दिशा का निर्धारण किया जाय तो इस निर्धारण में एक-दो अंश से अधिक की त्रुटि न रहेगी[2]। यह भी संभव है कि शतपथ के काल में शंकु की परछाइयों को प्रातः और संध्या समय ऐसे क्षणों पर देखकर जब वे बराबर रहती हैं उत्तर दिशा को निर्धारित करने की रीति ज्ञात रही हो, और ठीक पूर्व दिशा का निर्धारण किया जा सकता रहा हो। परंतु शंकु के प्रयोग में झंझट रहता है और अधिक समय लगता है; इसलिए सर्वसाधारण के लिए बता दिया गया हो कि कृत्तिकाओं के उदय-विंदु से शाला की बल्ली को ठीक दिशा में रक्खो, क्योंकि इस रीति में कोई असुविधा नहीं रहती।

ब्राह्मण-ग्रंथों का काल

हम देखते हैं कि कोई कारण है ही नहीं जिससे शतपथ के वाक्य पर विश्वास करने में बाधा पड़े, और इसलिए यह मानना पूर्णतया न्यायसंगत होगा कि ब्राह्मण ग्रंथों का काल लगभग २५०० ई० पू० है।

यजुर्वेद संहिताओं[3] और ब्राह्मण ग्रंथों[4] में जहाँ कहीं भी नक्षत्रों की सूचियाँ हैं सब कृत्तिका (या कृत्तिकाओं) से आरंभ होती हैं। अवश्य ही इसके लिए कोई कारण होगा। यह कल्पना और भी प्रत्यक्ष तब हो जाती है जब हम विचार करते हैं कि कई बातें जो अन्य देशों में मनमानी रीति से चुन ली गयी थीं भारत में वैज्ञानिक

[1] शुल्व-सूत्र के काल में पुरोहितों को सरल क्रियात्मक ज्यामिति का अच्छा ज्ञान था। देखो थीबो: दि पंडित, पुरानी श्रेणी, ९ और १० (१८७४-७५), अथवा दत्त: सायंस ऑव दि शुल्ब, कलकत्ता, १९३२। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि यह ज्ञान एक-दो वर्ष में उत्पन्न नहीं हुआ होगा। इसलिए बहुत संभव है कि इनमें से कई एक रीतियाँ अति प्राचीन हैं।

[2] पूर्व दिशा के निर्धारण में एक अंश की अशुद्धि से उससे निकाले गये दिनांक में लगभग १७५ वर्ष का अंतर पड़ेगा। इसमें यह मान लिया गया है कि स्थान लगभग २४ अंश के अक्षांश में है।

[3] तैत्तिरीय संहिता, ४।४।१०।१-३; मैत्रायणी सं०, २।१३।२०; काठक संहिता, ३९।१३।

[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १।५।१; ३।१।४।१ और तत्पश्चात; अथर्ववेद, १९।७।१ और तत्पश्चात।

सिद्धांतों पर निर्धारित की गयी थीं। उदाहरणतः, भारत में वर्णमाला बहुत सोच-विचार के बाद स्वर और व्यंजनों को पृथक करके और उनको उच्चारण के अनुसार क्रमबद्ध करके रक्खा गया था[१]। अन्य देशों की वर्णमाला में यह गुण नहीं पाया जाता। फिर, ऋग्वेद में ऋचाओं का क्रम एक विशेष पद्धति पर है, अनियमित रूप से उनको नहीं रक्खा गया है[२]। फिर, पंचांग वैज्ञानिक ढंग से बना था[३], जिसकी तुलना में वर्तमान यूरोपीय पंचांग भी अशिष्ट जान पड़ता है। वैदिक पंचांग में मासों का निर्धारण ठीक-ठीक चंद्रमा से होता था और वर्ष का निर्धारण सूर्य से।

अब ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ काल बाद अश्विनी नक्षत्र से आरंभ करके नक्षत्र-सूचियाँ बनने लगीं और यह निश्चित है कि ऐसा इसलिए किया गया कि उस समय विषुव-विंदु (अर्थात वह विंदु जहाँ सूर्य के रहने पर दिन और रात दोनों बराबर होते हैं और वसंत की ऋतु रहती है) अश्विनी के आरम्भ में था[४]। नवीन शैली लगभग छठवीं शताब्दी ई० में चली। इससे अवश्य ही यह धारणा होती है कि संभवतः पहली सूची भी कृत्तिका से इसलिए आरंभ होती थी कि उस समय विषुव-विंदु कृत्तिका के आरंभ में था। वेबर[५] का भी यही मत था।

यदि वसंत विषुव-विंदु वहीं था जहाँ कृत्तिकाएँ थीं तो अवश्य ही कृत्तिकाएँ ठीक उत्तर में उदित होती रही होंगी। इसलिए नक्षत्र-सूचियों का कृत्तिकाओं से आरंभ होना शतपथ ब्राह्मणों में कृत्तिकाओ के पूर्व में उदित होने की बात का पूर्ण समर्थन करता है और हम इससे परिणाम निकाल सकते हैं कि नक्षत्र-सूचियाँ लगभग २५०० ई० पू० में बनीं।[६]

[१] इसे तो सभी जानते हैं; तो भी देखो मैकडॉनेल: ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, १७।

[२] मैकडॉनेल; ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, ४१-४५।

[३] व्हिटनी, ओरियंटल ऐंड लिंग्विस्टिक स्टडीज़, २।३४५।

[४] देखो कोलब्रुक: इसेज् २।२४६; वेबर: इंडिशे स्टुडीन, १०।२३४।

[५] नक्षत्र, २।३६२-३६४; इंडिशे स्टुडीन, १०।२३५; इंडियन लिटरेचर, २, संख्या २, इत्यादि।

[६] देखो वेबर, वही; बूलर, आई० ए० २३।२४८, संख्या २०; तिलक: ओरायन, ४० और तत्पश्चात।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों[१] का विश्वास है कि कृत्तिकाएँ नक्षत्र-सूचियों के आरंभ में केवल संयोगवश रक्खी गयीं, या संभवतः वे आरंभ में इसलिए रक्खी गयीं कि उनकी पहचान बहुत सरल थी। यह स्वीकार करने में कि कृत्तिकाएँ और वसंत विषुव दोनों साथ थे उन्हें निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं :—

(क) इस बात को स्वीकार करने में कि कृत्तिकाएँ वसंत विषुव पर थीं यह मानना पड़ेगा कि उस समय नक्षत्रों का संबंध सूर्य से रहता था, न कि चंद्रमा से।[२] परंतु यह स्पष्ट है कि इस कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है। केवल यह मानना पर्याप्त होगा कि चंद्रमा और सूर्य दोनों का संबंध नक्षत्रों से था। आज भी तो यही बात ठीक है। यह कि प्राचीन समय में भी सूर्य और नक्षत्रों में संबंध माना जाता था प्राचीन ग्रंथों से सिद्ध किया जा सकता है। जैसा याकोबी[३] ने बताया, नक्षत्रों का देव और यम इन दो वर्गों में तैत्तिरीय ब्राह्मण[४] का विभाजन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है[५]।

इसके अतिरिक्त, तैत्तिरीय ब्राह्मण में[६] वेध से तारों के बीच सूर्य की स्थिति ज्ञात करने की रीति बतायी गयी है। अवश्य ही, नक्षत्रों और सूर्य के बीच संबंध पर विचार उस समय में किया जाता रहा होगा।

(ख) थीबो[७] का कहना है कि वैदिक साहित्य में विषुवों की चर्चा कहीं नहीं की गयी है और तिलक ने विषुवत का अर्थ जो विषुव लगाया है उसके लिए कोई प्रमाण

[१] थीबो, आई० ए० २४।९६; ओल्डेनबर्ग, जेड० डी० एम० जी०, ४८, ६३१; ४९, ४७३; ५०, ४५१-५२; गेटिंगेन नाखरख्टेन, १९०९, ५६४; कीथ, जे० आर० ए० एस०, १९०९, ११०३; बार्थ, कैलांड के यीबर डास रिचुएल सूत्रडेस बौधायन, ३७-३९।

[२] मैकडॉनेल और कीथ, वेदिक इंडेक्स, १।४२१।

[३] जेड० डी० एम० जी० ५०।७२।

[४] १।५।२।८।

[५] दूसरे मत के लिए देखें ओल्डेनबर्ग : जेड० डी० एम० जी०, ३८।६३१।

[६] १।५।२।१। तिलक ने अपने ग्रंथ ओरायन में इसका उल्लेख किया है; पृष्ठ १८।

[७] आई० ए०, २४।९६।

नहीं है; पीछे विषुवों को महत्त्व इसलिए दिया जाने लगा कि भारतीय ज्योतिषियों पर यूनानियों का प्रभाव पड़ा; वेदांग-ज्योतिष में तारों का भोगांश अयनांत से नापा गया था, न कि विषुव से; और यह कि पीछे की नक्षत्र-सूचियाँ विषुव से आरंभ हुई थीं कोई कारण नहीं है कि पहले की भी नक्षत्र-सूचियाँ इसी प्रकार से आरंभ होती रही होंगी।

यह कहना कठिन है कि इन नकारात्मक तर्कों को कितना महत्त्व दिया जाय, परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि याकोबी और तिलक ने विवेचन करके सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कृत्तिकाओं से आरंभ होने वाली नक्षत्र-सूची पुनर्व्यवस्थित सूची है, और उसमें कृत्तिकाओं को जान-बूझ कर सर्वप्रथम इसलिए रक्खा गया था कि वे उस समय विषुव पर थीं और बूलर[1] का विश्वास है कि याकोबी और तिलक ने अपना कथन संतोषजनक रीति से सिद्ध कर दिया है कि कृत्तिकाओं से आरंभ होने वाली सूची हिंदुओं की प्राचीनतम सूची नहीं है; इससे भी एक प्राचीन सूची कभी थी जिसमें वसंत विषुव पर मृगशिरस था।

(ग) ह्विटनी[2] और थीबो[3] दोनों के मत में यदि कृत्तिकाएँ नक्षत्रों में सर्व-प्रथम इसलिए रक्खी गयी थीं कि वसंत विषुव से उनका संबंध था, तो संभवतः वे केवल वसंत विषुव के समीप थीं, ठीक वसंत विषुव पर नहीं थीं। वेदांग-ज्योतिष बताता है कि शिशिर अयनांत[4] तब होता है जब सूर्य श्रविष्ठा के आदि विंदु पर रहता है। इसलिए उस समय कृत्तिकाएँ वसंत विषुव से कुल १८ अंश पर थीं। ह्विटनी और थीबो कहते हैं कि वसंत विषुव से कृत्तिकाओं का इतना समीप रहना उनके सर्वप्रथम रक्खे जाने के लिए पर्याप्त है। इसलिए वे यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि नक्षत्र-सूचियाँ अवश्य ही वेदांग-ज्योतिष से पुरानी हैं। वेदांग-ज्योतिष का काल, जैसा हम पहले देख चुके हैं, लगभग बारहवीं शताब्दी ई० पू० है, और, जैसा नीचे बताया जायगा, ह्विटनी और थीबो कहते हैं कि इस दिनांक में लगभग

[1] आई० ए०, २३।२३९। इस लेखक के नाम का उच्चारण वस्तुतः लगभग बीलर है, परंतु अक्षर-विन्यास के अनुसार लोग इसे साधारणतः बूलर ही लिखते हैं।

[2] ओरियंटल एंड लिंग्विस्टिक, स्टडीज़ २।३८३।

[3] आई० ए० २४।९७।

[4] शिशिर अयनांत तब होता है जब रात सब से छोटी होती है। इसके बाद सूर्य उत्तर जाने लगता है और दिन धीरे-धीरे बढ़ना आरंभ करता है।

१००० वर्ष की अशुद्धि हो सकती है। इसलिए वे कहते हैं कि ऐसा हो सकता है कि ब्राह्मण-ग्रंथ ८००-६०० ई० पू० से अधिक प्राचीन न हों[1]।

उनका तर्क वस्तुतः यह है कि यदि कृत्तिकाएँ वसंत विषुव पर रहीं हों तो भी संभव है कि वेध की सब त्रुटियाँ इस प्रकार एकत्रित हो गयी हों कि जिन वेधों से साधारणतः २५०० ई० पू० का समय निकलता उनसे केवल ७०० ई० पू० या ऐसा ही कोई दिनांक निकले। यद्यपि सब विपरीत परिस्थितियों के एक ओर जा जुटने की संभावना बहुत ही कम होती है, तो भी यह कहा नहीं जा सकता कि ऐसा होना पूर्णतया असंभव है। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि ७०० ई० पू० में कृत्तिकाएँ पूर्व से ११ अंश हटकर उदित होती थीं, और ऐसी परिस्थिति में अग्निशालाओं की बल्लियों को कृत्तिकाओं की दिशा में रखने का विचार ही किसी के मन में न उठता।

विवाह-संस्कार का साक्ष्य

कृत्तिकाओं के पूर्व में उदित होने तथा नक्षत्र-सूचियों में उनके सर्वप्रथम रहने से जो दिनांक प्राप्त होता है उसका समर्थन पूर्णतया स्वतंत्र रीति से एक दूसरी बात से होता है। विवाह-संस्कार के वर्णनों में इस प्रथा का भी उल्लेख मिलता है कि वर, वधू को, स्थैर्य के प्रतीक रूप, ध्रुवतारा को दिखाये। सब प्रधान गृह्य सूत्रों में[2] इस बात का आदेश दिया गया है। इसलिए अवश्य ही यह प्रथा सारे भारत में प्रचलित रही होगी और इसलिए यह विशेष नवीन प्रथा न रही होगी[3]। ध्रुव शब्द का अर्थ है वह जो अपने स्थान से न हटे। इसलिए अवश्य ही उस काल में कोई तारा ऐसा रहा होगा जो अपने स्थान से न हटता रहा होगा। परंतु अयन के कारण ध्रुवतारा कभी रहता है, कभी नहीं रहता। इसलिए हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि पूर्वोक्त प्रथा का आरंभ कब हुआ होगा।

इस प्रश्न को अच्छी तरह समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि वह गणितीय विंदु जिसके परितः आकाश के सब तारे चक्कर लगाते हैं ध्रुव कहलाता है, और अयन के कारण यह विंदु तारों के बीच धीरे-धीरे चलता रहता है (पृष्ठ ९७ का

[1] मैकडॉनेल और कीथ : वेदिक इंडेक्स, ४२४।

[2] पारस्कर गृह्य सूत्र, १।८।१९; आपस्तंब गृह्य सूत्र, २।६।१२; हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र, १।२२।१४; मानव गृह्य सूत्र, १।१४।९; बौधायन गृह्य सूत्र, १।५।१३; गोभिल गृह्य सूत्र, २।३।८।

[3] याकोबी : जे० आर० ए० एस० (१९१०), ४६१।

चित्र देखें जहाँ ध्रुव का मार्ग अंकित है)। जब कभी यह विंदु किसी चमकीले तारे के पास रहता है तो हम उस तारे को ध्रुव-तारा (या संक्षेप में केवल ध्रुव) कहते हैं। अब महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तीसरी श्रेणी[1] का प्रथम कालिय (ऐल्फ़ा ड्रैकोनिस) नामक तारा गणितीय ध्रुव से निकटतम लगभग २७८० ई० पू०[2] में था। इस दिनांक के लगभग ढाई सौ वर्ष इधर या उधर तक यह तारा गणितीय ध्रुव के इतना समीप था कि हम उस समय का उसे ध्रुव-तारा मान सकते हैं। २००० ई०पू० से लेकर ५०० ई० तक कोई भी चमकीला तारा—पाँचवीं श्रेणीका या इससे अधिक चमकीला—गणितीय ध्रुव के इतना समीप नहीं था कि उसे ध्रुव-तारा कहा जा सकता[3]। पाँचवीं श्रेणी के या अधिक चमकीले तारों में से केवल एक तारा इस दीर्घकाल में गणितीय ध्रुव के कुछ पास आया[4], परंतु निकटतम पहुँचने पर भी वह ध्रुव से लगभग पाँच अंश पर था। यह सन १३०० ई० पू० की बात है। लोगों ने देखा होगा कि एक रात्रि में यह तारा अपने उच्चतम स्थान से १० अंश नीचे उतर आता है[5]। इतनी दूर तक हटने की उपेक्षा लोगों ने कैसे की होगी, विशेष कर उत्तर प्रदेश के आर्यों ने, जहाँ ध्रुव की क्षितिज से ऊँचाई कुल २५ अंश है? इससे स्पष्ट है कि यदि हम क्षीणतम तारों की उपेक्षा करें, अर्थात उन तारों में से किसी एक को ध्रुव-

[1] आकाश के सब से अधिक चमकीले तारे प्रथम श्रेणी के माने जाते हैं; उनसे कम चमकीले तारे द्वितीय श्रेणी के; इत्यादि। वे तारे जो मंदतम हैं परंतु आँख से दिखायी पड़ते हैं छठवीं श्रेणी के कहे जाते हैं। वर्तमान ध्रुव-तारा द्वितीय श्रेणी का है।

[2] याकोबी, आई०ए०, २३।१५७।

[3] पूर्वोक्त चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी। उसमें तारों के सापेक्ष ध्रुव का मार्ग दिखाया गया है। ध्रुव एक पूरा चक्कर लगभग २६००० वर्ष में लगाता है। यह चित्र नॉरटन के स्टार एटलस (गैल और इंगलिस) के आधार पर खींचा गया है।

[4] याकोबी, आई० ए० २३।१५७।

[5] पृष्ठ ९९ के चित्र में एक दिनरात में इसका मार्ग दिखाया गया है। उसके पहले वाले चित्र में वर्तमान ध्रुवतारे का मार्ग दिखाया गया है। ये दोनों चित्र मोटे हिसाब से पैमाने के अनुसार बने हैं (इन चित्रों में द्रष्टा का अक्षांश २५° मान लिया गया है)।

तारा न मानें जो इतने मंद प्रकाश के हैं कि बस दिखायी भर पड़ जाते हैं तो इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है कि माना जाय कि विवाह की पूर्वोक्त रीति लगभग २७८० ई० पू० में प्रचलित हुई होगी, जब आकाश में वस्तुतः कोई ध्रुव-तारा रहा होगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह दिनांक अन्य तर्कों से निकाले गये दिनांक के अनुकूल ही है। याकोबी का भी यही मत है।[1]

इस मत के विरोधी[2] कहते हैं कि हो सकता है कि पूर्वोक्त रीति, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख गृह्य सूत्रों में आया है, बहुत प्राचीन न हो, क्योंकि विवाह-संस्कार के लिए किसी भी तारे से काम चल जायगा जो गणितीय ध्रुव से बहुत दूर न रहा हो। परंतु यह बात न्यायसंगत नहीं जान पड़ती, क्योंकि बहुत मंद तारा या गणितीय ध्रुव से कुछ दूर पर स्थित तारा कभी लोगों का ध्यान इतना आकर्षित ही न करता कि लोग उसे ध्रुव कहते और विवाह के अवसर पर उसे देखने-दिखाने की आवश्यकता समझते। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि २७८० ई० पू० के कई हजार वर्ष पहले तक कोई भी चमकीला तारा गणितीय ध्रुव के इतना समीप नहीं था कि उसे ध्रुव-तारा कहा जा सकता[3]।

अन्य उल्लेख

अन्य कई ऐसे उल्लेख हैं जिनका ज्योतिष से संबंध है और जिनसे काल का ज्ञान हो सकता है, परंतु दुर्भाग्यवश वे सभी थोड़ा-बहुत अधूरे हैं और प्रत्येक के दो अर्थ लगाये गये हैं। एक अर्थ तो वेबर, याकोबी, बूलर, बार्थ, विंटरनिट्स, पूसिन[4], तिलक, दीक्षित इत्यादि ने लगाया है जिससे २००० ई० पू० से लेकर ६००० ई० पू० तक का काल प्राप्त होता है, और दूसरा अर्थ व्हिटनी, ओल्डेनबर्ग, थीबो, कीथ, और दूसरों ने लगाया है और उनके अनुसार वैदिक साहित्य बहुत प्राचीन नहीं है। संक्षेप में, उल्लेख निम्नलिखित हैं :

[1] आई० ए० २३।१८७; जे० आर० ए० एस० १९१०।४६१।

[2] मैकडॉनेल और कीथ, वेदिक इंडेक्स, १।४२७।

[3] पृष्ठ ९७ का चित्र देखें, अथवा मोल्टन : ऐन इंट्रोडक्शन टू ऐस्टॉनोमी, मानचित्र, १ देखें।

[4] लुई डि ला वैली पूसिन : वेदिस्मे, पेरिस १९०९, जिसका उल्लेख जे० आर० ए० एस० (१९०९) ७२१ में है।

ब्राह्मण ग्रंथों के समय में फाल्गुन का महीना वर्ष का आरंभ माना जाता रहा होगा, क्योंकि कई स्थानों पर फाल्गुन की पूर्णिमा को वर्ष का मुख कहा गया है[१]। काल-निर्णय के लिए इस कथन में कमी यह है कि पता नहीं वर्ष का आरंभ किस ऋतु में तब होता था। याकोबी[२] का कहना है कि वर्ष आरंभ करने की तीन वैकल्पिक प्रथाएँ थीं, जिनमें से एक यह था कि वर्ष शिशिर अयनांत से आरंभ होता था। पीछे ऐसी प्रथा थी इसमें कोई संदेह नहीं है[३] और अवश्य ही यह प्रथा पहले से चली आयी होगी। इसे सत्य मान कर गणना करने पर ब्राह्मण-ग्रंथों का काल लगभग ४००० ई० पू० निकलता है। तिलक[४] का मत भी यही है; परंतु ओल्डेनबर्ग[५] और थीबो[६] का कहना है कि फाल्गुन को वर्ष का मुख इसलिए कहा गया होगा कि यह वसंत ऋतु का प्रथम मास था[७]; उनका कहना है कि प्राचीन समय में वर्ष को चातुर्मास्यों[८] के अनुसार तीन ऋतुओं में विभक्त करने की भी प्रथा थी, और इस प्रथा में एक ऋतु वसंत थी। उनका यह भी कहना है कि यह मत कौषीतकी ब्राह्मण[९] के कथन के अनुकूल है जो यह बताता है कि शिशिर अयनांत माघ

[१] तैत्तिरीय संहिता, ७।४।८।१-२; पंचविंश ब्राह्मण, ५।९।९; इत्यादि।

[२] आई० ए०, २३।१५६; जेड० डी०एम० जी०, ४९।२२३; ५०।७२-८१।

[३] शिशिर अयनांत से वेदांग-ज्योतिष के पंचवर्षीय युग का भी आरंभ होता था और इस युग का प्रथम वर्ष भी इसी क्षण से आरंभ होता था। देखें वेदांग-ज्योतिष, यजु०, ५।

[४] ओरायन, २७।

[५] जड० डी० एम० जी०, ४८, ६३० और तत्पश्चात; ४९, ४७५–७६; ५०, ४५३–५७।

[६] आई० ए०, २४।८६।

[७] देखें वेबर, नक्षत्र, २।३२९ और तत्पश्चात; इससे तुलना करो शतपथ ब्राह्मण, १।६।३।३६; कौषीतकी ब्राह्मण, ५।१। अन्यत्र भी ऐसे ही उल्लेख हैं। पूर्ण विवरण के लिए देखें वेदिक इंडेक्स, १।४२५।

[८] तैत्तिरीय संहिता, १।६।१०।३; तैत्तिरीय ब्राह्मण, १।४।९।५; २।२।२।२; इत्यादि।

[९] १९।२।३।

की पूर्णिमा पर होता था और यही बात वेदांग-ज्योतिष[1] में भी है। यद्यपि यह निश्चित नहीं है कि सौर वर्ष के किस दिनांक से वसंत वस्तुतः आरंभ हुआ करता था, तो भी उत्तर भारत की ऋतुओं पर विचार करके थीबो ने इसे लगभग ७ फरवरी को माना है। इस कल्पना के अनुसार ब्राह्मणों का काल लगभग बारहवीं शताब्दी ई० पू० निकलता है।

बात यहीं नहीं समाप्त होती। तैत्तिरीय संहिता[2] तथा ताण्डच ब्राह्मण[3] के उन स्थानों में जहाँ गवाम्-अयन यज्ञ के आरंभ का दिनांक दिया गया है और फाल्गुन को वर्ष का मुख कहा गया है, आरंभ के लिए दो दिनांक बताये गये हैं—चैत्र की पूर्णिमा और एक विशेष पूर्णिमा के चार दिन पहले, परंतु यह नहीं बताया गया है कि वह विशेष पूर्णिमा कौन-सी है।

तिलक का मत

तिलक[4] और याकोबी[5] यह मान लेते हैं कि यज्ञ के आरंभ के लिए तीन दिनांक संभव थे और वर्ष का आरंभ इन तीनों दिनांकों से होता था, परंतु विभिन्न कालों में और प्रत्येक काल में वर्ष का आरंभ शिशिर अयनांत से होता था। इस कल्पना के अनुसार तिलक और याकोबी दोनों यह कहते हैं कि पूर्वलिखित वर्षारंभ, अर्थात चैत्र की पूर्णिमा से वर्षारंभ, प्राचीनतर काल का अवशेष है। उस प्राचीनतर काल में चैत्र-पूर्णिमा से वर्ष का आरंभ इसलिए होता था कि चैत्र-पूर्णिमा शिशिर अयनांत पर होती थी। इस कल्पना से समय ६००० ई० पू० निकलता है। मीमांसाकारों[6] से सहमत होकर तिलक यह भी कहते हैं कि पूर्णिमा के चार दिन पहले का अर्थ माघ की पूर्णिमा के चार दिन पहले है। इसलिए यह मानना होगा कि जब वर्ष माघ की पूर्णिमा के चार दिन पहले आरंभ होता था तो शिशिर अयनांत लगभग उसी समय होता था। यह बात इसके अनुकूल है कि तब कृत्तिकाएँ वसंत विषुव पर थीं, और इसलिए इससे समय २५०० ई० पू० निकलता है।

[1] वेदांग-ज्योतिष, यजु०, ५-६।

[2] ७।४।८।१।

[3] ५।९।

[4] ओरायन, अध्याय ४।

[5] आई० ए०, २३।१५६।

[6] जैमिनि, ६।५।३०-३७; इत्यादि; देखो ओरायन, ५२ और तत्पश्चात।

परंतु थीबो का कहना है कि इस प्रकार का अर्थ लगाना व्यर्थ है; एक ही समय में किसी प्रदेश में वर्ष किसी दिनांक से आरंभ होता रहा होगा, अन्यत्र किसी अन्य दिनांक से[1]।

प्राप्य सामग्री से निश्चित रूप से पता चलाना कि सच्ची बात क्या है असंभव जान पड़ता है। जब एक ही बात से इतने विभिन्न दिनांक निकाले जाते हैं, और दोनों ओर तर्कसंगत बातें कही जातीं हैं तब यही स्वीकार करना उचित जान पड़ता है कि वह सामग्री दिनांक निकालने के लिए पर्याप्त नहीं है।

आग्रहायण

लोग यह भी मानते हैं कि वर्ष का आरंभ कभी मार्गशीर्ष से भी हुआ करता था, क्योंकि इस मास का दूसरा नाम आग्रहायण[2] है (जिससे ही इसे हिंदी में अगहन कहते हैं)। आग्रहायण का अर्थ है वर्ष का अग्र (आरंभ)। परंतु इससे भी कोई निश्चित दिनांक नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि इसका पता नहीं है कि जब अगहन से वर्ष का आरंभ होता था तब आकाश में सूर्य तारों के सापेक्ष कहाँ रहता था, या, दूसरे शब्दों में, ऋतु क्या रहती थी। याकोबी[3] और तिलक[4] का कहना है कि तब सूर्य शरद विषुव पर रहता रहा होगा, क्योंकि यह शिशिर अयनांत पर फाल्गुनी पूर्णिमा होने के अनुकूल है (जिससे समय लगभग ४००० ई० पू० निकलता है); परंतु थीबो[5] का कहना है कि यह तृतीय चातुर्मास्य का आरंभ होगा, क्योंकि चातुर्मास्यों के अनुसार भी ऋतुओं के नामकरण की प्रथा का उल्लेख मिलता है। उनका यह भी कहना है कि याकोबी की आपत्ति में कि वर्ष तृतीय अर्थात अंतिम चातुर्मास्य से कभी न आरंभ होता रहा होगा कोई विशेष तथ्य नहीं है।

अध्ययन का आरंभ

याकोबी[6] ने बताया है कि वेद का अध्ययन तब आरंभ होता था जब घास पहली बार उगने लगती थी, अर्थात वर्षा ऋतु के प्रथम मास में। पारस्कर गृह्य

[1] आई० ए० २४।९४।
[2] थीबो, आई० ए० २४।९४-९५; वेबर, २।३३२ और तत्पश्चात।
[3] आई० ए० २३।१५६।
[4] ओरायन, ६२ और तत्पश्चात।
[5] आई० ए० २४।९४-९५।
[6] आई० ए० २३।१५५।

सूत्र[1] में श्रावण की पूर्णिमा को उपाकरण संस्कार[2] के लिए नियत किया गया है और २००० ई० पू० में श्रावण ही वर्षा का प्रथम मास था। परंतु गोभिल गृह्य सूत्र[3] में वही संस्कार प्रौष्ठपद की पूर्णिमा पर करने का आदेश है। (प्रौष्ठपद प्राचीन काल में भाद्रपद को कहते थे।) यह ज्ञात है कि पाठशालाएँ श्रावण की पूर्णिमा को खुलती थीं। इसलिए भाद्रपद में उपाकरण करने की बात उस प्राचीन काल से चली आयी होगी जब भाद्रपद ही वर्षा-ऋतु का प्रथम मास रहा होगा, और ऐसा ४००० ई० पू० में होता था। परंतु व्हिटनी[4] और अन्य विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि वर्षाऋतु और विद्यारंभ में संबंध रखना आवश्यक न था, परंतु बूलर[5] का मत वही है जो याकोबी का।

ग्रीष्म अयनांत

(४) सभी जानते हैं कि उत्तर भारत में वर्षा ऋतु ग्रीष्म अयनांत से आरंभ होती है। ऋग्वेद[6] में एक ऋचा है जो, याकोबी[7] के अनुसार, यह बताती है कि ऋग्वैदिक काल में वर्ष का आरंभ वर्षा ऋतु से होता था। वर्षा ऋतु से वर्ष के आरंभ होने का समर्थन वर्ष नाम से भी होता है, क्योंकि यह वर्षा से प्रत्यक्षतः संबंधित है। वर्ष को अब्द भी कहते हैं जिसका अर्थ है जल देने वाला। फिर, ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[8] से याकोबी ने यह परिणाम निकाला है कि वर्ष का आरंभ तब होता था जब पूर्णमासी का चंद्रमा फाल्गुनी में रहता था। इन दोनों ऋचाओं से यह फल निकलता है कि वैदिक काल में शिशिर अयनांत पर फाल्गुन वाली पूर्णिमा होती थी; और, जैसा ऊपर बताया गया है, इससे समय ४००० ई० पू० निकलता है। परंतु याकोबी ने प्रथम ऋचा के द्वादश का अर्थ लगाया है बारहवाँ महीना,

[1] २।१०।

[2] अर्थात वेदपाठ आरंभ करने का संस्कार।

[3] ३।३।

[4] जे० ए० ओ० एस०, २६।८४ और तत्पश्चात।

[5] आई० ए०, १३।२४२ और तत्पश्चात।

[6] ७।१०३।९।

[7] आई० ए०, २३।१५४।

[8] १०।८५।१३।

और दूसरों ने[1] इसका अर्थ लगाया है वह जिसके बारह भाग हों, अर्थात वर्ष; और यद्यपि याकोबी ने व्याकरण से नियम उद्धृत करके दिखाया है कि बारहवाँ महीना अर्थ लगाना अधिक उपयुक्त है, और उन्हें वर्ष और अब्द से भी सहायता मिलती है, तो भी इस तर्क पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि विद्वानों में मतभेद है और कुल एक शब्द के अर्थ बदल देने से परिणाम पूर्णतया बदल जाता है[2]।

शिशिर अयनांत

(५) कौषीतकी ब्राह्मण[3] स्पष्ट रूप से बताता है कि शिशिर अयनांत माघ की अमावस्या पर होता था। यह काल-निर्णय के लिए बहुमूल्य होता, परंतु एक बात ऐसी है जिससे हम इसका उपयोग नहीं कर पाते हैं: हमें यही नहीं ज्ञात है कि माघ की अमावस्या से क्या अभिप्राय था। पता नहीं कि उस समय मास अमावस्या पर समाप्त होता था (अमांत पद्धति) या पूर्णिमा पर (पूर्णिमांत पद्धति)। टीकाकारों[4] का

[1] केगी और गेल्डनर, ग्रासमान, इत्यादि।

[2] जिस सूक्त में यह ऋचा है वह मेढकों के बारे में है। संदर्भ समझाने के लिए दो पूर्वगामी ऋचाओं का अर्थ नीचे दिया जाता है:

"एक वर्ष का व्रत करने वाले स्तोता की तरह वर्ष भर तक सोये हुए रह कर मंडूक (मेढक) मेघ के आने पर हर्ष-वाद करते हैं ॥"

"मेढकों में किसी की ध्वनि गौ की तरह है और किसी की बकरे की तरह। कोई धूम्र वर्ण का है, कोई हरे रंग का। नाम तो सबका एक है, किंतु रूप नाना प्रकार के हैं। ये अनेक देशों में ध्वनि करते हुए प्रकट होते हैं।"

विवादग्रस्त ऋचा यों है:

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिनन्त्यते।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम्॥ ९॥

अर्थ—मंडूक दैवी नियम की रक्षा करते हैं। वे वर्ष की [या बारहवें महीनें की ?] ऋतु की अवहेलना नहीं करते। [एक] वर्ष पूरा होने पर, वर्षा ऋतु के [फिर] आने पर, ग्रीष्म के ताप से पीड़ित मंडूक गड्ढों के बंधन से छूटते हैं।

[3] १९। ३। इसकी चर्चा पहले-पहल वेबर ने की; देखो "नक्षत्र", २। ३४५ और तत्पश्चात।

[4] कौषीतकी ब्राह्मण पर विनायक की टीका, अथवा सांख्यायन श्रौत सूत्र पर आनर्तीय की टीका, १३। १९। १।

विश्वास था कि मास का अंत पूर्णिमा से होता था और इसलिए माघ की अमावस्या वह अमावस्या होगी जो मघा नक्षत्र में होने वाली पूर्णिमा के पहले होती थी। परंतु इसका भी साक्ष्य है कि अमांत पद्धति ही अधिक प्रचलित थी। कारण यह है कि शुक्ल पक्ष को पूर्व पक्ष (पहले आने वाला पक्ष) कहा जाता था और कृष्ण पक्ष को अपर पक्ष[1]। अब यदि माना जाय कि उस समय मास अमांत होते थे तो माघ की अमावस्या वह होगी जो मघा नक्षत्र की पूर्णिमा के बाद पड़ती है और इस समय शिशिर अयनांत मानने से प्राप्त दिनांक ज्योतिष-वेदांग के दिनांक से लगभग १९०० वर्ष अधिक प्राचीन हो जाता है; अर्थात हमें तब ३१०० ई० पू० प्राप्त होता है[2]।

परंतु यदि माना जाय कि उस समय पूर्णिमांत पद्धति प्रचलित थी तो माघ की अमावस्या का अर्थ होगा वह अमावस्या जिसे अमांत पद्धति में पौष की अमावस्या कहते हैं[3], और तब परिस्थिति वह हो जाती है जो वेदांग-ज्योतिष में बतायी गयी है, और उससे समय लगभग १२०० ईसवी पूर्व निकलता है। कुछ विद्वान पूर्णिमांत पद्धति को ही अधिक संभव मानते हैं, क्योंकि टीकाकारों की भी वही सम्मति है। फिर, जैसा थीबो ने बताया है, कौषीतकी ब्राह्मण के समय में हो सकता है कि अमावस्या का अर्थ ठीक-ठीक वही न रहा हो जो पीछे लगाया जाने लगा, अर्थात वह तिथि जिसका अंत चंद्रमा और सूर्य की संयुति पर होता है। हो सकता है कि मास अमावस्या से आरंभ होता रहा हो, और यह भी हो सकता है कि माघ की अमावस्या से अर्थ रहा हो वह अमावस्या जिससे माघ का महीना आरंभ हुआ, अर्थात मघा में होने वाली पूर्णिमा से पहले वाली अमावस्या। परंतु यदि हम इस बात को स्वीकार भी कर लें तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि कौषीतकी ब्राह्मण और वेदांग-ज्योतिष ठीक समकालीन हैं। वेदांग-ज्योतिष का कथन पूर्णतया निश्चित है; वहाँ जो लिखा है उसका अर्थ है कि शिशिर अयनांत तब होता है जब सूर्य रविमार्ग के उस सत्ताइसवें भाग के प्रथम विंदु पर रहता है जिसका नाम श्रविष्ठा है। इसके विपरीत, कौषीतकी ब्राह्मण का कथन ऐसा है जो एक वर्ष से अधिक के लिए पूर्णतया सत्य

[1] देखो वैदिक इंडेक्स, २।१५८, जहाँ पूर्ण विवरण मिलेगा।

[2] कीथ के अनुसार कौषीतकी ब्राह्मण का लगभग वही काल है जो शतपथ का है या उससे थोड़े ही समय पहले का है (एच० ओ० एस०, २५।४७।४८)। परंतु संभव है कि यह वाक्यशेष कौषीतकी ब्राह्मण से पहले का हो।

[3] थीबो के लेख से तुलना करो: आई० ए०, २४।८९।

नहीं हो सकता था। कारण यह है कि यदि किसी वर्ष शिशिर अयनांत ठीक माघ की अमावस्या पर होता तो आगामी वर्षों में यह ठीक माघ की अमावस्या पर हो नहीं सकता था। आगामी वर्ष में यह लगभग ११ दिन पिछड़ कर होता; एक वर्ष और बीतने पर यह माघ की अमावस्या हो जाने के २२ दिन बाद होता। फिर, बीच में अधिमास लग जाने से आगामी वर्ष माघ की अमावस्या के तीन दिन पहले होता, तब आगामी वर्ष में ८ दिन का अंतर पड़ता; और इसी प्रकार आगामी वर्षों में भी कुछ-न-कुछ अंतर पड़ा करता। प्रत्यक्ष है कि कौषीतकी ब्राह्मण का कथन केवल स्थूल रूप से शुद्ध है और इस इच्छा के रहने पर कि शिशिर अयनांत तथा कोई अमावस्या साथ पड़े (क्योंकि धार्मिक दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है), कौषीतकी ब्राह्मण ने कह दिया हो कि शिशिर अयनांत माघ की अमावस्या पर पड़ता है, यद्यपि शिशिर अयनांत और औसत माघी अमावस्या में कुछ दिनों का अंतर रहा हो। इसके अतिरिक्त, वेदांग-ज्योतिष के दिनांक में एक हजार वर्षों की अनिश्चितता बतायी जाती है[1], इसलिए पूर्वोक्त विवेचनों के आधार पर निकाला गया कौषीतकी ब्राह्मण के दिनांक में कम-से-कम उतनी ही अनिश्चितता होगी[2]। फिर, निश्चित रूप से कौषीतकी और शतपथ ब्राह्मणों के सापेक्षिक दिनांक ज्ञात नहीं हैं, और इनमें से एक भी समूचा एक ही समय की रचना नहीं है। इसलिए कौषीतकी ब्राह्मण के कथन से कोई ध्वनि ऐसी नहीं निकलती जो शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य पुस्तकों से निकाले गये दिनांक से बेमेल पड़े।

वेदांग-ज्योतिष में शिशिर अयनांत

वेदांग-ज्योतिष में शिशिर अयनांत की स्थिति श्रविष्ठा का आदि-विंदु बताया गया है[3]। वेदांग-ज्योतिष का दिनांक जानने के लिए इतना पर्याप्त है। परंतु इसमें भी कुछ अनिश्चितता है, क्योंकि ठीक-ठीक यह ज्ञात नहीं है कि श्रविष्ठा का आदि-विंदु कहाँ था। इसलिए विविध विद्वानों ने विविध दिनांक

[1] ह्विटनी, ओरियंटल ऐंड लिंग्विस्टिक स्टडीज़, २। ३८४; थीबो, आई० ए०, २४। ९८; इत्यादि। एक हजार वर्ष की अनिश्चितता अवश्य ही अतिशयोक्ति है।

[2] इस संबंध में देखें गोरखप्रसाद, जनरल ऑव दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, २१ (१९३५), संख्या ३।

[3] वेदांग-ज्योतिष, यजु०, ७।

निकाले हैं। जोन्स[1] और प्रैट[2] ने ११८१ ई० पू० निकाला है, परंतु डेविस[3] और कोलब्रुक[4] ने १३९१ ई० पू० निकाला है; अन्य विद्वानों के दिनांक भी इसी प्रकार के हैं। छोटे लाल[5] का मत है कि निस्संदेह वेदांग-ज्योतिष के वेध सन १०९८ ई० पू० के जाड़े में लिये गये थे; परंतु उन्होंने उस समय बृहस्पति ग्रह के संबंध में अति विवादग्रस्त कथन का आश्रय लिया है और इसलिए उनकी गणना पर विशेष भरोसा नहीं किया जा सकता। इन विवेचनों से प्रत्यक्ष है कि हम संभवतः ठीक-ठीक दिनांक ज्ञात नहीं कर सकते हैं, परंतु इतना निश्चित है कि बारहवीं शताब्दी ई० पू० वेदांग-ज्योतिष के वेधों के दिनांक से बहुत दूर नहीं है। सभी मानते हैं कि वेदांग-ज्योतिष की रचना ब्राह्मण ग्रंथों के बाद हुई[6]; इसलिए अन्य आधारों पर निकाले गये दिनांक का इन विवेचनों से समर्थन ही होता है।

सारांश

यदि हम इस संभावना का वहिष्कार करें कि वैदिक साहित्य में केवल सुनी-सुनायी बहुत पहले की ही बातों का संग्रह है—और ऐसा होना प्रायः असंभव जान पड़ता है—तो कहा जा सकता है कि इस साहित्य में प्रबल प्रमाण है कि वेद २५०० ई० पू० से पहले के हैं। उनका काल ४००० ई० पू० हो सकता है; इसके लिए कुछ प्रमाण भी है, परंतु वह ऐसा नहीं है कि उससे पूर्णतया संतोष हो जाय। साथ ही यह भी है कि इस दिनांक के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है।

[1] एशियाटिक रिसर्चेज, २।३९३।

[2] जे० ए० एस० बी०, ३१।४९।

[3] एशियाटिक रिसर्चेज, २।२६८; ५।२८८।

[4] इसेज, १।१०९-१०।

[5] ज्योतिष-वेदांग, इलाहाबाद, ८३।

[6] थीबो: ऐस्ट्रॉनोमी, ऐस्ट्रॉलोजी उंड मैथिमैटीक, १९-२०।

अध्याय ७

महाभारत में ज्योतिष

समय की बड़ी एकाइयाँ

महाभारत में ज्योतिष विषयों की चर्चा कई स्थानों पर है, जिन पर विचार करने से पता चल सकता है कि उस समय में ज्योतिष का कितना ज्ञान था।

महाभारत में समय की बड़ी एकाइयो के नाम और संबंध वे ही हैं जो मनुस्मृति में हैं। विश्व के जीवन-काल को चार युगों में बाँटा गया है जिनके नाम कृत, त्रेता, द्वापर और कलि हैं। हम कलियुग में हैं; अन्य तीन युग बीत चुके हैं। कलियुग के अंत में प्रलय होगा और तब नयी सृष्टि होगी——ऐसा मनुस्मृति, पुराण और महाभारत आदि का विश्वास है। प्रत्येक युग के आरंभ में संध्या है और अंत में संध्यांश है। इनमें वर्षों की संख्या निम्न प्रकार है[1] :

युग		वर्ष	युग		वर्ष
कृत	संध्या	४००	द्वापर	संध्या	२००
	मुख्य भाग	४०००		मुख्य भाग	२०००
	संध्यांश	४००		संध्यांश	२००
त्रेता	संध्या	३००	कलि	संध्या	१००
	मुख्य भाग	३०००		मुख्य भाग	१०००
	संध्यांश	३००		संध्यांश	१००

चारों युग मिल कर = १ दैवयुग = १२,००० वर्ष;

१००० दैवयुग = ब्रह्मा का १ दिन।

टीकाकारों के अनुसार ऊपर जिन वर्षों की संख्या दी गयी है वे मानव वर्ष नहीं हैं, दैव वर्ष हैं और प्रत्येक दैव वर्ष ३६० मानव वर्षों के बराबर होता है।

[1] मनुस्मृति, प्रथम अध्याय।

आधुनिक विज्ञान बताता है कि पृथ्वी का जन्म आज से लगभग अरब (अर्बुद) वर्ष पहले हुआ होगा। ऊपर की सारणी से पता चलता है कि हमारे प्राचीन ऋषियों के मत में भी सृष्टि कई अरब वर्ष पहले हुई थी। इसका महत्त्व तब दिखायी पड़ता है जब इसकी तुलना अन्य धर्मों के मतों से की जाती है। कुछ ही सौ वर्ष पहले यूरोप में प्रचलित धर्मग्रंथ के अनुसार राजाओं की वंश-परंपरा देखकर पृथ्वी की आयु ४००० वर्ष आँकी जाती थी।

महाभारत में पाँच वर्षों के युग की चर्चा है[१]। पांडवों के जन्म के संबंध में यह उल्लेख है :

अनुसंवत्सरं जाता अपि ये कुरुसत्तमाः ॥
पांडुपुत्रा व्यराजंत पंच संवत्सरा इव ॥ २२ ॥

आदिपर्व, अ० १२४.

अर्थ—एक-एक वर्ष के अन्तर से उत्पन्न हुए कुरुओं में श्रेष्ठ पांडु के वे पाँचों पुत्र (युग के) पाँच वर्षों के समान लगते थे।

वर्ष

वर्ष की लंबाई के संबंध में भी महाभारत के एक कथन से हमें सहायता मिलती है। पाठक को ज्ञात होगा कि जुआ में हारने पर पांडवों को १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास स्वीकार करना पड़ा था, परंतु अज्ञातवास के लगभग अंत में अपने आश्रयदाता पर विपत्ति पड़ने पर अर्जुन को दुर्योधन आदि के विरुद्ध लड़ने के लिए लाचार होना पड़ा। जब दुर्योधन आदि ने अर्जुन को पहचान लिया तब उन्हें यह जानने की आवश्यकता पड़ी कि वनवास के आरंभ से उस दिन तक पूरे १३ वर्ष बीत गये थे या नहीं। आपस में मतभेद होने के कारण यह प्रश्न भीष्म के सम्मुख रक्खा गया। तब उन्होंने दुर्योधन से कहा :

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।
पंचमे पंचमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥ ३ ॥
एषामभ्यधिका मासाः पंच च द्वादश क्षपाः ।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥ ४ ॥

विराटपर्व, अ. ५२.

[१] युग शब्द किसी भी दीर्घकाल के लिए प्रयुक्त होता था, चाहे वह पाँच वर्ष का हो, चाहे वह लाखों वर्ष का हो।

अर्थ—. . . समय के बढ़ने तथा नक्षत्रों के हटने से प्रति पाँचवें वर्ष दो अधिमास (मलमास) होते हैं ।।३।।

मेरी समझ में तो (वन गए हुए) इन (पाण्डवों) को तेरह वर्ष से पाँच मास और बारह दिन अधिक हो गये ।।४।।

अयन का परिणाम

ऊपर की गणना वेदांग-ज्योतिष के अनुसार की गयी है। स्पष्ट है कि महाभारत के समय भी वेदांग-ज्योतिष के ही नियम चालू थे। परंतु जान पड़ता है कि अयन[1] के कारण जो अंतर पड़ गया था उसके लिए किसी प्रकार का संशोधन कर लिया गया था, क्योंकि यहाँ नक्षत्रों के हटने की बात भी कही गयी है। हम देख चुके हैं कि वेदांग-ज्योतिष के समय में उत्तरायण तब आरंभ होता था जब सूर्य धनिष्ठा के आरंभ में रहता था। अयन के कारण उत्तरायण के आरंभ होने का स्थान लगभग १००० वर्षों में एक नक्षत्र (= १ चक्कर का सत्ताइसवाँ भाग) हट जाता है। इसलिए महाभारत के समय में उत्तरायण धनिष्ठा के आरंभ-विंदु से न होता रहा होगा। महाभारत के कुछ वाक्यों से अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि आवश्यक संशोधन हो गया था, क्योंकि लिखा है :

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसंपदा ।।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।।३४।।

आदिपर्व, अ. ७१.

अर्थ—(विश्वामित्र ने) क्रुद्ध होकर दूसरे लोक तथा 'श्रवण' से आरम्भ होने वाले नक्षत्रों का निर्माण किया।

[1] आकाश का वह विंदु जहाँ सूर्य के रहने पर दिन और रात दोनों बराबर रहते हैं और ऋतु वसंत रहती है 'वसंत विषुव' कहलाता है। वसंत विषुव तारों के सापेक्ष धीरे-धीरे पीछे मुँह (अर्थात सूर्य के चलने से उलटी दिशा में) खिसकता रहता है और एक चक्कर लगभग २६००० वर्ष में लगाता है। वसंत विषुव के इस प्रकार चलने को अयन कहते हैं। इसी अयन के कारण आकाशीय ध्रुव भी चलता रहता है (पृष्ठ ५९)। उत्तरायण और दक्षिणायन में अयन शब्द का प्रयोग हुआ है, परंतु विषुव के चलने और उत्तरायण-दक्षिणायन में विशेष संबंध नहीं है। भ्रम दूर करने के लिए कुछ लोग विषुव के चलने को अयन-चलन कहते हैं, परंतु यह उचित नहीं है, क्योंकि स्वयं अयन का अर्थ है चलना। विषुव-अयन अधिक उपयुक्त है।

फिर, यह भी वाक्य आता है :—

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः ॥
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः ॥२॥
अश्वमेधपर्व, अ. ४४.

अर्थ—ऐसा कहा जाता है कि पहले दिन, अनन्तर रात, तदनन्तर शुक्ल इत्यादि पक्ष, मास, श्रवण इत्यादि नक्षत्र, एवं शिशिर आदि ऋतुएँ उत्पन्न हुईं।

श्रवण इत्यादि नक्षत्र कहने से स्पष्ट है कि नक्षत्र श्रवण से आरंभ होते थे; और नक्षत्रों का श्रवण से आरंभ होना यह सूचित करता है कि वहाँ या तो विषुव रहा होगा या उत्तरायण-विंदु या दक्षिणायन-विंदु, क्योंकि ऐसी ही प्रथा पहले से चली आ रही थी। अन्य बातों के संभव न होने के कारण मानना ही पड़ता है कि श्रवण के नक्षत्र में उत्तरायण-विंदु था।

श्रवण के आरंभ-विंदु पर उत्तरायण लगभग ४५० ई० पू० में होता था।

सप्ताह

सप्ताह और दिनों के नाम (रविवार, सोमवार, . . .) का उल्लेख कहीं भी नहीं है। महाभारत में अन्य-अन्य रीतियों से (नक्षत्र आदि बता कर) दिनांक इतनी बार बताया गया है कि रविवार आदि नाम न रहने से यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है कि उस समय दिनों का नामकरण नहीं हुआ था। योग, करण या राशि का नाम भी कहीं नहीं आया है। निस्संदेह इन सब एकाइयों का जन्म महाभारत-युग के बाद हुआ होगा।

उत्तरायण और दक्षिणायन

महाभारत में दिनांक अधिकतर चंद्रमा की स्थिति से बताये गये हैं; परंतु कहीं-कहीं पर सूर्य की स्थिति से भी दिनांक बताये गये हैं। उदाहरणतः एक स्थान पर यह है :—

पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ॥ १२४ ॥
अयने विषवे चैव षडशीतिमुखेषु च ॥
चंद्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥ १२५ ॥
वनपर्व, अ. २००.

अर्थ—पर्व-दिनों में, अर्थात अमावस्या या पूर्णिमा के दिन, दिया गया दान दुगुना पुण्य उत्पन्न करता है; ऋतु (के आरंभ) में दिया गया दान दस-गुना पुण्य

उत्पन्न करता है। उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवों पर, तथा षडशीतिमुखों और चन्द्र तथा सूर्य के ग्रहणों पर दिया गया दान अक्षय कहा जाता है।

उत्तरायण और दक्षिणायन वे ही हैं जो अब मकर-संक्रांति और कर्क-संक्रांति कहलाते हैं; विषुव वे अवसर हैं जब मेष और तुला संक्रांतियाँ होती हैं। षडशीतियाँ वे समय हैं जब सूर्य रविमार्ग के उन खंडों में रहता है जिन्हें अब मिथुन, कन्या, धनु और मीन राशि कहते हैं। इससे प्रत्यक्ष है कि महाभारत के समय में रविमार्ग को १२ भागों में विभक्त किया जाता था। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वर्ष में १२ महीने माने जाते थे। परंतु महाभारत में राशियों के नाम नहीं दिये गये हैं। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय रविमार्ग के बारह खंडों का नामकरण नहीं हुआ था, अर्थात मेष, आदि नाम बाद में रक्खे गये।

ग्रहण

ऊपर के उद्धरण में ग्रहणों की चर्चा है; इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी ग्रहणों की चर्चा है। यह लोगों को ज्ञात था कि ग्रहण केवल अमावस्या या पूर्णिमा को लग सकते थे। अमावस्या या पूर्णिमा को वे पर्व कहते थे। अनहोनी-सी बात का होना अशुभ समझा जाता था। इसलिए जब पांडव वनवास जाने लगे तब ऐसा लिखा है कि अपर्व पर ही सूर्य-ग्रहण हुआ :

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ॥ १९ ॥

सभपार्व, अ. ७९.

अर्थ—हे राजन्! (उस समय) विना पर्व (अमावस्या) के ही राहु ने सूर्य का ग्रहण कर दिया।

महाभारत युद्ध के आरंभ में एक ग्रहण के बाद दूसरे ग्रहण का १३ दिन पर ही हो जाना महा-अनिष्ट होने के लक्षण-स्वरूप लिखा गया है :

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीं।
चंद्रोभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले ॥

भीष्मपर्व, अ. २.

चतुर्दशीं पंचदशीं भूतपूर्वा तु षोडशीं ॥
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीं ॥
चंद्रसूर्याबुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीं ॥ ३२ ॥

भीष्मपर्व, अ. ३.

अर्थ—कार्तिक की पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा प्रकाशहीन होकर अदृश्य हो गया, फिर कमल के समान नीले आकाश में अग्नि के रंग का (अर्थात लाल) हो

गया[1]। पहले समय में चौदहवें, पन्द्रहवें अथवा सोलहवें दिन अमावस्या होती थी, परंतु तेरहवें दिन अमावस्या का होना मुझे कदापि ज्ञात नहीं है। पर इस बार तो एक मास के भीतर ही (पूर्णिमा पर) चंद्रमा का और त्रयोदशी को सूर्य का ग्रहण हुआ है।

इससे प्रत्यक्ष है कि ग्रहणों के संबंध में पूर्ण रूप से ज्ञात था कि दो ग्रहणों के बीच केवल १३ दिन का अंतर नहीं हो सकता। वास्तव में उस समय १३ दिन के अंतर पर दूसरा ग्रहण लगा था, या लेखक ने अशुभ लक्षणों में इसे भी दिखा देना उत्तम समझा, कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कभी-कभी पक्ष (अर्ध-मास) १४ दिन से कम का भी होता है; और तब उसे १३ दिन का गिना जा सकता है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने बताया है कि शक १७९३ में फाल्गुन का कृष्ण पक्ष कुल १३ दिन का था। इसी प्रकार शक १८०० के ज्येष्ठ का शुक्ल पक्ष फिर कुल १३ दिन का था। ये १३ दिन के पक्ष बिरले अवसरों पर ही आते हैं। आधुनिक ज्योतिष के अनुसार पक्ष का न्यूनतम मान १४ दिनों से थोड़ा ही कम निकलता है। इस संबंध में पाठक को स्मरण रखना चाहिए कि न तो सूर्य सदा एक वेग से चलता है और न चंद्रमा ही। इसलिए पक्षों की लंबाई बराबर नहीं होती। यदि १४ दिन से कुछ कम का पर्व हुआ तो भारतीय गणना के अनुसार दो ग्रहण १३ दिन पर लग सकते हैं। उदाहरणतः, यदि किसी दिन (स्पष्टता के लिए मान लें १ जनवरी को) सूर्योदय के कुछ मिनट बाद तक ग्रहण लगा रहा तो अवश्य ही कहा जायगा कि उस दिन (अर्थात १ जनवरी को) सूर्यग्रहण लगा था। १३ दिन बाद १४ जनवरी हो जायगी। उस दिनांक को यदि रात बीतने के दस-पाँच मिनट पहले चंद्रग्रहण आरंभ हुआ तो अवश्य ही लोग कहेंगे कि १४ जनवरी को चंद्रग्रहण लगा, क्योंकि विशुद्ध भारतीय पद्धति में दिनांक सूर्योदय के क्षण बदलता है, अर्धरात्रि के क्षण नहीं। इस उदाहरण में १ जनवरी वाले सूर्यग्रहण के मध्य से १४ जनवरी वाले चंद्रग्रहण के मध्य तक १३ दिन से कई घंटे अधिक बीत चुके रहेंगे, यद्यपि साधारण लोगों की भाषा में १३ दिन पर ही ग्रहण लग गया। इसलिए १३ दिन पर ग्रहण लगना अवश्य ही संभव है।

तो भी, संभव होना एक बात है, वस्तुतः घटित होना दूसरी बात है। मुझे तो महाभारत-युद्ध के आरंभ में पूर्वोक्त दो ग्रहणों का लगना केवल कवि की कल्पना

[1] सर्व चंद्रग्रहण के अवसर पर ऐसा ही होता है।

जान पड़ती है । इस संदेह का समर्थन यों भी होता है कि दुर्योधन के मरने पर भी वही बात लिखी गयी है :

राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ॥ १० ॥

गदापर्व, अ. २७.

युद्ध के एक महीने पहले सूर्यग्रहण लग चुका था[1] । युद्ध के अंत में फिर सूर्य-ग्रहण का लगना असंभव था । अपर्व में ग्रहण लगना तो सर्वदा असंभव है ही । इसलिए दुर्योधन के मरते समय अपर्व में ग्रहण लगना कवि की कल्पना ही हो सकती है । अतः ग्रहण संबंधी अन्य चर्चाएँ भी अवास्तविक हों तो क्या आश्चर्य है ।

परंतु इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रहण कितने-कितने दिन पर लग सकते हैं इसका अच्छा ज्ञान उस समय भी था ।

राहु सूर्य को निगल जाता है, इससे सूर्यग्रहण लगता है; इस कथन से पता नहीं चलता कि सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण का वास्तविक कारण महाभारत के समय के ज्योतिषियों को ज्ञात था या नहीं । परंतु ग्रहों के संबंध में महाभारत में कहीं उन्हें पाँच माना गया है, कहीं सात । सात ग्रह तभी संभव हैं जब राहु और केतु भी उनमें गिने जायँ । परंतु राहु और केतु का भी ग्रह माना जाना सूचित करता है कि उनकी गतियाँ ज्ञात थीं । इससे बड़ी संभावना हो जाती है कि ग्रहणों का ठीक कारण भी उस समय ज्ञात था ।

ग्रह

ग्रहों की संख्या के संबंध में एक उद्धरण नीचे दिया जाता है :

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेयाः प्रहारिणः ॥
राक्षसं दुद्रुवुः संख्ये ग्रहाः पंच रविं यथा ॥३७॥

भीष्मपर्व, अ. १००.

अर्थ—जैसे पाँच ग्रह सूर्य को घेरते हैं, वैसे ही द्रौपदी के पाँचों महान धनुर्धर पुत्रों ने क्रुद्ध होकर अलम्बुष नामक राक्षस को घेर कर उस पर आक्रमण किया ।

[1] **दीक्षित, भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ ११५ ।**

ग्रहों की अनुदिश तथा प्रतिदिश (वक्र) गतियाँ, अर्थात उनका आगे और पीछे चलना, भी महाभारत के समय के लोग जानते थे[1]। लिखा है :

प्रत्यागत्य पुनर्जिष्णुर्जघ्ने संसप्तकान् बहून् ॥
वक्रातिवक्रगमनादंगारक इव ग्रहः ॥ १ ॥

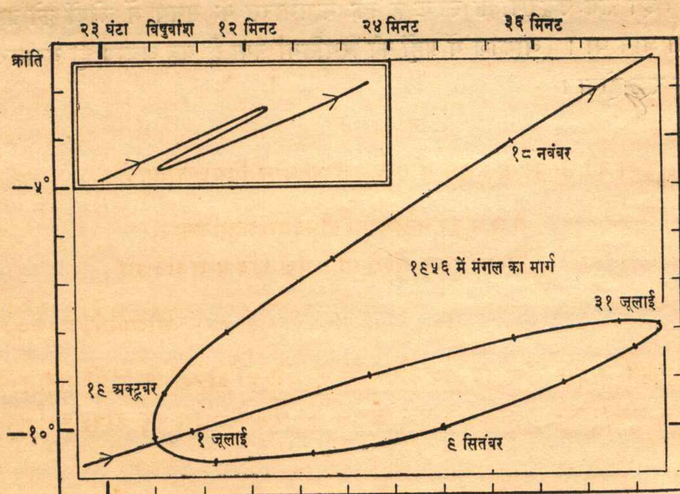
कर्णपर्व, अ. १४ (भंडारकर रि० इं०).

अर्थ---फिर अर्जुन ने पीछे लौटकर बहुत-से संसप्तकों पर उसी प्रकार प्रहार किया जैसे तीव्र वक्र गति से चलता हुआ मङ्गल नामक ग्रह।

तारों के बीच कौन ग्रह कहाँ है इसका उल्लेख बीसों स्थान पर है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

श्वेतोग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति ॥ १२ ॥
धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
मघास्वंगारको वक्र श्रवणे च बृहस्पतिः॥
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ॥ १४ ॥

[1] पाठकों की जानकारी के लिए नीचे १९५६ में तारों के सापेक्ष मंगल का मार्ग दिखाया गया है। देखें कि लगभग ५ जूलाई से ९ अक्टूबर तक मंगल की गति वक्र (अर्थात उलटी दिशा में) है। [कोने में अन्य ग्रह का मार्ग दिखाया गया है।]



शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते ।। १५ ।।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।।
चित्रास्वात्यंतरे चैव विष्टितः परुषग्रहः ।।१७।।
वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः ।।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहितांगो व्यवस्थितः ।।१८
संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ ।।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ।। २७ ।।

भीष्मपर्व, अ. ३.

अर्थ—(व्यास जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्! कार्तिकी के बाद संग्राम का आरंभ होगा, क्योंकि उस समय) श्वेतग्रह (केतु) चित्रा को पार करके (स्वाती पर) रहेगा। महाभयंकर धूमकेतु (पुच्छलतारा) पुष्य के पार पहुँचेगा। मघा पर मंगल तथा श्रवण पर बृहस्पति वक्र होंगे एवं पूर्वा फाल्गुनी को पकड़ कर शनि उसे पीड़ित करेगा। पूर्वा भाद्रपदा नक्षत्र पर समारूढ़ होकर शुक्र प्रकाशमान होगा। सूर्य और चंद्रमा दोनों रोहिणी में रहेंगे और परुषग्रह (निर्दयी ग्रह) चित्रा और स्वाती के बीच रहेगा। वक्रानुवक्र (अर्थात अति वक्र) होकर श्रवण में अग्नि के समान लाल लोहितांग (मंगल) ब्रह्मराशि (तारा विशेष) को भलीभाँति ढक लेगा। अत्यंत प्रज्वलित बृहस्पति और शनैश्चर विशाखा के समीप वर्ष भर तक रहेंगे। [और ग्रहों की ये स्थितियाँ अत्यंत अनिष्टकारी हैं।]

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभारत के समय में लोगों को ग्रहों का अच्छा ज्ञान था। आकाश में ग्रहों की स्थितियाँ क्या हैं यह अवश्य ही बराबर देखा जाता रहा होगा।

अध्याय ८

आर्यभट

वेदांग-ज्योतिष के बाद

वेदांग-ज्योतिष के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक का हमें कोई भारतीय ज्योतिष-ग्रंथ नहीं मिलता; तब कौटिल्य के अर्थशास्त्र से (जो लगभग ३०० ई० पूर्व का है) पता चलता है कि उस समय भी ज्योतिष में विशेष उन्नति नहीं हो पायी थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के लगभग १०० वर्ष बाद की एक पुस्तक सूर्य-प्रज्ञप्ति है जिसमें जैनियों के मतानुसार विश्व की रचना दी गयी है। इसके ज्योतिष सम्बन्धी नियम वेदांग-ज्योतिष से मिलते-जुलते हैं। इसके बाद लगभग ७०० वर्ष के भीतर का लिखा हमें कोई ग्रंथ नहीं मिलता। तब हमें सन ४९९ ईसवी का आर्यभट-लिखित आर्यभटीय मिलता है। तंत्र नामक ग्रंथ भी आर्यभट का लिखा है। ये दोनों ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। आर्यभट का जन्म सन ४७६ ई० में हुआ था। उनके बाद वराहमिहिर हुए जिनकी एक रचना पंचसिद्धान्तिका है। पंचसिद्धान्तिका में विशेषता यह है कि उसमें लेखक ने अपना सिद्धान्त न देकर उस समय के पाँचों प्रचलित सिद्धान्तों का वर्णन दिया है। ये हैं पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह। वराहमिहिर ने लिखा है कि "इन पाँच में से पौलिश और रोमक के व्याख्याकार लाट-देव हैं। पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है, रोमक सिद्धान्त उसी के निकट है, सूर्यसिद्धान्त सब से अधिक स्पष्ट है, शेष दोनों बहुत भ्रष्ट हैं"। वराहमिहिर की मृत्यु सन ५८७ ई० में हुई। पंचसिद्धान्तिका में दिये हुए पैतामह सिद्धान्त में गणना करने के लिए सन ८० ई० को आदि काल माना है जिससे अनुमान किया जाता है कि असली पैतामह सिद्धान्त लगभग उसी समय रचा गया होगा। पैतामह सिद्धान्त भी ज्योतिष-वेदांग से बहुत आगे नहीं बढ़ पाया है। इसलिए वराहमिहिर ने इसे भ्रष्ट बताया है।

वराहमिहिर के बाद सन ५९८ ई० में ब्रह्मगुप्त उत्पन्न हुए जिनकी लिखी पुस्तकें ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त और खंडखाद्यक आज भी प्राप्य हैं। भास्कराचार्य ने अपनी

रचना सिद्धान्तशिरोमणि को ११५० ई० में तैयार किया। उनके बाद फिर किसी भारतीय ज्योतिषी ने विशेष ख्याति नहीं प्राप्त की।

आर्यभट के पहले के ज्योतिषी

जैसा ऊपर बताया गया है आर्यभट की पुस्तक आर्यभटीय आज भी प्राप्य है। परंतु आर्यभट के पहले भी कुछ प्रसिद्ध ज्योतिषी हो गये हैं जिनकी पुस्तकें अब लुप्त हो गयी हैं। इन ज्योतिषियों में से गर्ग की चर्चा कई स्थानों पर आती है। महाभारत में लिखा है कि गर्ग महर्षि राजा पृथु के ज्योतिषी थे। उनको काल का ज्ञान विशेष-रूप से अच्छा था। उनका गार्गी-संहिता अब लुप्त हो गया है, परंतु सम्भव है गणित-ज्योतिष के बदले इसमें फलित ज्योतिष की बातें ही अधिक रही हों। वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त बृहत्संहिता नामक ग्रंथ भी लिखा है जो फलित ज्योतिष पर है। उसमें उन्होंने गर्ग से कई अवतरण दिये हैं जिनमें से दो तीन यहाँ दिये जाते हैं[१]:

"वृद्ध गर्ग के प्रमाण पर मैं कहता हूँ कि सप्तऋषि मघा में थे।"[२]

"देवताओं के निवासस्थान मेरु पर्वत की इस वाटिका में नारद ने रोहिणी योग के नियमों की शिक्षा बृहस्पति को दी। उन्हीं नियमों की शिक्षा गर्ग, पराशर, कश्यप और मय अपने अनेक शिष्यों को देते रहे हैं। उनके तथ्यों का निरीक्षण कर मैं संक्षिप्त पुस्तक लिखता हूँ"[३]।

"मैंने केतुओं की चर्चा की है, परंतु पहले मैंने गर्ग, पराशर और असित देवल की पुस्तकों का, तथा अन्य सब पुस्तकों का, चाहे वे गिनती में कितनी भी अधिक हों, अध्ययन कर लिया है"[४]।

पुलिश, जिसके पौलिशसिद्धान्त को संक्षेप में वराहमिहिर ने अपनी पंच-सिद्धान्तिका में दिया है, संभवतः कोई यवन था, क्योंकि अलबीरूनी ने (सन १०३१ ई० में) अपने 'भारतवर्ष' में लिखा है कि पौलिश सिद्धान्त को पुलिश ने बनाया है, जो सत्र (सम्भवतः अलेकजैंड्रिया) का निवासी था।

[१] के महाशय की पुस्तक 'हिन्दू ऐस्ट्रॉनोमी' में दिये गये अवतरणों से संकलित।

[२] बृहत्संहिता २।३।

[३] बृहत्संहिता २४।२। पराशर तथा कश्यप के बारे में हमें अन्य कोई ज्ञान नहीं है। मय ने सूर्य-सिद्धान्त की घोषणा की थी।

[४] बृहत्संहिता ११।१। असित देवल का भी पता अब नहीं चलता।

ज्योतिष पर बौद्ध धर्म के विचार

बौद्ध धर्म फलित ज्योतिष को, और अंशतः गणित ज्योतिष को भी, बहुत ही हीन दृष्टि से देखता था। लिखा है कि

"कुछ ब्राह्मण और शर्मा लोग अपनी जीविका का उपार्जन नीच वृत्तियों से करते हैं और भय द्वारा दिये गये अन्न का भोग करते हैं। वे भविष्यवाणी करते हैं कि सूर्य-ग्रहण लगेगा; चंद्रग्रहण लगेगा; नक्षत्रों का ग्रहण लगेगा; चंद्रमा और सूर्य पथ में चलेंगे; चंद्रमा और सूर्य उपपथ में चलेंगे; नक्षत्र पथ में चलेंगे; नक्षत्र उपपथ में चलेंगे; उल्कापात होगा; दिशा-दाह (?) होगा; भूचाल होगा; देवदुंदुभि बजेगी; सूर्य, चंद्रमा और नक्षत्र का उलटा-पलटा उदय होगा, अस्त होगा; सब पर विपत्ति पड़ेगी।"[1]

आर्यभट

जब बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा, गुप्तकाल में हिंदू धर्म का उत्थान हुआ और यवनों की ज्योतिष का भी भारतवर्ष में आगमन हुआ, तब भारतीय ज्योतिष का भी अध्ययन-अध्यापन जोरों से होने लगा[2]। इसका फल यह हुआ कि विक्रम की छठवीं शताब्दी में ज्योतिष के कई आचार्य उत्पन्न हो गये। किसी ने भारतीय ज्योतिष का मंथन करके ज्योतिष पर ग्रंथ रचे, किसी ने यवन ज्योतिष का सार लेकर ग्रंथ बनाये, किसी ने दोनों का सार लेकर ज्योतिष के ग्रंथों की रचना की (और किसी ने खोजों से प्राप्त नवीन ज्ञान का भी समावेश किया)। इनमें सब से प्रमुख आर्यभट हुए, जिन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आर्यभटीय में अपना जन्म-काल कलियुग संवत ३५७७ बताया है और ग्रहों की गणना के लिए ३६०० कलि संवत निश्चय किया है। इनकी पुस्तक में शक काल अथवा विक्रम संवत की चर्चा नहीं है।...इस नाम के एक और ज्योतिषी ९५० ई० के लगभग हो गये हैं जिन्होंने महासिद्धांत नामक ज्योतिष-ग्रंथ की रचना की है। इसलिए इन्हें हम प्रथम आर्यभट कहेंगे।

[1] दीघनिकाय १।६८ (पाली टेक्स्टबुक सोसायटी)।

[2] यहाँ से इस अध्याय के अंत तक की पूरी सामग्री मेरे द्वारा संपादित सरल विज्ञानसागर नामक ग्रंथ के एक अध्याय से लिया गया है, जिसके लेखक स्वर्गीय महावीर प्रसाद श्रीवास्तव थे।

आर्यभटीय के ध्रुवांक

प्रथम आर्यभट के समय में ६० संवत्सरों के युग का प्रचार अच्छी तरह हो गया था, क्योंकि इन्होंने अपना जन्म-काल बताते हुए ६० संवत्सरों के युग का प्रयोग किया है और लिखा है कि ६० संवत्सरों के ६० युग और तीन युगपाद (सतयुग, त्रेता, द्वापर) जब बीत गये तब मेरे जन्म से २३ वर्ष बीत चुके थे[1]। इन्होंने कुसुमपुर[2] में, जिसे आजकल पटना कहते हैं, अपने ग्रंथ आर्यभटीय का निर्माण किया था। ये बड़े ही प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे और प्राचीन ग्रंथों को अपने अनुभवों से शोधकर आर्यभटीय ग्रंथ की रचना[3] की। पीछे के आचार्यों, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, आदि, के कथनों[4] से प्रकट होता है कि इन्होंने एक और ग्रंथ की रचना की थी जिसके ध्रुवाङ्क आर्यभटीय के ध्रुवाङ्क से कुछ भिन्न थे, युग का आरंभ अर्द्ध-रात्रि से माना गया था और महायुगीय सावन दिनों का मान ३०० दिन अधिक था। ब्रह्मगुप्त ने अपने खण्डखाद्यक नामक ज्योतिष-ग्रंथ की रचना इन्हीं ध्रुवाङ्कों के आधार पर की थी। अब इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल गया है कि आर्यभट ने दो ग्रंथों की रचना की थी, एक में युग का आरंभ आधी रात से और युग में सावन दिनों की संख्या

[1] षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥१०॥
कालक्रियापाद।

[2] ब्रह्मकुशशिबुधभृगुरविकुजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य।
आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम् ॥१॥
गणितपाद।

[3] सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिनावा ॥४९॥
गोलपाद।

[4] युगरविभगणाः ख्युघ्रीति यत् प्रोक्तं तत्तयोर्युगं स्पष्टम्।
त्रिशती ख्युदयानां तदन्तरं हेतुना केन ॥
ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त, ११, ५।

लङ्कार्द्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्य्यभटः।
भूयः स एव सूर्य्योदयात् प्रभृत्याह लङ्कायाम् ॥
पंचसिद्धान्तिका, १५, २०।

३०० अधिक मानी गयी थी और दूसरे में युग का आरंभ सूर्योदय से माना गया था। पहली गणना को अर्द्ध-रात्रिक गणना और दूसरी को औदयिक गणना कहते हैं। यह प्रमाण महाभास्करीय और लघुभास्करीय नामक ग्रंथों से मिलता है। इन पुस्तकों की रचना भास्कर नामक किसी ज्योतिषी ने की थी जो आर्यभट की शिष्य-परंपरा में थे और सिद्धान्तशिरोमणि के रचयिता प्रसिद्ध भास्कराचार्य से भिन्न थे। इसलिए इनका नाम भास्कर प्रथम लिखना ठीक होगा। प्रथम पुस्तक में पहले औदयिक[1] विधि से गणना करने के ध्रुवाङ्क दिये गये हैं; फिर अर्द्धरात्रिक विधि से। जान पड़ता है कि आर्यभट का पहले का लिखा हुआ ग्रंथ वही था जो किसी प्रकार लुप्त हो गया और आर्यभटीय दूसरा ग्रंथ है जिसकी रचना २३ वर्ष की अवस्था में नहीं की गयी थी, वरन अधिक अवस्था में की गयी थी, जब आर्यभट ने बार-बार के वेधों से अपनी पहली रचना में संशोधन कर लिये थे। आर्यभटीय की रचना-पद्धति बहुत ही वैज्ञानिक और भाषा बहुत ही संक्षिप्त तथा मँजी हुई है। इसलिए इनका जन्म-काल बताने वाले श्लोक का अर्थ केवल इतना ही है कि ३६०० कलियुग में उनकी अवस्था २३ वर्ष की थी जब ग्रहों के ध्रुवाङ्कों की गणना निश्चय की गयी थी। यही बात आर्यभटीय के टीकाकारों[2] ने भी मानी है।

संख्या लिखने की अनोखी रीति

आर्यभटीय में कुल १२१ श्लोक हैं जो चार खण्डों में विभाजित किये गये हैं:—(१) गीतिकापाद, (२) गणितपाद, (३) कालक्रियापाद और (४) गोलपाद। गीतिका-

[1] **निबन्धः कर्म्मणां प्रोक्तो योऽसावौदयिको विधिः।**
अर्द्धरात्रेस्त्वयं सर्व्वो यो विशेषः स कथ्यते ॥२१॥
त्रिशती भूदिने क्षेप्या ह्यवमेभ्यो विशोध्यते।
ज्ञगुर्वोर्भगणेभ्योऽपि विंशतिश्च ततोऽब्धयः ॥२२॥
अन्यस्याप्येवमेव स्यात् शेषाः प्रागुवतकल्पना।
एतत्सर्वं समासेन तन्त्रान्तरमुदाहृतम् ॥३३॥

[2] **एतदेवाचार्य्यार्य्यभटस्य शास्त्रव्याख्यानसमये वा**
पाण्डुरंग स्वामिलाटदेवनिःशंकुप्रभृतिभ्यः प्रोवाच।

भास्कर प्रथम

अस्यायमभिप्रायः। अस्मिन् काले गीतिकोक्त भगणैस्त्रै-
राशिकेनानीता ग्रहमध्यमोच्चपाताः स्फुटाः स्यु ॥

सूर्यदेव यज्वा की 'प्रकाशिका' टीका

पाद सबसे छोटा, केवल ११ श्लोकों का है, परंतु इसमें इतनी सामग्री भर दी गयी है जितनी सूर्यसिद्धांत के पूरे मध्यमाधिकार और कुछ स्पष्टाधिकार में आयी है। इसके लिए आर्यभट ने अक्षरों द्वारा संक्षेप में संख्या लिखने की एक अनोखी रीति का निर्माण किया है जो इस श्लोक में प्रकट की गयी है :--

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङमौ यः।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा॥

अर्थ—**क** से आरंभ करके वर्ग अक्षरों को वर्ग स्थानों में और अवर्ग अक्षरों को अवर्ग स्थानों में (व्यवहार करना चाहिए), (इस प्रकार) **ङ** और **म** मिलकर **य** (होता है)। वर्ग और अवर्ग स्थानों के ९ के दूने शून्यों को ९ स्वर प्रकट करते हैं। यही (क्रिया) ९ वर्ग स्थानों के अन्त के पश्चात (दुहरानी) चाहिए[1]।

एकाई, सैकड़ा, दस हजार, दस लाख आदि विषम स्थानों को वर्ग स्थान और दहाई, हजार, लाख आदि सम स्थानों को अवर्ग स्थान कहते हैं, क्योंकि १, १००, १०००० आदि के वर्गमूल पूर्णाङ्कों में जाने जा सकते हैं, परंतु १०, १०००, १००००० आदि के वर्गमूल पूर्णाङ्कों में नहीं निकल सकते। संस्कृत या हिन्दी व्याकरण में वर्णमाला के अक्षर दो भागों में बाँटे गये हैं, १६ स्वर और ३३ व्यंजन। फिर, व्यंजन दो भागों में बाँटे गये हैं, वर्ग और अवर्ग। **क** से **म** तक के अक्षर पाँच वर्गों में, अर्थात कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग में, बाँटे गये हैं। शेष ८ अक्षरों को (अर्थात **य, र, ल, व, श, ष, स, ह** को) अवर्ग कहा गया है। आर्यभट ने वर्ग अक्षरों को १, २, ..., २५ तक की संख्याओं को सूचित करने के लिए निर्धारित किया; अवर्ग अक्षरों से ३०, ४०, ...,१०० को निरूपित किया; और शून्य लगाने के लिए स्वरों से काम लिया।

[1] इस श्लोक के अर्थ पर पाश्चात्य विद्वानगण व्हिश, ब्राक्हाउस, कर्न, बार्थ, रोडे, के, फ्लीट, क्लार्क और भारतीय विद्वानगण दत्त, गंगोली, दास और लहिरी ने अच्छी तरह विचार किया है। 'ख' का अर्थ क्लार्क और फ्लीट ने 'स्थान' किया है, परंतु इस का अर्थ शून्य युक्तियुक्त और परम्परा के अनुसार है; और आर्यभटीय के व्याख्याकार भास्कर प्रथम, सूर्यदेव यज्वा आदि ने यही अर्थ किया है (देखें विभूतिभूषण दत्त और अवधेश नारायण सिंह की हिस्टरी ऑव हिन्दू मैथिमैटिक्स, भाग १, पृष्ठ ६५)।

१६ स्वरों में केवल ९ स्वर **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ** इस काम के लिए प्रयुक्त होते हैं और वे क्रमानुसार $१००^०$, $१००^१$, $१००^२$, $१००^३$, $१००^४$, ... प्रकट करते हैं।

रीति का स्पष्टीकरण

पूर्वोक्त कल्पना के अनुसार अक्षरों से संख्या लिखने की रीति यह है :—

क=१	ट=११	फ=२२
ख=२	ठ=१२	ब=२३
ग=३	ड=१३	भ=२४
घ=४	ढ=१४	म=२५
ङ=५	ण=१५	य=३०
च=६	त=१६	र=४०
छ=७	थ=१७	ल=५०
ज=८	द=१८	व=६०
झ=९	ध=१९	श=७०
ञ=१०	न=२०	ष=८०
	प=२१	स=९०;
		ह=१००;

अ = १;

इ = १००;

उ = $१००^२$ अर्थात १००००;

ऋ = $१००^३$ अर्थात १००००००;

लृ = $१००^४$ अर्थात १००००००००;

ए = $१००^५$ अर्थात १००००००००००;

ऐ = $१००^६$ अर्थात १०००००००००००००;

ओ = $१००^७$ अर्थात १००००००००००००००;

औ = $१००^८$ अर्थात १००००००००००००००००;

उदाहरण

नियम का अधिक विस्तार न करके केवल तीन उदाहरण देकर बताया जायगा कि आर्यभट ने अपनी रीति का व्यवहार कैसे किया है। एक महायुग में सूर्य पृथ्वी का

४३,२०,००० चक्कर (भगण)[१] लगाता हुआ माना गया है, चन्द्रमा ५,७७,५३,३३६ और पृथ्वी १,५८,२२,३७,५०० बार घूमती हुई मानी गयी है। इन तीन संख्याओ को आर्यभट ने इस प्रकार प्रकट किया है :

ख्युघृ, चयगियिङुशुछ्लृ और ङिशिबुण्लृख्षृ

ख २ के लिए लिखा गया है और **य** ३० के लिए। दोनों अक्षर मिलाकर लिखे गये हैं और इनमें **उ** की मात्रा लगी है जो $१००^२$ या १०००० के समान है; इसलिए **ख्यु** का अर्थ हुआ ३२×१००^२ या ३२००००। **घृ** के **घ** का अर्थ है ४ और **ऋ** का $१००^३$ या १००००००; इसलिए **घृ** का अर्थ हुआ ४००००००; इसलिए **ख्युघृ**=खु+यु+घृ। अब

	खु=	२००००
	यु=	३०००००
	घृ=	४००००००
इसलिए	ख्युघृ=	४३२००००

इसी प्रकार	च=	६
	य=	३०
	गि=	३००
	यि=	३०००
	ङु=	५००००
	शु=	७०००००
	छ्लृ=	५७००००००
		५७७५३३३६

[१] भग के 'भ' का अर्थ है नक्षत्र; इसीलिए भगण का अर्थ हुआ नक्षत्रगण या रविमार्ग के २७ नक्षत्र, जिन पर एक बार चलने से ग्रहों का एक चक्कर पूरा होता है। इसलिए भगण का अर्थ हुआ चक्कर, और भगणकाल का अर्थ हुआ एक चक्कर या परिक्रमा करने का समय।

यहाँ छ में ऌ की मात्रा नहीं लगी है वरन् छ और ल में ऋ की मात्रा लगी है; इसलिए छ्ल का अर्थ हुआ ५७।

ऐसे ही,

ङि =	५००
शि =	७०००
बु =	२३००००
ण्लृ =	१५००००००००
ख्वृ =	८२००००००
	१५८२२३७५००

संख्या लिखने की इस रीति में सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि अक्षरों में थोड़ा-सा भी हेर-फेर हो जाय तो बड़ी भारी भूल हो सकती है। ऊपर के तीसरे उदाहरण में कर्न की पुस्तक में बु के स्थान में षु छप गया है, जिसका अर्थ हुआ ८,००,०००, जब बु का अर्थ होता है २,३०,०००।

दूसरा दोष यह है कि ल में ऋ की मात्रा लगायी जाय तो इसका अब रूप वही होता है जो ऌ स्वर का, परन्तु दोनों के अर्थों में बड़ा अंतर पड़ता है। दूसरे उदाहरण में छ्लृ में छ और ल अलग-अलग अक्षर हैं और इन दोनों में ऋ की मात्रा लगायी गयी है, परंतु तीसरे उदाहरण में ण में ऌ की मात्रा लगी है, ल स्वतंत्र अक्षर नहीं है। दूसरे उदाहरण का अक्षर छ सात की संख्या सूचित करता है; इसलिए यह ल के साथ, जो ५० की संख्या सूचित करता है, जोड़ा जा सकता है और दोनों में ऋ की मात्रा लगायी जा सकती है, परंतु तीसरे में पहला अक्षर ण १५ की संख्या सूचित करता है, इसलिए इसमें ल अक्षर नहीं जोड़ा जा सकता, परंतु ऌ की मात्रा लगायी जा सकती है। निस्संदेह, हाथ से लिखने में पहले ल में ऋ की मात्रा और ऌ की मात्रा में अंतर स्पष्ट कर दिया जाता रहा होगा, परंतु आधुनिक छपाई में यह अंतर मिट गया है।

आर्यभटीय की विषय-सूची

इन दोषों के होते हुए भी इस प्रणाली के लिए आर्यभट की प्रतिभा की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। इसमें उन्होंने थोड़े ही श्लोकों में बहुत-सी बातें लिख डाली हैं। गागर में सागर भर दिया है।

ऊपर के उद्धृत श्लोक तथा इससे पहले के प्रथम श्लोक की, जिसमें ब्रह्मा और परमब्रह्म की वंदना की गयी है, कोई क्रमसंख्या नहीं दी गयी है, क्योंकि ये प्रस्तावना

के रूप में हैं और गीतिकापाद में सम्मिलित नहीं किये गये हैं, जैसा कि गीतिकापाद के ११वें श्लोक[1] में आर्यभट ने स्वयं लिखा है। इसके बाद के श्लोक की क्रमसंख्या १ है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, शनि, गुरु, मंगल, शुक्र और बुध के महायुगीय भगणों की संख्या बतायी गयी है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि आर्यभट ने एक महा-युग में पृथ्वी के घूर्णन की संख्या भी दी है, क्योंकि उन्होंने पृथ्वी का दैनिक भ्रमण माना है और इसके लिए आगे गोलपाद के ९वें श्लोक में नौका के चलने का उदाहरण भी दिया है। इस बात के लिए पीछे के आचार्यों ने, जैसे वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त आदि ने, इनकी निन्दा की है। इससे भी आर्यभट की स्वतंत्रता का पता चलता है।

अगले श्लोक में ग्रहों के उच्च और पात के महायुगीय भगणों की संख्या बतायी गयी है। तीसरे श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्मा के एक दिन में कितने मन्वन्तर और युग होते हैं और युधिष्ठिर के महाप्रस्थान के दिन (गुरुवार) के पहले कितने युग और युगपाद बीत चुके थे। इस श्लोक में भी एक नवीनता है। प्रत्येक महायुग में सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग भिन्न-भिन्न परिमाण के माने जाते हैं। परंतु आर्यभट ने सबको समान माना है, उन्होंने लिखा है कि वर्तमान महायुग के तीन युगपाद (=युग के चतुर्थांश) बीत गये थे जब कलियुग लगा। आगे के सात श्लोकों में राशि, अंश, कला आदि का संबंध, आकाश-कक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र आदि की गति, अंगुल, हाथ, पुरुष और योजन का संबंध, पृथ्वी के व्यास तथा सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के बिम्बों के व्यास के परिमाण, ग्रहों की क्रान्ति और विक्षेप, उनके पातों और मंदोच्चोंके स्थान, उनकी मंद परिधियों और शीघ्र परिधियों के परिमाण तथा ३ अंश ४५ कला के अंतरों पर ज्याओं के मानों की सारणी है। इस प्रकार प्रकट है कि आर्यभट ने अपनी नवीन संख्या गणना की पद्धति से ज्योतिष और त्रिकोणमिति की बहुत-सी बातें दस श्लोकों में भर दी हैं।

अंकगणित और रेखागणित

आर्यभट पहले आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपने ज्यौतिष सिद्धान्त-ग्रंथ में अङ्क-गणित, बीजगणित और रेखागणित के प्रश्न दिये हैं। उन्होंने बहुत-से कठिन प्रश्नों को तीस श्लोकों में भर दिया है। एक श्लोक में तो श्रेढी-गणित के ५ नियम आ गये हैं। पहले श्लोक में अपना नाम और स्थान भी बता दिया है। स्थान कुसुमपुर

[1] दशगीतिकासूत्रमिदं भूग्रहचरितं भपञ्जरे ज्ञात्वा।
ग्रहभगणपरिभ्रमणं स याति भित्त्वा परं ब्रह्म॥

है, जिसे आजकल पटना कहते हैं। दूसरे श्लोक में संख्या लिखने की दशमलव पद्धति की एकाइयों के नाम हैं। इसके आगे के श्लोकों में वर्ग, वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शंकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्र-फल, गोल का घनफल, विषम-चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णों के सम्पात से भुज की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रों की मध्यम लम्बाई और चौड़ाई जानकर क्षेत्रफल जानने के साधारण नियम दिये गये हैं। एक जगह बताया गया है कि परिधि के छठवें भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है। एक श्लोक में बताया गया है कि वृत्त का व्यास दो हजार हो तो उसकी परिधि ६२८३२ होती है। इससे परिधि और व्यास का संबंध चौथे दशमलव स्थान तक शुद्ध आ जाता है। दो श्लोकों में ज्याओं के जानने की व्युत्पत्ति बतायी गयी है, जिससे सिद्ध होता है कि ज्याओं की सारणी आर्यभट ने कैसे बनायी थी। आगे वृत्त, त्रिभुज और चतुर्भुज खींचने की रीति, समतल के परखने की रीति, लंबक (साहुल प्रयोग करने की रीति, शंकु और छाया से छायाकर्ण जानने की रीति, किसी दीपक और उससे बनी हुई शंकु की छाया से दीपक की ऊँचाई और दूरी जानने की रीति, एक ही रेखापर स्थित दीपक और दो शंकुओं के संबंध के प्रश्न की गणना करने की रीति, समकोण त्रिभुज के भुजों और कर्ण के वर्गों का संबंध, जिसे पाइथागोरस का नियम कहते हैं, परन्तु जो शुल्व सूत्र में हजारों वर्ष पहले लिखा गया था, वृत्त की जीवा और शरों का संबंध, दो काटते हुए वृत्तों के सामान्य खण्ड और शरों का संबंध, दो श्लोकों में श्रेढी-गणित के कई नियम, एक श्लोक में एक-एक बढ़ती हुई संख्याओं के वर्गों और घनों का योगफल जानने का नियम, यह नियम कि

$$(\text{क}+\text{ख})^२-(\text{क}^२+\text{ख}^२)=२\ \text{कख},$$

दो राशियों का गुणनफल और अंतर जानकर राशियों को अलग-अलग करने की रीति, ब्याज की दर जानने का एक कठिन प्रश्न जो वर्ग समीकरण का उदाहरण है, त्रैराशिक का नियम, भिन्न के हरों को सामान्य हर में बदलने की रीति, भिन्नों को गुणा और भाग देने की रीति, बीजगणित के कुछ कठिन समीकरणों को सिद्ध करने के नियम, दो ग्रहों का युतिकाल जानने का नियम[१] और कुट्टक नियम बताये गये हैं।

जितनी बातें ३० श्लोकों में बतायी गयी हैं उनको यदि आजकल की परिपाटी के अनुसार विस्तार करके लिखा जाय तो एक बड़ी-सी पुस्तक बन सकती है और

[१] अर्थात इनडिटर्मिनेट समीकरणों के हल करने का का नियम।

उन सबको समझने के लिए हाई-स्कूल तक की शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी भी कठिनाई का अनुभव करेंगे।

कालक्रियापाद

कालक्रियापाद नामक अध्याय में ज्योतिष संबंधी बातें हैं। पहले दो श्लोकों में काल और कोण की एकाइयों का संबंध बताया गया है। आगे के ६ श्लोकों में अनेक प्रकार के मासों, वर्षों और युगों का संबंध बताया गया है। यहाँ एक विशेषता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ब्रह्मा का दिन या कल्प १००८ महायुगों का बताया गया है जो गीता, मनुस्मृति तथा अन्य सिद्धान्त-ग्रंथों के प्रतिकूल है, क्योंकि वे एक हजार महायुग का कल्प मानते हैं। नवें श्लोक में बताया गया है कि युग का प्रथमार्ध उत्सर्पिणी और उत्तरार्ध अवसर्पिणी काल है और इनका विचार चन्द्रोच्च से किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ समझ में नहीं आता। किसी टीकाकार ने इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं की है। दसवें श्लोक की चर्चा पहले ही आ चुकी है जिसमें आर्यभट ने अपने जन्म का समय बताया है। इसके आगे बताया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरंभ होती है। आगे के २० श्लोकों में ग्रहों की मध्यम और स्पष्टगति संबंधी नियम हैं।

गोलपाद

गोलपाद आर्यभटीय का अंतिम अध्याय है। इसमें ५० श्लोक हैं। पहले श्लोक से प्रकट होता है कि रविमार्ग के जिस विन्दु को आर्यभट ने मेषादि माना है वह वसंत-विषुव विन्दु था, क्योंकि वे कहते हैं कि मेष के आदि से कन्या के अंत तक रविमार्ग उत्तर की ओर हटा रहता है और तुला के आदि से मीन के अंत तक दक्षिण की ओर। आगे के दो श्लोकों में बताया गया है कि ग्रहों के पात और पृथ्वी की छाया, ये रविमार्ग पर भ्रमण करते हैं। चौथे श्लोक में बताया गया है कि सूर्य से कितने अंतर पर चन्द्रमा, मंगल, बुध, आदि दृश्य होते हैं। पाँचवाँ श्लोक बताता है कि पृथ्वी, ग्रहों और नक्षत्रों का आधा गोल अपनी ही छाया से अप्रकाशित है और आधा सूर्य के सम्मुख होने से प्रकाशित है, यद्यपि नक्षत्रों के संबंध में यह बात ठीक नहीं है। श्लोक ६, ७ में बताया गया है कि पृथ्वी के चारों ओर जल-वायु आदि फैले हुए हैं। ८वें श्लोक में यह विचित्र बात बतायी गयी है कि ब्रह्मा के दिन में पृथ्वी की गोलाई एक योजन बढ़ जाती है और ब्रह्मा की रात्रि में एक योजन घट जाती है। श्लोक ९ में बताया गया है कि जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को उलटी दशा में चलता हुआ देखता है, वैसे ही लंका (भूमध्य रेखा) से स्थिर

तारे पच्छिम की ओर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। परंतु १०वें श्लोक में यह भी बताया गया है कि प्रवह वायु के कारण नक्षत्र-चक्र और ग्रह पच्छिम की ओर चलते हुए उदय-अस्त होते हैं। श्लोक ११ में सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) का आकार और श्लोक १२ में सुमेरु और बड़वामुख (दक्षिणी ध्रुव) की स्थिति बतायी गयी है। श्लोक १३ में विषुवत रेखा पर नब्बे-नब्बे अंश की दूरी पर स्थित चार नगरों का वर्णन है। श्लोक १४ में लंका से उज्जैन का अंतर बताया गया है, जिससे लंका का अक्षांश ज्ञात होता है। श्लोक १५ में बताया गया है कि भूगोल की मोटाई के कारण खगोल आधे भाग से कम क्यों दिखायी पड़ता है। १६वें श्लोक में बताया गया है कि उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव पर खगोल किस प्रकार घूमता हुआ दिखायी पड़ता है। श्लोक १७ में देवताओं, असुरों, पितरों और मनुष्यों के दिन-रात का परिमाण है। श्लोक १८ से २१ तक खगोल-गणित की कुछ परिभाषाएँ हैं। श्लोक २२, २३ में भू-भगोल यंत्र का वर्णन है। श्लोक २४-३३ में त्रिप्रश्नाधिकार के प्रधान सूत्रों का वर्णन है, जिनसे लग्न, काल, आदि, जाने जाते हैं। श्लोक ३४ में लम्बन, ३५ में दृक्कर्म और ३६ में अयन दृक्कर्म का वर्णन है। श्लोक ३७ से ४७ तक में सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों की गणना करने की रीति है। श्लोक ४८ में बताया गया है कि क्षितिज और सूर्य के योग से सूर्य के, सूर्य और चन्द्रमा के योग से चन्द्रमा के, और चन्द्रमा, ग्रह तथा तारों के योग से सब ग्रहों के मूलाङ्क जाने गये हैं। श्लोक ४९ में बताया गया है कि सत और असत ज्ञान के समुद्र से बुद्धि रूपी नाव में बैठकर सद्ज्ञान रूपी ग्रंथरत्न किस प्रकार निकाला गया है। श्लोक ५० में बताया गया है कि आर्यभटीय ग्रंथ वैसा ही है जैसा आदि काल में स्वयम्भू का था; इसलिए जो कोई इसकी निन्दा करेगा उसके यश और आयु का नाश होगा।

आर्यभटीय के इतने वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें ज्योतिष-सिद्धान्त की प्रायः सभी बातें और उच्चगणित की कुछ बातें सूत्र रूप में लिखी गयी हैं। इसमें तिथि, नक्षत्र, आदि, की गणना तथा नक्षत्रों की सूची और उनकी स्थितियों के संबंध में कुछ नहीं कहा गया है। जान पड़ता है कि इन सब बातों का विशद विवेचन आर्य-भट ने अपने दूसरे ग्रंथ में किया था जिसका पता अब नहीं है।

आर्यभटीय की टीकाएँ

दक्षिण भारत में आर्यभटीय के आधार पर बने हुए पंचांग वैष्णव धर्म वालों को मान्य होते हैं। ब्रह्मगुप्त, जो आर्यभट के बड़े तीव्र समालोचक थे, अंत में इसी के आधार पर खण्डखाद्यक नामक करण-ग्रंथ लिखा था। हिन्दी में आर्यभटीय की

कोई अच्छी टीका नहीं है। संस्कृत में इसकी चार टीकाएँ हैं। प्रथम भास्कर, सूर्यदेव यज्वा, परमेश्वर और नीलकंठ की टीकाओं की चर्चा हिस्ट्री ऑव हिन्दू मैथिमैटिक्स[१] में है। इनमें से परमेश्वर या परमादीश्वर की भटदीपिका टीका के साथ उदयनारायण सिंह ने अपनी हिन्दी की टीका संवत १९६३ में प्रकाशित की थी। सूर्यदेव यज्वा की संस्कृत टीका का नाम आर्यभट-प्रकाश है। यह टीका भटदीपिका से बहुत अच्छी है, परन्तु अभी तक छपी नहीं है। अँग्रेजी में आर्यभटीय की एक टीका डाक्टर कर्न ने भटदीपिका के साथ सन १८७४ ई० में लाइडेन (हालैण्ड) में छापी थी।

[१] विभूतिभूषण दत्त तथा अवधेश नारायण सिंह कृत।

अध्याय ६

वराहमिहिर

पंचसिद्धांतिका

भारतीय ज्योतिष के इतिहास में वराहमिहिर-लिखित पंचसिद्धांतिका का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस अकेले ग्रंथ से पाँच विभिन्न सिद्धांतों का परिचय मिलता है, जिनमें से कुछ तो वराहमिहिर के समय से बहुत प्राचीन समय के थे और कुछ उसी समय के। बहुत दिनों तक यह ग्रंथ अप्राप्य था, परंतु प्रोफेसर बूलर जिनको बंबई की सरकार ने संस्कृत हस्तलिखित पोथियों की खोज का काम सिपुर्द किया था, इसकी दो प्रतियाँ प्राप्त करने में सफल हुए। डाक्टर थीबो और महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने इसे अँग्रेज़ी अनुवाद और संस्कृत टीका सहित सन १८८९ में प्रकाशित किया। डाक्टर थीबो ने इस अनुवाद के साथ एक विस्तृत भूमिका भी लिखी है। नीचे दी हुई बातें अधिकतर थीबो के अनुसार हैं।

पुस्तक की मूल दोनों प्रतियाँ बहुत स्थानों में अशुद्ध थीं, यहाँ तक की उनका अर्थ लगाना कठिन था। अनुमान से पाठ का संशोधन करके संशोधित पाठ छापा गया है। परंतु कहीं-कहीं तो इस प्रकार का अनुमान लगाना भी कठिन हो गया। यदि पंचसिद्धांतिका का कोई प्राचीन भाष्य होता तो इतनी कठिनाई न होती, परंतु दुर्भाग्यवश कोई भी भाष्य उपलब्ध न था।

सूर्य-सिद्धांत में लिखा है कि सूर्य ने स्वयं उस पुस्तक में बतायी गयी विद्या को मयासुर को बताया और उसने दूसरों को। इस प्रकार पाठकों के हृदय में यह बात जम जाती है कि उस पुस्तक में कोई त्रुटि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें स्वयं सूर्य भगवान की बतायी हुई बातें हैं। इसी प्रकार अन्य सिद्धांतों में भी प्रमाणिकता प्राप्त करने की कोई-न-कोई कथा रहती है। वराहमिहिर भी चाहते तो अपना सिद्धांत ही लिखते; उनके पांडित्य में कोई भी शंका नहीं है। परंतु उन्होंने उसके बदले अपने समय के पाँच प्रमुख सिद्धांतों का सारांश दिया। इतिहास की दृष्टि से यह बहुत ही अच्छा हुआ।

करणग्रंथ

यद्यपि ग्रंथ का नाम पंचसिद्धांतिका है, जिससे बोध होता है कि इसमें पाँच सिद्धांत दिये गये हैं, तो भी यह करणग्रंथ है। करणग्रंथ का अर्थ है काम-चलाऊ पुस्तक। करणग्रंथों में ऐसे नियम दिये रहते हैं जिनसे ज्योतिष की प्रमुख गणनाएँ चटपट हो जाती हैं, चाहे उत्तर पूर्णतया शुद्ध होने के बदले केवल मोटे ही हिसाब से शुद्ध निकले। सिद्धांत-ग्रंथों में नियमों के सिद्धांत दिये रहते हैं और ऐसे नियम दिये रहते हैं जिनसे उत्तर यथासंभव शुद्ध निकले, चाहे उन्हें निकालने में बहुत अधिक समय क्यों न लगे। परंतु पंचसिद्धांतिका में कई स्थानों में ऐसे विषय भी हैं जो साधारणतः करणग्रंथों में नहीं रहते, केवल सिद्धांतों में रहते हैं।

विवादग्रस्त अध्याय

पंचसिद्धांतिका में पैतामह, वासिष्ठ, रोमक, पौलिश और सौर (सूर्य) इन पाँच सिद्धांतों का सारांश दिया गया है। वराहमिहिर ने यह भी लिख दिया है कि इन सिद्धांतों में सबसे उत्तम कौन-सा है और शेष के स्थान क्या हैं। उन्होंने कहा है कि सूर्य-सिद्धांत सबसे उत्तम है, उसके बाद रोमक और पौलिश लगभग समकक्ष हैं और शेष दो सिद्धांत इनसे बहुत हीन हैं। पंचसिद्धांतिका में इन सिद्धांतों का विस्तार भी लगभग इसी क्रम में है। परंतु थीबो और सुधाकर द्विवेदी यह ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाये कि प्रत्येक सिद्धांत का विस्तार पंचसिद्धांतिका में कहाँ तक है, क्योंकि कुछ अध्याय ऐसे हैं जिनके न आरंभ में और न अंत में, या कहीं अन्यत्र, बताया गया है कि किस सिद्धांत के अनुसार वह अध्याय लिखा गया है। अधिकांश अध्यायों के बारे में कोई संदेह नहीं है। विवादग्रस्त अध्याय संभवतः वराहमिहिर के निजी हैं, या संभवतः वे दो या अधिक सिद्धांतों में सर्वनिष्ठ हैं।

सूर्य-सिद्धांत

सूर्य-सिद्धांत नामक ग्रंथ हमें अलग से भी उपलब्ध है और इस ग्रंथ का सारांश पंचसिद्धांतिका में भी है। तुलना करने से पता चलता है कि दोनों में बहुत अंतर है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराने सूर्य-सिद्धांत में, जो वराहमिहिर के समय में प्रचलित था, पीछे से संशोधन कर दिये गये हैं, जिनका उद्देश्य यह था कि सूर्य, चंद्रमा, आदि, के भगण (चक्कर लगाने का काल) वेध-प्राप्त (अर्थात आँख से देखे गये या यंत्रों से नापे गये) मानों के यथासंभव निकट आ जायँ। संशोधित सूर्य-सिद्धांत पुराने ग्रंथ से अधिक शुद्ध फल देता है, इसमें संदेह नहीं। इस संशोधित सूर्य-सिद्धांत को

हम आधुनिक सूर्य-सिद्धांत कहा करेंगे, यद्यपि संशोधन हुए लगभग १००० वर्ष हो गये हैं। कई बातों के सूक्ष्म विवेचन से थीबो और सुधाकर द्विवेदी इस निर्णय पर पहुँचे कि वराहमिहिर ने अपने समय में प्रचलित सूर्य-सिद्धांत का सच्चा सारांश दिया है; उसमें कोई मनमाना परिवर्तन नहीं किया है। इससे उनको विश्वास हो गया कि अन्य चार सिद्धांतों का सारांश भी वराहमिहिर ने बिना कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये ही दिया होगा।

सिद्धांत ग्रंथों में कलियुग के आरंभ से गणना करने की परिपाटी है। आधुनिक सूर्य-सिद्धांत में दी हुई बातों के अनुसार हम कलियुग के आरंभ की गणना कर सकते हैं। इस प्रकार कलियुग का आरंभ ३१०२ ईसवी पूर्व की १८वीं फरवरी के प्रारंभ वाली अर्धरात्रि पर होना ठहरता है। सिद्धांतों में यह भी बताया जाता है कि कलियुग के आरंभ में सूर्य, चंद्रमा, मंगल, बुध आदि ग्रह, राहु और वसंत विषुव का क्या स्थान था। यह भी दिया रहता है कि एक युग में कितने वर्ष और कितने अहोरात्र होते हैं, चंद्रमा कितना चक्कर लगाता है, मंगल कितना; इत्यादि। इस प्रकार सूर्य आदि पिंडों का कोणीय वेग ज्ञात रहता है, उनकी प्रारंभिक स्थिति ज्ञात रहती है और यह भी ज्ञात रहता है कि कलियुग के आरंभ से इष्ट समय तक कितने दिन बीते हैं। इसलिए सरल अंकगणित से ज्ञात किया जा सकता है कि इष्ट समय पर उस पिंड की स्थिति क्या है, अर्थात चलते-चलते अपने आकाशीय मार्ग में वह पिंड कहाँ पहुँचा होगा।

लंबी गणनाएँ

थोड़ा विचार करने से पाठक सुगमता से देख सकता है कि ऊपर की रीति में बहुत-सा परिश्रम बेकार करना पड़ता है। पिंड ने जितने समूचे चक्कर लगा लिये हैं उनसे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं रहता। इसलिए कलियुग के आरंभ से गणना करने के बदले क्यों न किसी निकटतर क्षण से गणना आरंभ की जाय? उदाहरणतः, यह भी तो संभव है कि हम किसी सुविधाजनक दिनांक को चुन लें, उस दिन किसी सुविधाजनक क्षण को चुन लें और सब आवश्यक आकाशीय पिंडों की स्थितियों की गणना उस क्षण के लिए कर लें। यह काम बस एक बार करना पड़ेगा। फिर यह देखें कि चुने क्षण से इष्ट क्षण तक (आज स्थिति जाननी हो तो आज तक) कितने दिन बीते हैं। फिर, पिंडों का कोणीय वेग ज्ञात है ही, अर्थात यह ज्ञात है कि एक दिन में वह कितना अंश (कितना डिगरी) चलता है। इस प्रकार हम गणना कर सकते हैं कि इष्ट क्षण पर पिंड की स्थिति क्या होगी। इस गणना में विशेष सुविधा यह है कि चुने हुए प्रारंभिक क्षण से इष्ट क्षण तक थोड़े ही दिन बीते रहेंगे (कुछ सौ या

कुछ हजार दिन) और इसलिए यदि पिंडों की दैनिक गति में थोड़ी-बहुत त्रुटि भी रहेगी तो इष्ट क्षण पर गणना द्वारा प्राप्त स्थिति में उपेक्षणीय ही अंतर पड़ेगा। पाठक सुगमता से समझ सकता है कि जब कलियुग के आरंभ से गणना की जाती है तो तब से आज तक के दिनों की संख्या, जिसे ज्योतिष में अहर्गण कहते हैं, बहुत ही बड़ी हो जाती है, और पिंड में तनिक-सी भी त्रुटि रहने से पिंड की इष्टकालिक स्थिति में अनुपेक्षणीय अशुद्धि आ जाती है।

करणग्रंथों में ठीक वही काम किया जाता है जो ऊपर बताया गया है : एक क्षण चुन लिया जाता है जो इष्ट समय के पर्याप्त निकट रहता है और तभी से गणना की जाती है। वस्तुतः, कुछ लोग इसी बात को करणग्रंथ का मुख्य लक्षण समझते हैं। उनके विचार में वह ग्रंथ सिद्धांत है जिसमें कलियुग के आरंभ से गणना हो और वह करणग्रंथ है जिसमें किसी निकटस्थ विशिष्ट काल से गणना हो[1]। यह विशिष्ट काल (जिसे हम आदिकाल कहेंगे) ग्रंथकार की रुचि के अनुसार ग्रंथ आरंभ करने का दिन होता है, या ग्रंथकार का जन्म दिन होता है, या उस समय के राजा के राजगद्दी पाने का दिन होता है, या इसी प्रकार का कोई महत्त्वपूर्ण अवसर चुना जाता है। इसलिए आदिकाल ज्ञात होने से ग्रंथ के रचनाकाल का भी अनुमान लग जाता है। पंचसिद्धांतिका के आदिकाल पर विचार नीचे किया जायगा।

पितामह-सिद्धांत

पंचसिद्धांतिका का बारहवाँ अध्याय पितामह-सिद्धांत का सारांश देता है। इस अध्याय में कुल पाँच श्लोक हैं। प्रथम तीन का अर्थ नीचे दिया जाता है, जिसमे पंचसिद्धांतिका की शैली का नमूना मिल जायगा :—

१. पितामह के अनुसार रवि और शशि का युग पाँच वर्ष का होता है। तीस महीने में एक अधिमास होता है और बासठ दिनों में एक तिथि का क्षय होता है।

२. शकेंद्र काल (शकों के राजा के अनुसार चलने वाले वर्ष) से २ घटा दो और उसे पाँच से भाग दो। जो शेष बचे उससे अहर्गण बनाओ, और वह (अहर्गण) माघ शुक्ल पक्ष से आरंभ होगा।

[1] कुछ लोग कलियुग से गणना करने वाले ग्रंथों को तंत्र कहते हैं, और केवल उन ग्रंथों को सिद्धांत कहते हैं जिनमें कल्प के आदि से गणना की जाती है, परंतु अधिकांश लोग सिद्धांत और तंत्र को पर्यायवाची समझते हैं।



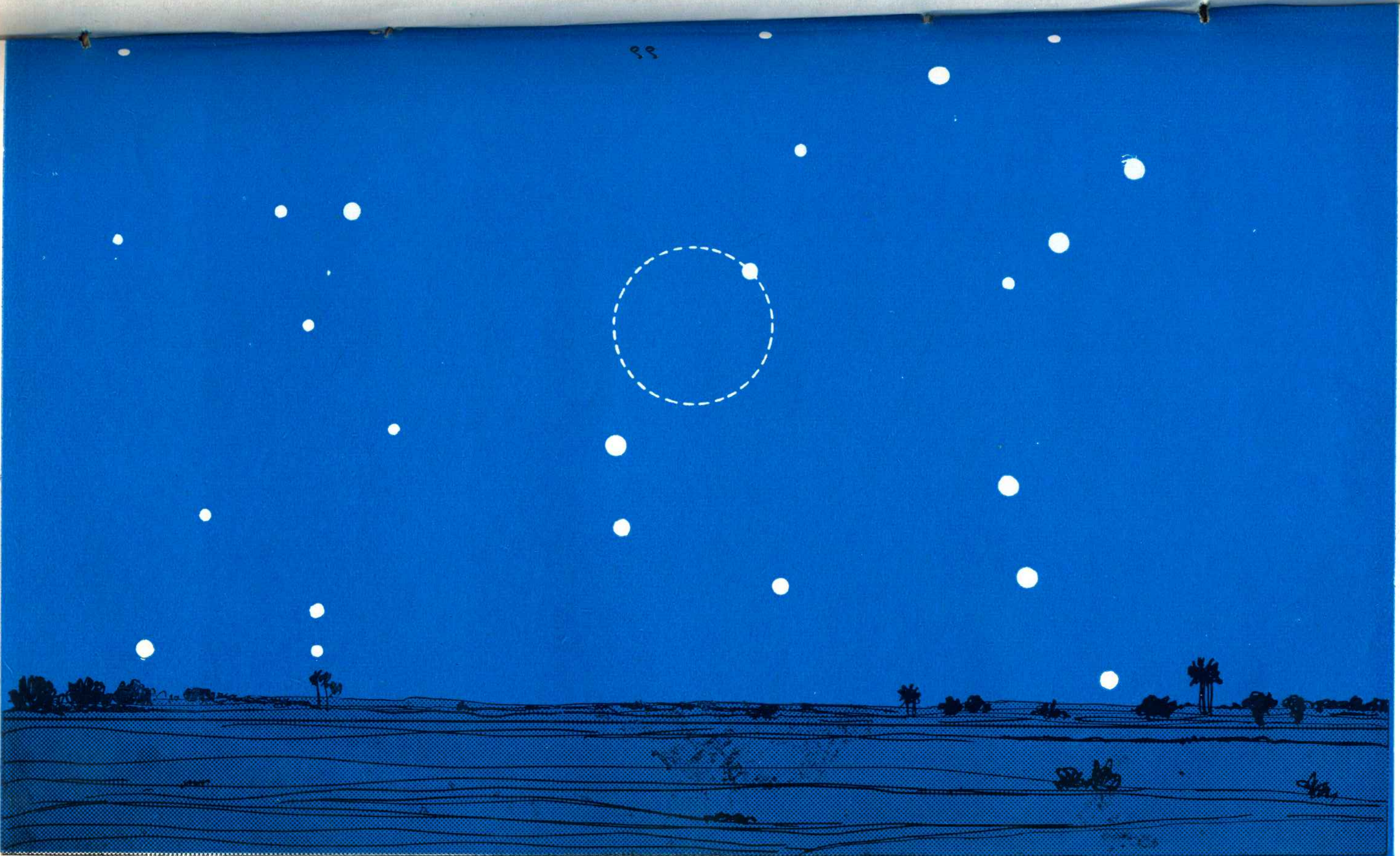
ध्रुव का मार्ग

तारों के सापेक्ष ध्रुव धीरे-धीरे वृत्ताकार मार्ग में चलता है और एक चक्कर लगभग २६००० वर्षों में लगाता है। जब ध्रुव किसी तारे के पास पहुँच जाता है तो वह तारा ध्रुव-तारा कहलाता है। वर्तमान और सन २७८० ई० पू० के ध्रुव-तारों की स्थितियों पर ध्यान दें।



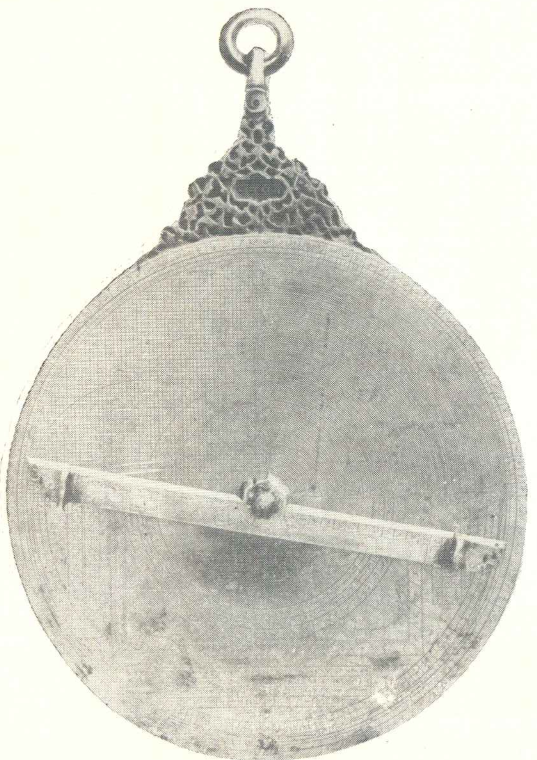
वर्तमान ध्रुव-तारा।

वर्तमान ध्रुव-तारा पूर्णतया अचर नहीं है। यह बहुत छोटे वृत्त में प्रति दिन एक चक्कर लगाता है।



सन १३०० ई० पू० में

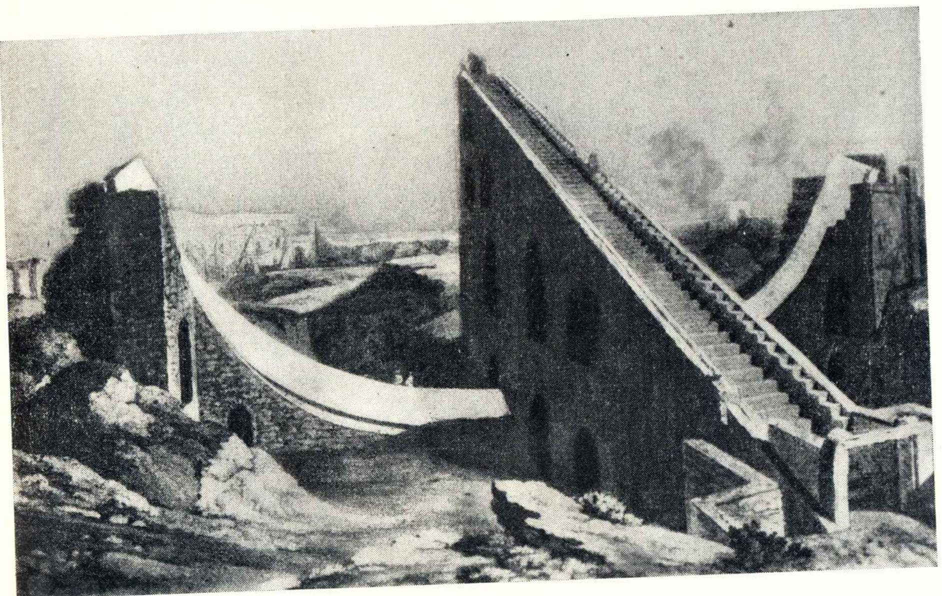
गणितीय ध्रुव से समीपतम तारा बहुत फीका था और प्रति दिन इतने बड़े वत्त में चलता था कि कोई उसे ध्रुव नहीं मान सकता था ।





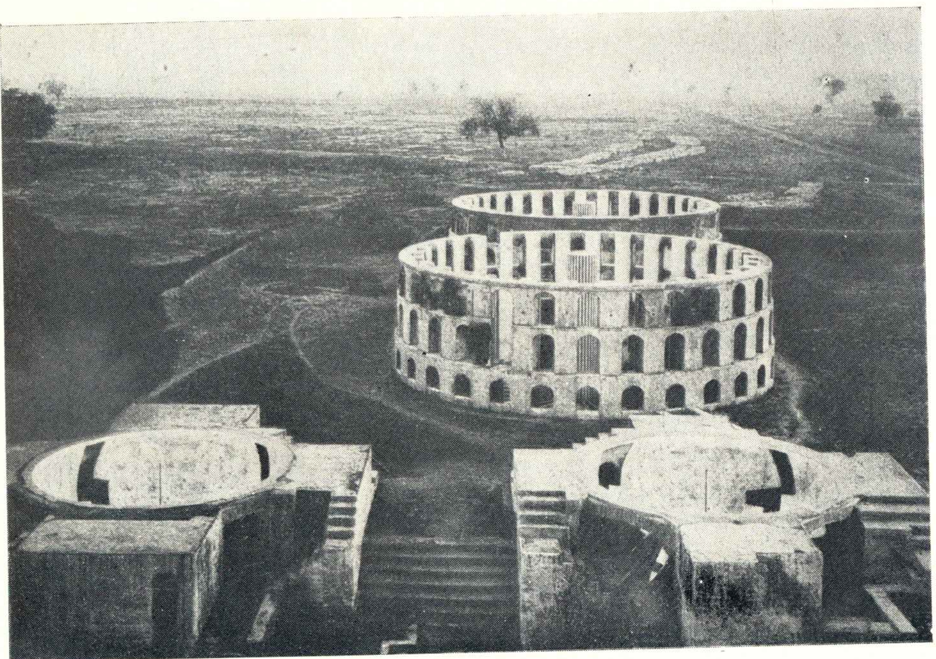
यंत्रराज।

जयसिंह के बनवाये पीतल के ये यंत्र जयपुर में सुरक्षित हैं।



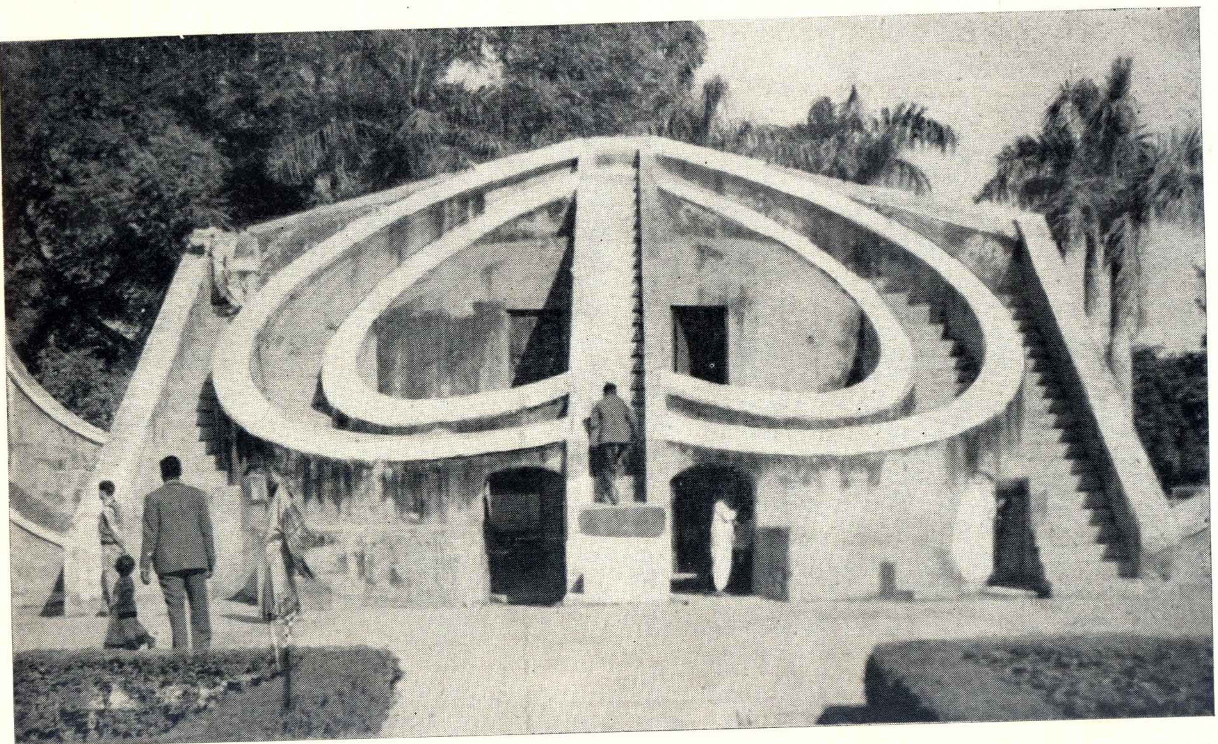
सम्राट-यंत्र, दिल्ली।

सन १८१५ में प्रकाशित एक चित्र से। अब इस यंत्र का पुनरुद्धार कर दिया गया है। दिल्ली के प्रसिद्ध 'जंतर-मंतर' नामक उद्यान में यह सबसे बड़ा यंत्र है। इससे तारों की स्थिति बताने वाले निर्देशांक (विषुवांश और क्रांति) नापे जाते हैं।



रामयंत्र, दिल्ली।

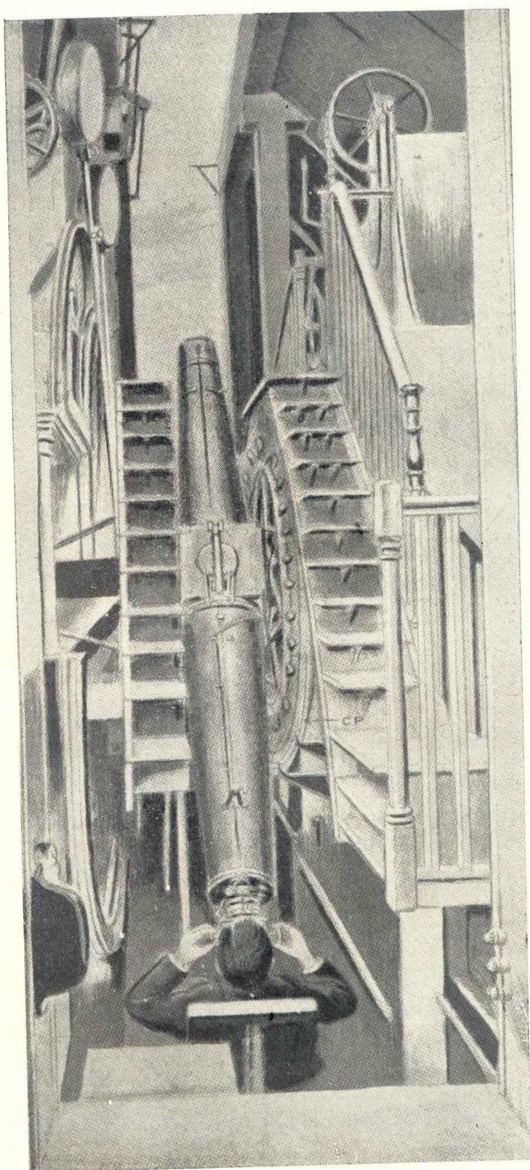
रामयंत्र में वस्तुतः एक जोड़ी यंत्र रहते हैं और इनसे उन्नतांश और दिगंश नापे जाते हैं। अग्रभूमि में एक जोड़ी जयप्रकाश यंत्र है। [के महोदय की पुस्तक "ऐस्ट्रोनॉमिकल ऑबज़रवेटरीज़ ऑव जयसिंह" से]



[छायाकार : अरुण कुमार राय

मिश्र-यंत्र, दिल्ली ।

दिल्ली के जंतर-मंतर में एक यंत्र यह भी है । इस अकेले यंत्र से कई यंत्रों का काम चल सकता है । इसी से इसे मिश्रयंत्र कहते हैं ।



आधुनिक याम्योत्तर यंत्र ।
इस यंत्र से तारों की स्थिति बताने वाले निर्देशांक (विषुवांश और क्रांति) नापे जाते हैं। [स्प्लेंडर ऑव दि हेवेन्स से]

३. यदि अहर्गण में उसी का एकसठवाँ भाग जोड़ दिया जाय तो योगफल तिथियाँ बतायेगा। यदि अहर्गण को ९ से गुणा किया जाय और गुणनफल को १२२ से भाग दिया जाय तो फल सूर्य का नक्षत्र बतायेगा। अहर्गण को ७ से गुणा करो, फिर ६१० से भाग दो और फल को (अहर्गण से) घटाओ। फल चंद्रमा का नक्षत्र होगा, जो धनिष्ठा के आरम्भ से गिना जायगा।

ऊपर के अनुवाद में बहुत से शब्द आ गये हैं जो मूल संस्कृत में नहीं हैं। मूल पाठ तो बहुत ही संक्षिप्त है। उदाहरणतः तीसरा श्लोक इस प्रकार है[1]:—

सैकषष्टयंशे गणे तिथिर्भमार्कं नवाहतेऽक्ष्यर्कैः।
दिग्रसभागैः सप्तभिरूनं शशिभं धनिष्ठाद्यम् ॥३॥

पंचसिद्धांतिका में १८ अध्याय हैं और कुल ४४२ श्लोक हैं।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि पैतामह-सिद्धांत में वेदांग-ज्योतिष की तरह पाँच वर्ष का युग था। अन्य बातों में भी यह वेदांग-ज्योतिष से मिलता-जुलता है। वर्ष में महत्तम दिनमान १८ मुहूर्त माना गया है और लघुतम दिनमान १२ मुहूर्त।

रोमक-सिद्धांत

पंचसिद्धांतिका के प्रथम अध्याय के पंद्रहवें श्लोक में रोमक-सिद्धांत के युग का संक्षिप्त वर्णन है। यह युग भी सूर्य और चंद्रमा का युग कहा गया है, परंतु इसमें २८५० वर्ष हैं। कहा गया है कि एक युग में १०५० अधिमास होते हैं और १६५४७ क्षय तिथियाँ। यदि हम इन संख्याओं को १५० से भाग दे दें तो रोमक-सिद्धांत के अनुसार १९ वर्ष में ठीक-ठीक ७ अधिमास होते हैं। ये संख्याएँ ठीक वे ही हैं जिनका प्रचार प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी मेटन ने लगभग ४३० ई० पू० में—वराहमिहिर के समय से लगभग एक हजार वर्ष पहले—किया था। रोमक-सिद्धांत के कर्त्ता ने १९ वर्ष का युग न मानकर २८५० वर्षों का युग इसलिए लिया कि युग में केवल वर्षों और मासों की ही संख्याएँ पूर्ण संख्याएँ न हों, दिनों की संख्या भी पूर्ण संख्या हो। रोमक-सिद्धांत में दी हुई बातों के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि उसके कर्त्ता के अनुसार वर्ष का मान

३६५ दिन ५ घंटा ५५ मिनट १२ सेकंड

[1] यह संशोधित पाठ है।

था। आधुनिक ज्योतिष के अनुसार वर्ष[1] में लगभग ३६५ दिन ५ घंटा ४८ मिनट ४६ सेकंड होता है। रोमक का वर्षमान ठीक वही है जो यवन ज्योतिषी हिपार्कस का था[2]।

कुछ अन्य बातों में भी रोमक-सिद्धांत और यवन (अर्थात ग्रीस देश के) ज्योतिष में समानता है, परंतु कई बातों में विभिन्नता भी है।

रोमक-सिद्धांत का लेखक

रोमक-सिद्धांत को श्रीषेण ने लिखा था। परंतु थीबो का मत है कि श्रीषेण ने कोई मौलिक पुस्तक नहीं लिखी थी। उसने किसी पुराने रोमक-सिद्धांत को केवल नवीन रूप दिया था। ब्रह्मगुप्त ने अपने स्फुट-सिद्धांत में श्रीषेण के नाम का कई बार उल्लेख किया है और इन स्थानों पर टीका करते समय ब्रह्मगुप्त के टीकाकार ने स्पष्ट रूप से और कई बार लिखा है कि रोमक-सिद्धांत का लेखक श्रीषेण था। परंतु थीबो ने स्फुट-सिद्धांत के पाठ का कुछ संशोधन करके निम्न अर्थ लगाया है :

"श्रीषेण, विष्णुचंद्र, प्रद्युम्न, आर्यभट, लाट और सिंह की ग्रहणादि विषयों पर बातें एक दूसरे के विपरीत होने से यह प्रति दिवस सिद्ध है कि वे अज्ञानी हैं। (इस अध्याय के पूर्वगामी खंड में) मैंने जो दूषण आर्यभट के संबंध में बताये हैं वे थोड़े हेर-फेर से पूर्वोक्त सभी आचार्यों पर लागू हैं। परंतु मैं श्रीषेण आदि पर कुछ और आलोचना करता हूँ।" "लाट से श्रीषेण ने सूर्य और चंद्रमा की मध्य गतियाँ लीं, चंद्रोच्च और पात भी लिया, फिर मंगल, बुध-शीघ्र, बृहस्पति, शुक्र-शीघ्र और शनि की गतियाँ भी लीं, वसिष्ठ से व्यतीत वर्षों की संख्या और युगों का भगण लिया; आर्यभट से मंदोच्च, परिधि और पात संबंधी नियम लिये और ग्रहों की स्पष्ट गतियाँ भी; और इस प्रकार रत्नों की ढेर रोमक को श्रीषेण ने गूदड़ बना डाला।"

रोमक-सिद्धांत का काल

पंचसिद्धांतिका में दिये हुए रोमक-सिद्धांत के अनुसार अहर्गण बनाने के लिए यह आदेश है कि शक वर्ष से ४२७ घटाया जाय। इसका अर्थ यह है कि शक ४२७ आदिकाल माना गया है जहाँ से अहर्गण आदि की गणना आरंभ की गयी है। इसलिए शक ४२७ को ही लोग वराहमिहिर का समय मानते हैं। अलबीरूनी ने भी इसी को पंचसिद्धांतिका का समय माना है। डाक्टर कर्न का मत है

[1] यह सायन वर्ष का मान है; सायन वर्ष वह वर्ष है जो ऋतुओं के अनुसार चलता है।

[2] हिपार्कस का काल सन १४६-१२७ ई० पू० के लगभग था।

कि शक ४२७ (=सन् ५०५ ईसवी) वराहमिहिर के जन्म का वर्ष है। उसका देहांत शक ५०९ में हुआ, ऐसा आमराज ने लिखा है, और दोनों में सामंजस्य है। यह भी विचार योग्य है कि आर्यभट का जन्म शक ३९८ में हुआ था और उसने अपनी पुस्तक आर्यभटीय की रचना शक ४२१ में की थी। आर्यभट का उल्लेख पंचसिद्धांतिका में है। इसलिए इतना तो प्रत्यक्ष है कि पंचसिद्धांतिका शक ४२१ के वर्षों बाद लिखी गयी होगी।

प्रश्न यह उठता है कि शक ४२७ स्वयं रोमक-सिद्धांत का ही आदिकाल तो नहीं था। परंतु बात ऐसी नहीं जान पड़ती। एक तो वराहमिहिर ने बहुत अर्वाचीन सिद्धांत को पर्याप्त प्रामाणिक नहीं माना होगा; दूसरे, ब्रह्मगुप्त के स्फुट-सिद्धांत में लाटदेव का नाम आया है, जिससे श्रीषेण ने सूर्य, चंद्रमा आदि की गतियाँ लीं। वराहमिहिर ने स्वयं अध्याय १५, श्लोक १८ में लिखा है: "लाटाचार्य ने कहा है कि यवनपुर के सूर्यास्त से अहर्गण की गणना की जाती है"। इससे स्पष्ट है कि लाटाचार्य अवश्य थे और वे श्रीषेण से पर्याप्त पहले रहे होंगे, अन्यथा श्रीषेण को नवीन सिद्धांत लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इन सब बातों से यही अनुमान किया जाता है कि रोमक-सिद्धांत और भी पुराना रहा होगा, और शक ४२७ रोमक-सिद्धांत का निजी आदिकाल नहीं है, इसे वराहमिहिर ने चुना होगा।

पंचसिद्धांतिका में रोमक-सिद्धांत के अतिरिक्त रोमक देश का भी नाम आया है; यवनपुर, यवनाचार्य आदि शब्द भी आये हैं। यवनपुर का देशांतर भी दिया है, जिससे पता चलता है कि यवनपुर अलेक्ज़ेंड्रिया[1] नामक नगर रहा होगा। फिर, जैसा ऊपर बताया गया है, रोमक-सिद्धांत के मुख्य स्थिरांक वे ही थे जो यवन ज्योतिष

[1] सन ३३२ ई० पू० में इस नगर की नींव अलेक्ज़ेंडर महान (सिकंदर) ने डाली थी और अब यह मिस्र देश (ईजिप्ट) का प्रमुख नौकाशय (बंदरगाह) है। नींव पड़ने के सौ वर्ष के भीतर ही यह बहुत बड़ा शहर हो गया था। यह यूरोप, तथा अरब और भारतवर्ष के बीच वाणिज्य का केंद्र था। यहाँ पर यवनों का सब से बड़ा विश्वविद्यालय था। परंतु सन ८० ई० पू० में यह रोमन लोगों के हाथ में चला गया। ऑगस्टस सीज़र के काल में इसकी जनसंख्या ३ लाख थी। सन ६१६ में इस पर अरब वालों का अधिकार हो गया। अरब सेनापति 'अम्र ने अपने नरेश को अलेक्ज़ेंड्रिया जीतने पर लिखा था कि यहाँ "४,००० महल, ४,००० स्नानागार, १२,००० तेल बेचने वाले, १२,००० माली, ४०,००० यहूदी जो कर देते ह और ४०० नाट्यशालाएँ हैं"। पृष्ठ ११८ पर इस नगर की स्थिति दिखायी गयी है।

में प्रचलित थे। इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि रोमक-सिद्धांत यवन ज्योतिष पर आश्रित था।

पुलिश-सिद्धांत

पंचसिद्धांतिका की प्राप्य प्रतियों में उस श्लोक का पाठ जिसमें पुलिश-सिद्धांत के अनुसार अहर्गण बनाने का नियम है इतना अशुद्ध था कि थीबो और सुधाकर ठीक से उसका अर्थ न लगा सके। परंतु इसमें एक स्थान पर ९७६ की संख्या है (**ऋतु सप्त नव भक्तः**); अवश्य ही यह उन दिनों की संख्या होगी जिसके पश्चात एक अधिमास पड़ता है। इसी प्रकार ६३ (**त्रिऋतु**) संभवतः उन दिनों की संख्या है जिसके पश्चात एक तिथि का क्षय होता है। जान पड़ता है कि पुलिश-सिद्धांत ने किसी बड़े युग को लेकर उसमें कुल अधिमासों और क्षय तिथियों को बताने की रीति को नहीं अपनाया। उसने यही बताकर काम चला लिया कि कितने-कितने दिनों पर अधिमास पड़ता है या क्षय तिथि पड़ती है। पुलिश-सिद्धांत में वर्ष ३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट का माना गया था।

पुलिश-सिद्धांत में ग्रहणों की गणना के लिए भी नियम दिये गये हैं, परंतु वे सूर्य-सिद्धांत और रोमक-सिद्धांत के नियमों की अपेक्षा बहुत स्थूल हैं। गणना की सुविधा के लिए सन्निकट मानों और सन्निकट नियमों से काम चलाया गया है। पुलिश-सिद्धांत में उज्जयिनी (उज्जैन) और काशी (बनारस) से यवनपुर का देशान्तर दिया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यवनपुर अलेक्जैंड्रिया ही रहा होगा।

पुलिश-सिद्धांत नामक ग्रंथ का उल्लेख भट्टोत्पल ने वराहमिहिर के बृहत्संहिता की टीका में और पृथूदक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के स्फुट-सिद्धांत की टीका में किया है। परंतु इन दोनों टीकाकारों ने जिस पुलिश-सिद्धांत का उल्लेख किया है वह कोई और ही ग्रंथ रहा होगा, क्योंकि उसमें एक महायुग था जिसमें वर्षों, मासों, दिनों, और ग्रहों के भगणों की संख्याएँ पूर्ण संख्याएँ थीं। उसमें वर्षमान ३६५ दिन ६ घंटे १२ मिनट ३६ सेकंड था, जो वराहमिहिर में उल्लिखित पुलिश-सिद्धांत से भिन्न है।

वसिष्ठ-सिद्धांत

वसिष्ठ-सिद्धांत (या वासिष्ठ सिद्धांत) बहुत संक्षेप में ही पंचसिद्धांतिका में दिया गया है। यह बहुत-कुछ पितामह-सिद्धांत की तरह है, परंतु उससे कई बातों में अधिक शुद्ध है। वराहमिहिर ने स्वयं इस सिद्धांत और पितामह-सिद्धांत को निम्नतम श्रेणी का माना है। पितामह-सिद्धांत की तरह वसिष्ठ-सिद्धांत में भी माना

गया है कि जब दिन बढ़ने लगता है तो प्रति दिन बराबर वृद्धि होती है (जो अशुद्ध है, या बहुत स्थूल है), परंतु लघुतम और महत्तम दिनों के मान पितामह-सिद्धांत के मानों से भिन्न हैं।

वसिष्ठ-सिद्धांत में राशियों की चर्चा है। लग्न भी है, जो बताता है कि रविमार्ग का कौन-सा भाग पूर्वीय क्षितिज से लगा हुआ है। परंतु सूर्य, चंद्रमा, आदि, की मध्यक और स्पष्ट गतियों में भेद का ज्ञान इस सिद्धांत के कर्त्ता को न था। इसलिए वसिष्ठ-सिद्धांत की गिनती उस श्रेणी में नहीं की जा सकती जिसमें सूर्य-सिद्धांत आदि हैं।

ब्रह्मगुप्त के स्फुट-सिद्धांत में विष्णुचंद्र के लिखे वसिष्ठ-सिद्धांत का उल्लेख है, परंतु वहाँ अर्थ यह जान पड़ता है कि जैसे श्रीषेण ने रोमक-सिद्धांत को गूदड़ बना दिया वैसे ही विष्णुचंद्र ने वसिष्ठ-सिद्धांत को। ब्रह्मपुत्र तथा वराहमिहिर के एक-दो संकेतों से ऐसा जान पड़ता है कि वसिष्ठ-सिद्धांत की रचना विजयानंदिन ने की थी, यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी है।

वर्तमान समय में जो ग्रंथ लघु वसिष्ठ-सिद्धांत के नाम से छपता है उसका कोई संबंध पंचसिद्धांतिका के वसिष्ठ-सिद्धांत से नहीं दिखायी पड़ता।

सूर्य-सिद्धांत

पंचसिद्धांतिका के सूर्य-सिद्धांत की चर्चा आधुनिक सूर्य-सिद्धांत के संबंध में की जायगी।

तुलना

पंचसिद्धांतिका के पाँच सिद्धांतों की तुलना से स्पष्ट पता चलता है कि किस प्रकार भारतीय-ज्योतिष धीरे-धीरे विकसित होकर सूर्य-सिद्धांत के ज्योतिष में परिवर्तित हुआ। पितामह-सिद्धांत वेदांग-ज्योतिष, गर्ग-संहिता, सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि की जाति का था। इन सब ग्रंथों में पाँच वर्ष का युग था; सूर्य, आदि आकाशीय पिंड सदा समान वेग से चलते हुए माने जाते थे और दिन समान रूप से बढ़ता हुआ माना जाता था। सूर्य और चंद्रमा की स्थिति साधारणतः नक्षत्रों से बतायी जाती थी। उत्तरायण का आरंभ तब माना जाता था जब सूर्य धनिष्ठा के आदि विंदु पर रहता था। वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका में पितामह-सिद्धांत के अनुसार पंचवर्षीय युग की गणना करने में शक २ से आरंभ करने को कहा गया है।

इन प्राचीन ज्योतिष ग्रंथों की एक-दो विशेषताएँ पीछे के सभी ग्रंथों में अपनायी गयीं। एक तो युग का महत्त्व। सभी सिद्धांत-ग्रंथों में युग का प्रयोग

किया गया। युग लंबे होते गये, परंतु उनका तिरस्कार किसी ने नहीं किया, यद्यपि ऐसा करना संभव था। करण-ग्रंथों के रचयिताओं ने अवश्य इसका तिरस्कार किया। दूसरी बात थी तिथियों का प्रयोग। यह तो आज तक चालू है। अन्य किसी देश में तिथियों का प्रयोग नहीं होता।

वसिष्ठ-सिद्धांत पितामह-सिद्धांत से अधिक विकसित था, परंतु सूर्य-सिद्धांत से बहुत निम्न कोटि का था।

शेष तीन सिद्धांत—पौलिश, रोमक और सौर—तीनों बहुत कुछ एक तरह के थे। इन तीनों में उन विषयों का समावेश था जो नवीन भारतीय ज्योतिष के द्योतक थे। इन सब में सूर्य और चंद्रमा की स्पष्ट गतियों की भी चर्चा है, अर्थात उनकी स्थिति केवल यह मान कर नहीं निकाली गयी है कि वे सदा समान कोणीय वेग से चलते हैं; यह भी बताया गया है कि उनका कोणीय वेग समान वेग से कितना अधिक या न्यून कब रहता है। पौलिश और रोमक सिद्धांतों में अधिक सादृश्य है। सूर्य-सिद्धांत इन दोनों से अधिक विकसित है, अधिक शुद्ध और अधिक परिपूर्ण है। सूर्य-सिद्धांत में ग्रहण-गणना के नियम पूर्ण और पर्याप्त हैं; उनकी तुलना में रोमक-सिद्धांत के नियम बहुत कम और स्थूल हैं, और पौलिश सिद्धांत के नियम तो और भी स्थूल हैं।

ग्रीष्म अयनांत पहले आश्लेषा के मध्यमें होता था और वराहमिहिर के समय में पुनर्वसु के आरंभ में। ये बातें वराहमिहिर को ज्ञात थीं, क्योंकि पंचसिद्धांतिका में दोनों की चर्चा है, परंतु उसने कोई बात ऐसी नहीं लिखी है जिससे पता चले कि उसने इसका कारण समझ लिया था कि वसंत विषुव तारों के सापेक्ष पीछे-मुँह क्यों खिसकता रहता है।

यवन ज्योतिष से संबंध

पौलिश और रोमक सिद्धांतों के नामों से ही संदेह होता है कि इनका संबंध यवन ज्योतिष से था। इन दोनों में वर्ष का मान वह है जो सायन वर्ष का है (नाक्षत्र वर्ष का नहीं, जो सूर्य-सिद्धांत में है)[1]। एक में अहर्गण की गणना यवनपुर के याम्यो-

[1] सायन वर्ष वह है जिसका आरंभ सदा एक ही ऋतु में पड़ता है, चाहे हजारों वर्ष क्यों न बीत जायँ। नाक्षत्र वर्ष वह है जिसका आरंभ सूर्य के सदा किसी विशेष तारे के पास पहुँचने पर होता है। अयन के कारण दोनों में लगभग २० मिनट का अन्तर है।

त्तर से की गयी है और दूसरे में यवनपुर से उज्जयनी का देशांतर दिया गया है। दोनों में वे नवीन बातें हैं जो यवन ज्योतिष में थीं, परंतु वेदांग-ज्योतिष, पितामह-सिद्धांत और वसिष्ठ-सिद्धांत में नहीं थीं। इससे धारणा होती है कि नवीन भारतीय ज्योतिष यवन ज्योतिष पर आधारित था। परंतु जब इसकी खोज की जाती है कि किस विशेष यवन पुस्तक या यवन आचार्य से भारतीयों ने अपना ज्ञान प्राप्त किया तो बड़ी कठिनाई पड़ती है। यवन और नवीन भारतीय ज्योतिष में सादृश्य होते हुए भी पर्याप्त विभिन्नता है। ऐसा जान पड़ता है कि भारत में यवन ज्योतिषियों का ज्ञान हिपार्कस के बाद और टॉलमी[1] के पहले आया, संभवतः थोड़ी-थोड़ी मात्रा में और कई बार, और भारतीय ज्योतिषियों ने इस ज्ञान को अपने निजी विवेचन और खोज से अपने विशेष साँचे में ढाल लिया और फिर वे उसकी उन्नति करते रहे। सूर्य-सिद्धांत में कई बातें ऐसी हैं जो विशेष महत्त्व की हैं और यवन ज्योतिष में नहीं मिलतीं।

वराहमिहिर ने आर्यभट के सिद्धांत का सारांश अपनी पंचसिद्धांतिका में नहीं दिया। इससे समझा जा सकता है कि उसके समय में आर्यभट का ग्रंथ इतना प्राचीन नहीं समझा जाता था जितना रोमक-सिद्धांत या सूर्य-सिद्धांत। आर्यभटीय के नियम सूर्य-सिद्धांत के नियमों से मिलते-जुलते हैं। वस्तुतः सूर्य-सिद्धांत के नियमों को अधिक शुद्ध करने की चेष्टा भी आर्यभट ने की थी, परंतु वर्तमान सूर्य-सिद्धांत आर्यभटीय से अधिक शुद्ध है, जैसा एक अन्य अध्याय में विस्तार से दिखाया गया है।

त्रैलोक्य-संस्थान

पंचसिद्धांतिका में त्रैलोक्य-संस्थान नाम का तेरहवाँ अध्याय है जो पूर्वोक्त सिद्धांतों में से किसी का नहीं जान पड़ता। संभवतः यह अध्याय वराहमिहिर की स्वतंत्र रचना है। इसमें विश्व की रचना तथा कुछ फुटकर बातें बतायी गयी हैं। वराहमिहिर ने इस अध्याय के पहले श्लोक में बताया है कि

पंचमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः।
खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितो वृतः॥

अर्थ—पंचभूत से बनी पृथ्वी का गोल तारों के पंजर (ठठरी) में उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार चुंबकों के बीच लोहा।

[1] आगामी अध्याय देखें।

इस प्रकार वराहमिहिर जानता था कि पृथ्वी किसी अन्य वस्तु पर टिकी नहीं है। अंतरिक्ष में चारों ओर से बेलाग है। उसने यह भी लिखा है[1] कि जैसे मनुष्यों के देश में अग्निशिखा वायु में ऊपर उठती है और फेंके जाने पर भारी वस्तु पृथ्वी पर गिरती है, उसी प्रकार उलटी ओर, असुरों के देश में भी, होता है।

परंतु पृथ्वी के अक्ष-भ्रमण के संबंध में वराहमिहिर की राय आधुनिक मत के विरुद्ध थी। उसने लिखा है कि "कुछ लोग कहते हैं कि पृथ्वी भ्रमण करती है, परंतु यदि ऐसा होता तो चील तथा अन्य पक्षी आकाश से अपने घोंसले में न लौट सकते[2]। और फिर, यदि पृथ्वी वस्तुतः एक दिन में एक चक्कर लगाती तो ध्वजा आदि पृथ्वी के वेग के कारण पश्चिम की ओर फहराते रहते। और यदि कोई कहे कि पृथ्वी धीरे-धीरे घूमती है तो फिर (एक दिन में एक बार) वह कैसे घूम लेती है?"[3]

[1] पंचसि० १३।४।

[2] पंचसि० १३।६-७।

[3] कुछ पाठकों को आज भी शंका हो सकती है कि वस्तुतः क्या बात है कि चील आदि ऊपर उड़ जाने पर पीछे नहीं छूट जाते। इस शंका का समाधान इस प्रकार हो जाता है कि रेलगाड़ी के डिब्बे में बैठकर गेंद सीधा ऊपर उछालने से गेंद अंत में सीधा नीचे ही तो गिरता है; वह पीछे थोड़े ही छूट जाता है। कारण यह है कि उछालते समय गेंद में वह वेग भी था जो रेलगाड़ी में था और यह वेग बराबर बना रहता है, इसलिए गेंद पीछे नहीं छूटता। रेलगाड़ी में बैठे व्यक्ति को जान पड़ता है कि गेंद सीधे ऊपर गया और सीधे नीचे गिरा; परंतु भूमि पर स्थित व्यक्ति को वही गेंद वक्र में चलता दिखायी पड़ेगा। वह देखगा कि यात्री के हाथ से फेंके जाने पर गेंद वक्र में चल कर फिर यात्री के नवीन स्थिति में जा पहुँचता है। वराहमिहिर और साधारण पाठक के हृदय का भ्रम इस बात पर आश्रित है कि वे समझते हैं कि वेग को बनाये रखने के लिए बल लगाने की आवश्यकता है, परंतु आधुनिक गति-विज्ञान कहता है कि "प्रत्येक पिंड अपनी विश्रामावस्था में पड़ा रहता है, या सरल रेखा में समवेग से चलता रहता है; और केवल तभी वह अपनी विश्रामावस्था या समवेग से सरल रेखा में चलने की अवस्था को छोड़ता है जब वह बाहर से लगे बल द्वारा प्रेरित होता है।" (देखें गोरखप्रसाद और हरिश्चन्द्र गुप्त : गतिविज्ञान, अध्याय ४)।

जैनियों का मत था कि आकाश में दो सूर्य होते हैं, दो चन्द्रमा होते हैं। इस पर वराहमिहिर का कहना है कि यदि, जैसा अर्हत ने कहा है, दो सूर्य और दो चंद्रमा होते जो पारी-पारी से उदित होते हैं, तो यह कैसे होता है कि सूर्य से ध्रुव तक जाने वाली रेखा (जो उस पर स्थित तारों के कारण सूर्य के अस्त होने पर भी दिखायी देती है) एक दिन में चक्कर लगा लेती है ?

चंद्रमा में कलाएँ क्यों दिखायी पड़ती हैं इसका सच्चा कारण वराहमिहिर को ज्ञात था। लिखा[1] है : जैसे-जैसे प्रति दिन चंद्रमा का स्थान सूर्य के सापेक्ष बदलता है तैसे-तैसे उसका प्रकाशमय भाग बढ़ता जाता है, ठीक उसी तरह जैसे अपराह्न में घड़े का पश्चिम भाग अधिकाधिक प्रकाशित होता जाता है।

ज्यौतिष यंत्र

वराहमिहिर के समय में अच्छे ज्यौतिष यंत्रों का अभाव था। शंकु (अर्थात खड़ा या तिरछा डंडा) बहुत काम में आता था। लिखा है कि ऋजु (सीधे) शंकु की जड़ पर आँख लगा कर शंकु को इस प्रकार तिरछा करो कि शंकु का अग्र, आँख, और ध्रुव-तारा, तीनों एक रेखा में आ जायँ। ··· तब (शंकु के अग्र से आँख द्वारा खींचे गये समतल पर डाला गया) लंब अक्षांश की ज्या है। ··· ऐसे प्रयोगों से संत विश्वसनीय रीति से भूकेंद्र या समस्त पृथ्वी को नापते हैं, जैसे लवण मिले थोड़े-से जल से लवण का स्वाद जाना जा सकता है[2]। ऐसे शंकु को भास्कराचार्य ने पीछे यष्टियंत्र का नाम दिया (अध्याय १४ देखें)।

परंतु वराहमिहिर ने सब यंत्रों का भेद खोल कर रख देना उचित न समझा। छेदक यंत्राणि नामक चौदहवें अध्याय में साधारण यंत्रों और रीतियों का वर्णन देकर यह लिखा है[3] : गुरु को चाहिए कि केवल स्थिर-बुद्धि शिष्यों को ये बातें बताये और शिष्य को चाहिए कि इन बातों को सीखकर अपने यंत्रों को इस प्रकार बनाये कि पुत्र को भी उसका भेद ज्ञात न हो।

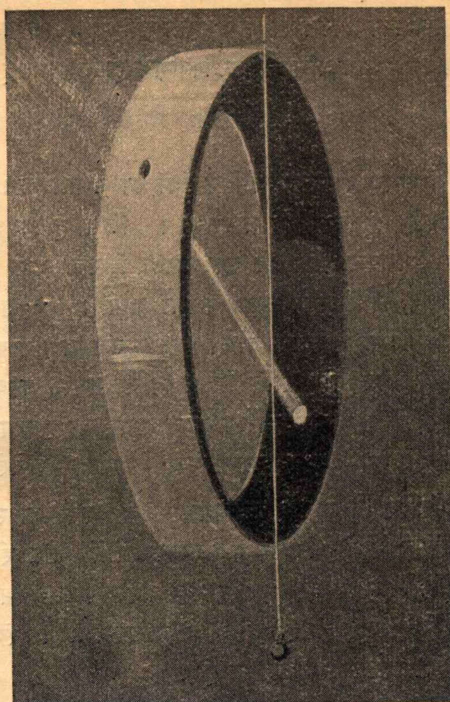
[1] पंचसि० १३।३७।

[2] पंचसि० १३।३१-३४। वराहमिहिर का कहना ठीक है। दो स्थानों पर पूर्वोक्त रीति से शंकु द्वारा अक्षांश नाप कर सारी पृथ्वी की नाप जानी जा सकती है। (देखें लेखक-रचित सरल गणित-ज्योतिष, पृष्ठ १५७।)

[3] पंचसि० १४।२८।

इस अध्याय में ज्यामितीय रचनाओं और शंकुओ के अतिरिक्त एक उन्नतांश-मापक का भी वर्णन है जो इस प्रकार है :

ऐसा चक्र लो जिसकी परिधि ३६० बराबर अंशों में बँटी हो, जिसका व्यास एक हस्त हो और जो मोटाई में आधी अँगुली हो। उसकी मोटाई के बीच में एक स्थान पर छेद कर दो। इस छोटे-से छेद द्वारा मध्याह्न पर सूर्य की रश्मियों

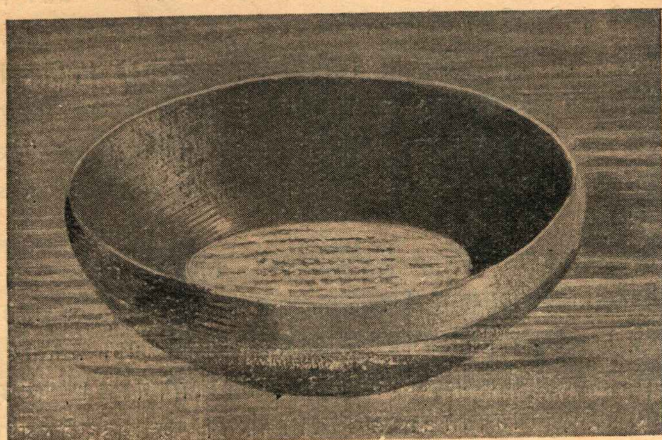


उन्नतांशमापक।

वराहमिहिर के वर्णन के अनुसार खींचा गया चित्र।

को तिरछी दिशा में घुसने दो [और ऐसा प्रबंध करो कि वह रश्मि पूर्वोक्त चक्र के केंद्र से होकर जाय]। तो चक्र के निचले भाग में जितने अंश [सूर्यरश्मियों से प्रका-

शित विंदु और] चक्र-केंद्र से लटकाये गये साहुल-सूत्र के बीच पड़ते हैं वे मध्याह्न-सूर्य की शिरोविंदु-दूरी के अंश हैं[1]।



नाडिका-यंत्र ।

वराहमिहिर के वर्णन के अनुसार खींचा गया चित्र ।

समय नापने के लिए जल-घटी का उपयोग बताया गया है :—

ताँबे का बरतन आधे घड़े के रूप में बनाओ और पेंदे में छेद करो। शुद्ध जल से भरे बड़े बरतन में इसे रक्खो। जब यह पानी से भर उठे तो एक नाडिका बीती रहेगी। पेंदे का छिद्र इतना छोटा होना चाहिए कि एक अहोरात्र (रात-दिन) में यह ६० बार डूबे[2]।

वराहमिहिर की जीवनी

वराहमिहिर ने अपने को अवंती का बताया है[3]। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं उसका देहान्त सन ५८७ ईसवी में हुआ।

[1] पंचसि० १४।२१-२२।
[2] पंचसि० १४।३२ ।
[3] पंचसि० १८।६१ ।

वराहमिहिर को गणित-ज्योतिष की अपेक्षा फलित ज्योतिष में अधिक रुचि थी। उसकी बृहत्संहिता नामक पुस्तक वस्तुतः एक बड़ी-सी पोथी है जो फलित ज्योतिष पर है। उसके बृहज्जातक और योगयात्रा नामक ग्रंथ भी फलित ज्योतिष पर हैं। परंतु उसकी पंचसिद्धांतिका गणित-ज्योतिष पर है और वह तत्कालीन ज्योतिष के ज्ञान के लिए अपूर्व सिद्ध हुई है। पंचसिद्धांतिका न होती तो ज्योतिष-इतिहास का हमारा ज्ञान बहुत अधूरा ही रह जाता। अलबीरूनी ने अपने 'भारतवर्ष' में वराहमिहिर को बहुत आदर प्रदान किया है। लिखा है कि "वराह के कथन सत्य पर आश्रित हैं; परमेश्वर करे कि सभी बड़े लोग उसके आदर्श का पालन करें।"

हिन्दी-शब्दसागर में वराहमिहिर के सम्बन्ध में निम्न सूचना दी गयी है—

"वराहमिहिर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रवाद कुछ वचनों के आधार पर प्रचलित हैं। जैसे, ज्योतिर्विदाभरण के एक श्लोक में कालिदास, धन्वन्तरि आदि के साथ वराहमिहिर भी विक्रम की सभा के नौ रत्नों में गिनाये गये हैं। पर इन नौ नामों में से कई एक भिन्न-भिन्न काल के सिद्ध हो चुके हैं। अतः यह श्लोक प्रमाण के योग्य नहीं। अपने बृहज्जातक के उपसंहाराध्याय में वराहमिहिर ने अपना कुछ परिचय दिया है। उसके अनुसार ये अवन्ती (उज्जयिनी) के रहने वाले थे। 'कायित्थ'[1] स्थान में सूर्यदेव को प्रसन्न करके इन्होंने वर प्राप्त किया था। इनके पिता का नाम आदित्यदास था।"

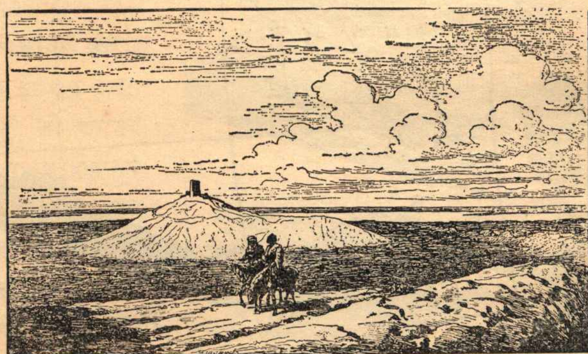
[1] संभवतः यह कपित्थ-ग्राम है जो उज्जैन के निकट (आज भी) 'कायथा' के नाम से विद्यमान है। इनके पुत्र का नाम पृथुयशस् था, और उनकी रचना षट्-पंचाशिका भी प्रसिद्ध ह।

अध्याय १०

पाश्चात्य ज्योतिष का इतिहास

यवनों ने ज्यौतिष ज्ञान कहाँ से पाया

भारत में कहाँ तक ज्योतिष का ज्ञान यवनों से आया इसे आँकने के लिए पाश्चात्य ज्योतिष के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। ज्योतिष की आवश्यकता सभी देशवासियों को पड़ती है और दीर्घकाल तक आकाशीय पिंडों के अध्ययन से ज्योतिष की अधिकांश मोटी-मोटी बातें सभी को ज्ञात हो जाती हैं। प्राचीन समय में बाबुल लोगों (बैबिलोनियनों) का ज्योतिष-ज्ञान बहुत

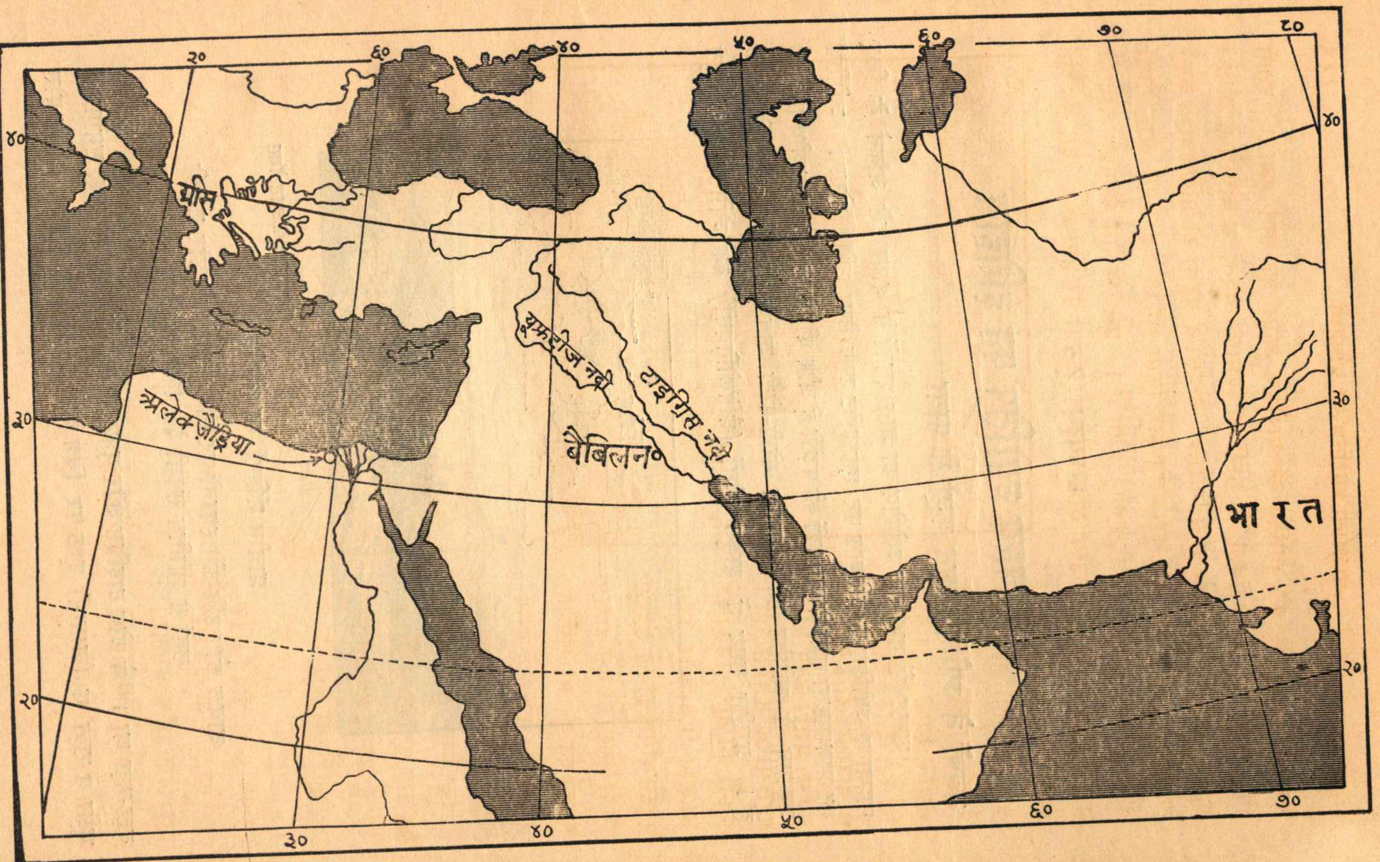


[चित्रकारः फैलिक्सटॉमस

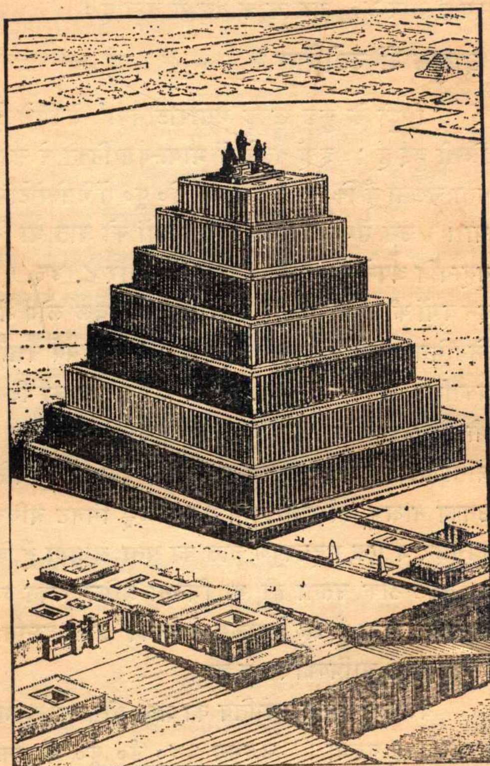
प्राचीन मंदिरों का अवशेष।

बाबुल लोग ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर मंदिर बनाते थे और उनकी छतों से ज्योतिष संबंधी वेध किया करते थे।

बढ़ा-चढ़ा था। ये लोग टाइग्रिस और यूफ्रटीज़ नदी के मध्य की तथा समीपवर्ती भूमि में रहते थे (आगामी पृष्ठ पर चित्र देखें)। उन्हीं से यवनों (अर्थात ग्रीस


ग्रीस
अलेक्जैंड्रिया
यूफ्रेटीज नदी
टाइग्रीस नदी
बैबिलन
भारत

देश के निवासियों) को ज्योतिष की प्रारंभिक बातों का ज्ञान हुआ। इतना निश्चित है कि तारा-मंडलों में तारों का विभाजन यवनों ने बाबुलों से पाया। ग्रहों का ज्ञान भी उन्हें बाबुलों से मिला। बाबुलों ने ग्रहणों की भविष्यवाणी करने के लिए सैरॉस नामक युग का आविष्कार किया था। यह २२३ चांद्र मासों का (लगभग १८ वर्ष ११ दिन का) होता है। ऐसे एक युग के ग्रहण आगामी युग में उसी क्रम में और प्रायः ठीक उतने ही समयों पर होते हैं। इस युग का आविष्कार कब हुआ यह अब कहा नहीं जा सकता, परंतु एक राजा के समय के लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि सन ३८०० ईसवी पूर्व में तारा-मंडलों के नाम पड़ गये थे, यद्यपि उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहा। यवनों को तारा-मंडलों का जो ज्ञान मिला और जिसे ऐरेटस नामक कवि ने छंदबद्ध किया अवश्य ही ऐसे तारा-मंडलों का है जो लगभग २८०० ई० पू० में देखे गये होंगे। इसका प्रमाण यह है कि जिन तारा-मंडलों का नाम पूर्वोक्त सूची में नहीं है अवश्य ही वे तारा-मंडल होंगे जो उस देश से नहीं दिखायी पड़ते थे। इस प्रकार हम जानते हैं कि तारों का कौन-सा क्षेत्र वहाँ नहीं दिखायी पड़ता था। इस क्षेत्र का केंद्र अवश्य ही दक्षिण ध्रुव रहा होगा।



[पिरॉट और चिमीज़ की पुस्तक से

मंदिर या वेधशाला ?

बाबुल लोग ऊँचे-ऊँचे मंदिर बनाया करते थे और उनकी छतों पर से आकाशीय पिंडों का वेध किया करते थे।

इसलिए हम जानते हैं कि उस समय दक्षिण-ध्रुव तारों के बीच कहाँ रहा होगा। अब देखने की बात है कि दक्षिण ध्रुव और उत्तर ध्रुव भी तारों के बीच अयन के कारण चला करते हैं और तारों के सापेक्ष उनकी स्थिति जानने से हम बता सकते हैं कि पूर्वोक्त स्थिति किस काल में रही होगी। ऐसे ही विचारों से ऐरेटस के वर्णन से तारामंडलों के बनने का काल निर्णय किया गया है। ऐरेटस ने २७० ई० पू० में अपने छंद लिखे थे, परंतु तारा-मंडलों का विभाजन निस्संदेह लगभग २८०० ई० पू० का है और ४० अक्षांश के देश में बना है।

बाबुल में ज्योतिष

मिट्टी के कुछ खपड़े मेसोपोटेमिया[1] से मिले हैं जिन पर तरह-तरह की बातें लिखी हुई हैं। इन्हें पढ़ने में भाषा-वैज्ञानिकों ने सफलता पायी है। उन खपड़ों से पता चलता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में मेसोपोटेमिया में ज्योतिष का कितना ज्ञान था। उस समय वहाँ के ज्योतिषियों को ज्ञात था कि शुक्र, बुध, शनि, मंगल और बृहस्पति अपने पुराने स्थान पर क्रमानुसार ८, ४६, ५९, ७९, ८३ वर्षों में लौटते हैं। इन युगों की लंबाई से ही स्पष्ट है कि बाबुल लोग सैकड़ों वर्ष पहले से ही ग्रहों का नियमित रूप से वेध करते रहे होंगे। प्रति वर्ष पंचांग (खपड़ों पर खुदे अक्षरों में) प्रकाशित किया जाता था, जिसमें अमावस्या का दिनांक दिया जाता था, और यह भी कि चंद्र-दर्शन कब होगा; ग्रहणों का दिनांक और ब्योरा भी पहले से बता दिया जाता था; तारों का उदय-अस्त और ग्रहों की स्थितियाँ भी प्रकाशित होती थीं। उनका नाक्षत्र वर्ष सच्चे मान से कुल ४½ मिनट अधिक था। पादरी एफ० एक्स० क्यूगलर ने एक महत्त्वपूर्ण बात का पता लगाया है कि बाबुलों के चांद्र मास आदि का काल ठीक उतना ही था जितना प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी हिपार्कस का, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि हिपार्कस ने इनका ज्ञान वस्तुतः बाबुलों से पाया था; वह इनका स्वयं आविष्कारक न था।

बैबिलोनिया से ज्योतिष का ज्ञान ग्रीस में लगभग सातवीं शताब्दी ई० पू० में अच्छी तरह पहुँचा। लगभग ६४० ई० पू० में एक बाबुल विद्वान ने कोस द्वीप में पाठशाला खोली और थेल्स नामक यवन संभवतः उसका शिष्य था। पाइथागोरस ने (लगभग ५३० ई० पू० में) बैबिलोनिया, मिस्र देश और भारतवर्ष आदि देशों में पर्यटन करके, तथा निजी खोज से ज्योतिष तथा गणित का विशेष ज्ञान प्राप्त किया।

[1] बाबुलों के देश का आधुनिक नाम।

यह वही गणितज्ञ है जिसके नाम से पाइथागोरस का प्रमेय प्रसिद्ध है—ज्यामिति का यह प्रमेय बताता है कि समकोण त्रिभुज में कर्ण पर बना वर्ग शेष भुजाओं पर बने वर्गों के योग के बराबर होता है[1]। पाइथागोरस का मत था कि पृथ्वी अंतरिक्ष में बेलाग टिकी है, अन्य किसी पिंड या पदार्थ या जीव पर आश्रित नहीं है। उसके शिष्यों की पुस्तकों से प्रत्यक्ष है कि वे यह मानते थे कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती रहती है। अरिस्टार्कस का (लगभग २८०–२६४ ई० पू० में) सिद्धांत था कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं, परंतु आर्किमिडीज़ ने इस सिद्धांत को भ्रमपूर्ण बताया। यूडॉक्सस ने (४०८–३५५ ई० पू० में) इसका भी प्रायः शुद्ध सिद्धांत बनाया कि क्यों ग्रह बराबर एक दिशा में चलने के बदले आगे-पीछे चलते हैं। कुछ अन्य ज्योतिषियों ने इसमें थोड़ा-बहुत संशोधन किया, परंतु इस विषय पर अपोलोनियस (लगभग २५०–२२० ई० पू० में) वह सिद्धांत बना लिया था जो सूर्य-सिद्धांत में भी है और अपोलोनियस के समय से लगभग १८०० वर्षों तक ठीक समझा गया। अरिस्टिलस और टिमोरिस ने (लगभग ३२०–२६० ई० पू० में) तारों की स्थितियाँ नाप कर तारा-सूचियाँ बनायीं। अरिस्टार्कस ने सूर्य और चंद्रमा की दूरियों का अनुपात जानने की भी एक रीति का वर्णन किया जो सिद्धांततः ठीक है परंतु प्रयोग में बहुत अच्छा परिणाम नहीं देता। एरॉटॉसथिनिज़ ने रविमार्ग और विषुवत के बीच के कोण को नापा और उसकी नाप में कुल ५ कला की अशुद्धि थी। उसने पृथ्वी के व्यास की भी गणना दो स्थानों से ध्रुव के उन्नतांशों को नाप कर किया।

हिपार्कस

इसमें संदेह नहीं कि यवन ज्योतिषियों में सबसे महान हिपार्कस और टालमी थे। हिपार्कस का जन्म कब हुआ या मृत्यु कब हुई इसका ठीक पता नहीं है, परंतु उसका काल लगभग १४६–१२७ ई० पू० था। उसकी गणना प्रसिद्धतम प्राचीन ज्योतिषियों और गणितज्ञों में होती है। उसका जन्म-स्थान नीशिया था। १६१ से १४६ ई० पू० में वह अलेक्जैंड्रिया[2] में ज्यौतिष वेध किया करता था और

[1] संभवतः पाइथागोरस ने इस प्रमेय को भारतवर्ष में सीखा था। देखें साइटश्रिफ़्ट डर डॉयटशेन मॉरगनलेडिशेन गज़ेलशाफ्ट।

[2] पृष्ठ ११८ के चित्र में इसकी स्थिति दिखायी गयी है; पृष्ठ ११२ पर इस नगर का वर्णन दिया जा चुका है।

उसके पहले अपनी जन्मभूमि में। उसकी पुस्तकें अब अधिकांश लुप्त हो गयी हैं। परंतु हमें उसके विषय में जानकारी स्ट्रेबो (प्रथम शताब्दी ई० पू०) और मिश्र के महान ज्योतिषी टालमी के लेखों से प्राप्त होती है। टालमी ने अपनी पुस्तक सिनटैक्सिस में बार-बार हिपार्कस की चर्चा की है और कई स्थानों पर तो हिपार्कस के वाक्यों का ज्यों-का-त्यों उद्धरण दिया है। सिनटैक्सिस का नाम पीछे ऐलमैजेस्ट पड़ गया, क्योंकि अरब वाले इसे अल मजस्ती कहते थे। यह ग्रंथ कोपरनिकस (१४७३–१५४३ ई०) और केपलर (१५७१–१६३० ई०) के समय तक वेद-पुराण की तरह अकाट्य समझा जाता था, और इसी से यह सुरक्षित रह गया। टालमी ने हिपार्कस की बड़ी प्रशंसा की है और सदा बताने की चेष्टा की है कि कितनी बातें उसे हिपार्कस से मिलीं, परंतु बहुत से स्थानों में संदेह बना ही रह जाता है कि कितना अंश हिपार्कस से मिला और कितना स्वयं टालमी का नया काम है। जान पड़ता है कि हिपार्कस ने कई एक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ फुटकर विषयों पर लिखी थीं, परंतु संपूर्ण ज्योतिष पर किसी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। इसके विपरीत सिनटैक्सिस में सब बातों का पूरा विवेचन था, ज्यौतिष राशियों के मान पहले से बहुत अच्छे थे, और पुस्तक बहुत अच्छे ढंग से लिखी गयी थी। संभवतः इसी कारण से हिपार्कस की कृतियों का आदर कम हो गया और समय पाकर वे लुप्त हो गयीं। टालमी हिपार्कस के लगभग ३०० वर्ष बाद हुआ था। ज्योतिष के प्रमुख प्रश्नों के उत्तर हिपार्कस ने दे दिये थे। टालमी ने उनको परिष्कृत किया, त्रुटियों की पूर्ति की और नवीन सारणियाँ बनायीं।

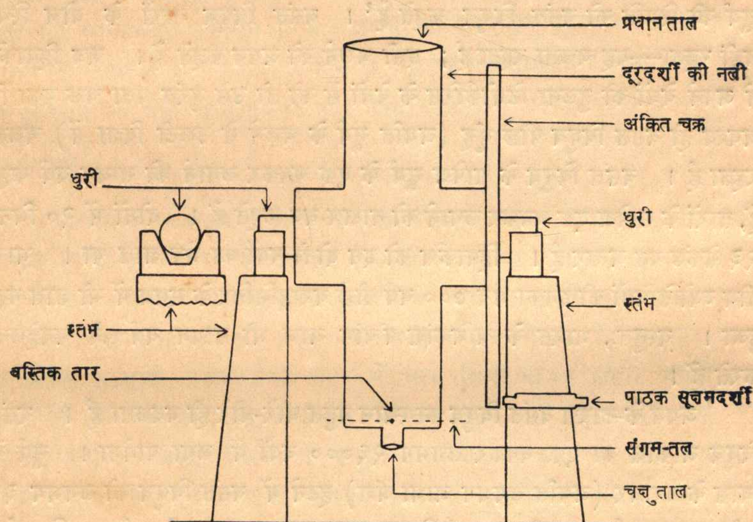
हिपार्कस का काम

हिपार्कस ने ज्योतिष के प्रमुख ध्रुवांकों को निर्धारित कर दिया था, जैसे सायन और नक्षत्र वर्षों की लंबाइयाँ, चांद्रमास की लंबाई, पाँचों ग्रहों के संयुति-काल, रवि-मार्ग की तिर्यक्ता (तिरछापन) जिसे प्राचीन भारत के ज्योतिषी परम क्रांति कहते थे, चंद्रमार्ग की तिर्यक्ता, सूर्य-कक्षा का मंदोच्च (जहाँ सूर्य हमसे दूरतम रहता है), सूर्य-कक्षा की उत्केंद्रता (अथवा चिपटापन), चंद्रमा का लंबन (अथवा दूरी); और इन सभी राशियों के मान प्रायः ठीक थे। अवश्य ही उसने बहुत-सी बातें खाल्दी[1] (कैल्डियन) लोगों से सीखी थी, परंतु स्पष्ट है कि उसने स्वयं इन राशियों को नापा था और कई एक के नवीन तथा अधिक सच्चे मान दिये थे। हिपार्कस गोले पर तारों

[1] बाबुलों के देश में ही पीछे खाल्दियों का अधिकार हुआ।

(नक्षत्रों) का चित्र बनाकर उनका अध्ययन करता था। इस गोले को हम खगोल कहेंगे। तारा-मंडलों के वर्णन में जो नवीन बातें हिपार्कस ने बतायीं—कौन-सा तारा किन तारों के सीध में है; किस तारा-मंडल की आकृति किस प्रकार की है; इत्यादि—सब खगोल देखकर बताये हुए जान पड़ते हैं।

इसकी विशेष संभावना जान पड़ती है कि हिपार्कस किसी-न-किसी प्रकार के याम्योत्तर यंत्र का प्रयोग करता था। आधुनिक याम्योत्तर यंत्र में एक दूरदर्शी इस प्रकार आरोपित रहता है कि वह केवल याम्योत्तर[1] में चल सके। इसकी संरचना नीचे के चित्र से समझ में आ जायगी। इसकी प्रयोग-विधि पृष्ठ १०४ पर दिखायी गयी है।



याम्योत्तर यंत्र।

इस चित्र से आधुनिक याम्योत्तर यंत्र के अवयवों को सुगमता से समझा जा सकता है।

आधुनिक वेधशालाओं का यह प्रधान यंत्र है। अवश्य ही हिपार्कस के याम्योत्तर यंत्र में दूरदर्शी के बदले केवल सरल नलिका रही होगी। हिपार्कस ने बहुत से वेध

[1] शिरोबिंदु और उत्तर तथा दक्षिण बिंदुओं से जमाने वाले समतल को याम्योत्तर कहते हैं।

किये जो इतने शुद्ध थे कि आश्चर्य होता है कि कैसे उन यंत्रों से वह इतनी सूक्ष्मता प्राप्त कर सका। उसने सूर्य और चंद्रमा की गतियों का प्रायः सच्चा सिद्धांत बना लिया था, परन्तु ग्रहों के कभी आगे, कभी पीछे, चलने के सिद्धांत में पूरी सफलता नहीं पायी थी। उसके काम को टालमी ने पूरा किया। हिपार्कस ने भी अरिस्टार्कस की यह बात नहीं मानी कि सूर्य निश्चल है और पृथ्वी तथा ग्रह उसकी प्रदक्षिणा करते हैं।

अयन का आविष्कार

हिपार्कस के आविष्कारों में से निस्संदेह अयन का पता लगाना अत्यंत महत्त्व-पूर्ण था। जब वसंत ऋतु में दिन रात बराबर होते हैं तब खगोल पर तारों के बीच सूर्य की स्थिति को वसंत विषुव कहते हैं[1]। वसंत विषुव तारों के बीच स्थिर नहीं रहता—वह चलता रहता है; इसी चलने को अयन कहते हैं। जब हिपार्कस ने अपने वेधों की तुलना टिमोकैरिस के वेधों से की तो उसे तुरंत पता चल गया कि अवश्य ही वसंत विषुव पीछे मुँह (अर्थात सूर्य के चलने से उलटी दिशा में) चलता रहता है। वसंत विषुव के सापेक्ष सूर्य के एक चक्कर लगाने को सायन वर्ष कहते हैं, तारों के सापेक्ष एक चक्कर लगाने को नाक्षत्र वर्ष कहते हैं। दोनों में २० मिनट २३ सेकंड का अन्तर है। हिपार्कस को इन दोनों वर्षों का भेद ज्ञात था। भारतीय ज्योतिषियों को इनका भेद ७०० वर्ष पीछे वराहमिहिर के समय में भी ज्ञात नहीं हुआ। वस्तुतः, भारत के अधिकांश पंचांग आज भी सायन वर्ष की अवहेलना करते हैं।

अयन के कारण वसंत विषुव का स्थान बहुत धीरे-धीरे ही बदलता है। वसंत विषुव आकाश का एक चक्कर लगभग २६००० वर्षों में लगा पायेगा। सूर्य के व्यास के बराबर (अर्थात लगभग आधा अंश) हटने में वसंत विषुव को लगभग ३६ वर्ष लग जाता है। यही कारण है कि अयन का पता लगाना कठिन है। हिपार्कस ने टिमोकैरिस और अपने वेधों की तुलना से अयन का आभास तो पा लिया, परंतु

[1] यह स्थूल परिभाषा है; शुद्ध परिभाषा यह है कि रविमार्ग और विषुवत के एक छेदन-विंदु को वसंत विषुव कहते हैं, दूसरे को शरद विषुव; इनमें से वसंत विषुव वह है जहाँ सूर्य, पृथ्वी के उत्तर गोलार्ध में वसंत ऋतु रहने पर, स्थिर रहता है। वसंत विषुव और ध्रुव में घनिष्ठ संबंध है। वसंत विषुव का पीछे मुँह चलना ध्रुव के एक वृत्त में चलने का परिणाम है। ध्रुव के चलने की बात पहले बतायी जा चुकी है। (पृष्ठ ५९ और पृष्ठ ९७ का चित्र देखें।)

उसे पूर्ण विश्वास तभी हुआ जब उसने और भी पुराने, खाल्दी लोगों के, वेधों से अपने वेधों की तुलना की। उसने अनुमान किया कि वसंत विषुव एक वर्ष में ३६" (छत्तीस विकला) है, परंतु वस्तुतः यह एक वर्ष में लगभग ५०" चलता है।

हिपार्कस ने तारों की सूची भी बनायी जिसमें लगभग ८५० तारों का उल्लेख था और इसमें प्रत्येक तारे की स्थिति भोगांश (लॉन्जिट्यूड) और शर (लैटिट्यूड) देकर बतायी गयी थी। इस सूची का उद्देश्य संभवतः यह रहा होगा कि यदि कोई नवीन तारा कभी दिखायी पड़े तो उसका निश्चित पता चल सके, क्योंकि हिपार्कस के समय में वृश्चिक राशि में एक नवीन तारा वस्तुतः दिखायी पड़ा था, जिसका उल्लेख चीन के ज्योतिषियों ने किया है (१३४ ई० पू०)। हिपार्कस की सूची को, थोड़ा-बहुत संशोधन करके, टालमी ने प्रकाशित किया। हिपार्कस ने कोणों की जीवाओं के भी मान दिये थे[1]। उसके गणितीय तथा भौगोलिक कार्यों के विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

टालमी

टालमी अलेक्जेंड्रिया (मिश्र देश) का निवासी था। उसका पूरा नाम क्लॉडियस टॉलिमेइयस था, जो अँग्रेज़ी में संक्षिप्त होकर टालमी हो गया है। वह प्रसिद्ध ज्योतिषी, गणितज्ञ और भौगोलिक था। उसके जन्म अथवा मृत्यु-काल का ठीक पता नहीं है, परंतु एक प्राचीन यवन लेखक के अनुसार उसने टालेमेइस हरमाई नामक यवन नगर में जन्म लिया था। इतना अच्छी तरह ज्ञात है कि वह सन १२७ ईसवी से सन १४१ या १५१ ई० तक वेध करता रहा। अरबी लेखकों के अनुसार टालमी ७८ वर्ष की आयु में मरा। यहाँ टालमी के गणित और भूगोल विषयक कार्यों पर विचार न किया जायगा। केवल उसके ज्योतिष संबंधी कार्यों पर संक्षेप में विवेचन किया जायगा।

हिपार्कस ने समतल और गोलीय त्रिकोणमिति के कुछ प्रमेयों का आविष्कार किया था और उसने ज्योतिष के सिद्धान्तों की उत्पत्ति में सहायता ली थी। टालमी ने इस विषय का ऐसा पूर्ण और दोषरहित विवेचन दिया कि लगभग १४०० वर्षों तक कोई दूसरा लेखक उसके आगे न बढ़ सका। आकाशीय पिंडों के चलने का टालमीय सिद्धान्त भी इसी प्रकार लगभग इतने ही समय तक सर्वमान्य बना रहा। टालमी

[1] **जीवा और ज्या का संबंध यह है कि जीवा थ = २ ज्या $\frac{1}{2}$ थ।**

की गणितीय तथा ज्योतिष कृतियाँ जिस पुस्तक में एक साथ छपी हैं उसका नाम यवनों ने मैथिमैटिके सिनटैक्सि रक्खा, जिसका अर्थ है गणित-संहिता। अरब वालों ने प्रशंसापूर्ण नाम खोज कर इसे मजस्ती कहा जिसमें वे अरबी उपसर्ग अल लगा दिया करते थे। इसी से इस पुस्तक का नाम अँग्रेज़ी तथा कई अन्य यूरोपीय भाषाओं में अलमैजेस्ट पड़ गया। इसका अर्थ हुआ ग्रंथराज।

सिनटैक्सिस

सिनटैक्सिस अर्थात अलमैजेस्ट के प्रथम खंड में पृथ्वी, उसका रूप, उसका बेलाग स्थिर रहना, आकाशीय पिंडों का वृत्तों में चलना, कोण-जीवाओं की गणना करने की रीति, कोण जीवाओं की सारणी, रविमार्ग की तिर्यक्ता, उसे नापने की रीति, और फिर ज्योतिष के लिए आवश्यक समतल तथा गोलीय त्रिकोणमिति और अंत में रेखांश तथा भोगांश से विषुवांश तथा क्रांति जानने की रीति और आवश्यक सारणी, ये सब बातें दी हुई हैं। खंड २ में खगोल संबंधी कुछ प्रश्नों का उत्तर है, जैसे किसी अक्षांश पर महत्तम दिनमान क्या होगा, इत्यादि। खंड ३ में वर्ष की लंबाई और सूर्य-कक्षा की आकृति आदि की गणना-विधि का विवेचन है, जिसमें सिद्धांत मुख्यतः यह है कि सूर्य ऐसे वृत्त में चलता है जिसका केन्द्र किसी अन्य वृत्त पर चलता है। इस खंड के प्रथम अध्याय में टालमी ने यह भी बताया है कि सिद्धांत ऐसा होना चाहिए जो सरलतम हो और वेध प्राप्त बातों के विरुद्ध न हो, और ऐसे वेधों में जिनमें सूक्ष्मता की आवश्यकता है उन वेधों को चुनना चाहिए जो दीर्घ कालों पर लिये गये हों; इससे वेधों की त्रुटियों का विशेष दुष्परिणाम न पड़ेगा। खंड ४ में चांद्र मास की लंबाई और चंद्रमा की गति बतायी गयी है। खंड ५ में ज्योतिष यंत्र की रचना, सूर्य तथा चंद्रमा के व्यास, छाया की नाप, सूर्य की दूरी आदि विषय हैं। खंड ६ में चंद्रमा और सूर्य की युतियों तथा ग्रहणों पर विचार किया गया है। खंड ७ और ८ में तारों तथा अयन पर विचार किया गया है। खंड ७ में उत्तरी तारा-सूची है और खंड ८ में दक्षिणी तारा-सूची। दोनों में कुल मिलाकर १,०२२ तारे दिये गये हैं। प्रत्येक तारे के भोगांश और शर बताये गये हैं, और चमक भी। खंड ८ में आकाशगंगा का भी वर्णन है। खंड ९ से १३ तक में ग्रह संबंधी बातें बतायी गयी हैं।

सिनटैक्सिस के भाष्य

सिनटैक्सिस पर कई भाष्य लिखे गये हैं। पैपियस की यवन भाषा म लिखी टीका (जो केवल खंड ६ और अंशतः खंड ५ पर है) अब भी प्राप्य है। अलेक्ज़ैं-ड्रिया के थियन का भाष्य ग्यारह खंडों में है। थियन लगभग सन ४०० ई०

में था, परंतु उसकी पुस्तक १५३८ ई० में प्रकाशित हुई। सन ८२७ में सिनटैक्सिस का उल्था अरबी भाषा में किया गया। इसके बाद कई नवीन अरबी अनुवाद हुए और इनमें से एक अनुवाद का लैटिन अनुवाद सन ११७५ में हुआ। यवन भाषा से लैटिन अनुवाद १४५१ में हुआ। हाइबर्ग ने टालमी की कृतियों का प्रामाणिक संस्करण १८९९-१९०७ में प्रकाशित कराया। इसके पहले कई संस्करण और अनुवाद छप चुके थे, जिनका ब्योरा इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में मिलेगा। एक जरमन अनुवाद १९१२-१३ में छपा।

अलमैजेस्ट यवन ज्योतिष का उच्चतम शिखर था। टालमी के बाद डेढ़ हजार वर्ष तक कोई बड़ा ज्योतिषी हुआ ही नहीं; केवल भाष्यकार हुए।

अध्याय ११

सूर्य-सिद्धांत

मध्यमाधिकार

वराहमिहिर ने अपनी पंचसिद्धांतिका में जिन पाँच सिद्धांतों का सारांश दिया है उनमें से एक सूर्य-सिद्धांत भी है, और पांचों में इसी का स्थान सबसे ऊँचा है। सूर्य-सिद्धांत अब भी उपलब्ध है, परंतु वर्तमान सूर्य-सिद्धांत और वराहमिहिर के सूर्य-सिद्धांत में कुछ बातों में अंतर है। निस्संदेह पीछे के भाष्यकारों ने सूर्य-सिद्धांत को अधिक परिष्कृत करने के लिए उसके ध्रुवांकों में आवश्यकतानुसार संशोधन कर दिया होगा। नीचे का विवरण वर्तमान सूर्य-सिद्धांत के बारे में है।

हिंदी पाठकों के लिए सूर्य-सिद्धांत का महावीरप्रसाद श्रीवास्तव कृत 'विज्ञान-भाष्य तथा मूल' जो विज्ञान-परिषद, इलाहाबाद से, प्रकाशित हुआ था, सर्वोत्तम है। एक अँग्रेज़ी अनुवाद पादरी बरजेस ने १८६० में प्रकाशित कराया था जिसे कलकत्ता विश्वविद्यालय ने १९३५ में फिर से छापा। यह अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है और बरजेस की टिप्पणियाँ भी बहुत अच्छी हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय वाले संस्करण में प्रबोधचंद्र सेनगुप्त की भूमिका भी है जिसमें सूर्य-सिद्धांत संबंधी कई बातों का विशद विभेद है।

सूर्य-सिद्धांत के आधुनिक रूप में १४ 'अधिकार' अर्थात अध्याय हैं। पहले अध्याय में ग्रहों की मध्य गतियाँ हैं। यह समझने के लिए कि मध्यगति क्या है स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य, चंद्रमा, तथा बुध आदि ग्रह समान कोणीय वेग से नहीं चलते; परंतु गणना की सुविधा के लिए पहले यह मान लिया जाता है कि वे समान वेग से चलते हैं। इस कल्पना के अनुसार गणना करने से प्राप्त स्थितियाँ मध्यम या मध्यक स्थितियाँ कहलाती हैं। सूर्य-सिद्धांत के प्रथम अध्याय में इनकी ही गणना बतायी गयी है। इसी से पहला अध्याय मध्यमाधिकार कह-लाता है।

सूर्य-सिद्धांत का लेखक

ईश्वर बंदना के पश्चात आठ श्लोकों में यह भी बताया गया है कि पुस्तक का लेखक कौन है। ये इस प्रकार हैं :

अल्पावशिष्टे तु कृते मयनामा महासुरः ।
रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञासुर्ज्ञानमुत्तमम् ॥२॥
वेदांगमग्रयमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम् ।
आराधयन् विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥३॥
तोषितस्तपसा तेन प्रीतस्तस्मै वरार्थिने ।
ग्रहाणां चरितं प्रादान् मयाय सविता स्वयम् ॥४॥
विदितस्ते मया भावस्तोषितस्तपसा ह्यहम् ।
दद्यां कालाश्रयं ज्ञानं ग्रहाणां चरितं महत् ॥५॥
न मे तेजःसहः कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः ।
मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषः कथयिष्यति ॥६॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे देवः समादिश्यांशमात्मनः ।
स पुमान् मयामाहेदं प्रणतः प्राञ्जलिस्थितम् ॥७॥
श्रृणुष्वैकमनाः पूर्व यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम् ।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता ॥८॥
शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः ।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम् ॥९॥

अर्थ[1]—सत्युग के कुछ शेष रहने पर मय नामक महा असुर ने सब वेदांगों में श्रेष्ठ, सारे ज्योतिष्क पिंडों की गतियों का कारण बताने वाले, परम पवित्र और रहस्य-मय उत्तम ज्ञान को जानने की इच्छा से कठिन तप करके सूर्य भगवान की आराधना की ॥२–३॥

उसकी तपस्या से संतुष्ट और प्रसन्न होकर सूर्य भगवान ने स्वयं वर चाहने वाले मय को ग्रहों के चरित अर्थात ज्योतिषशास्त्र का उपदेश दिया ॥४॥

भगवान सूर्य ने कहा कि तेरा भाव मुझे विदित हो गया है और तेरे तप से मैं बहुत संतुष्ट हूँ; मैं तुझे ग्रहों के महान चरित का उपदेश करता हूँ, जिससे समय का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है; परंतु मेरा तेज कोई सह नहीं सकता और उपदेश देने

[1] महावीरप्रसाद श्रीवास्तव के विज्ञान-भाष्य से ।

के लिए मुझे समय भी नहीं है। इसलिए यह पुरुष, जो मेरा अंश है, तुझे भली भाँति उपदेश देगा ।।५-६।।

इतना कहकर सूर्य भगवान अंतर्ध्यान हो गये, और सूर्यांश पुरुष ने, आदेशानुसार, मय से, जो विनीत भाव से झुके हुए और हाथ जोड़े हुए थे, कहा—एकाग्रचित्त होकर यह उत्तम ज्ञान सुनो, जिसे भगवान सूर्य ने स्वयं समय-समय पर महर्षियों से कहा था। भगवान सूर्य ने पहले जिस शास्त्र का उपदेश दिया था वही आदि शास्त्र यह है; युगों के परिवर्तन से केवल काल में कुछ भेद पड़ गया है ।।७-९।।

इस प्रकार स्वयं सूर्य-सिद्धांत के अनुसार यह पुस्तक दैव-वाणी है, परंतु अपना नाम गुप्त रख कर पुस्तक को अलौकिक बताना प्राचीन लेखकों की एक साधारण रीति थी। ऐसी पुस्तकों का संभवतः कुछ अधिक आदर होता था।

जिस प्रकार १८ पुराण थे उसी प्रकार १८ ज्योतिष सिद्धांतों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें से अधिकांश के नाम प्राचीन ऋषियों के नाम पर पड़े हैं। सुधाकर द्विवेदी ने अपनी पुस्तक "गणक-तरंगिणी" में इस संबंध में निम्न श्लोक दिया है :

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरंगिराः ।।
लोमशः पौलिश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः ।
शौनकोऽष्टादशैवेते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्त्तकाः ।।

चूंकि इसमें यवन सिद्धांत का भी नाम आया है, इसलिए यह श्लोक बहुत प्राचीन न होगा। तो भी इन अठारह सिद्धांतों में से अधिकांश लुप्त हो गये हैं।

सूर्य-सिद्धांत के प्रथम अध्याय के ग्यारहवें और बारहवें श्लोक में समय की एकाइयाँ दी गयी हैं, जिनकी सूची टीकाकारों ने कुछ और बढ़ा दी है। ये एकाइयाँ निम्नलिखित हैं :

१० गुर्वाक्षर = १ प्राण;
१० प्राण = १ विनाडी;
६० विनाडी = १ नाडी;
६० नाडी = १ दिन।

नाडी को नाडिका और घटिका भी कहते हैं। सिद्धांतः ये सब एकाइयाँ तो बन गयीं, परंतु पता नहीं कि वे ठीक-ठीक कैसे नापी जा सकती थीं। उस समय में जब नाडिका छेद वाले बरतन के डूबने से नापी जाती थी, विनाडी तक समय को ठीक-ठीक नापना कठिन ही रहा होगा।

इसके बाद मास और वर्ष की परिभाषाएँ हैं। एक वर्ष को देवताओं का एक दिन (दिन+रात) बताया गया है। देवताओं के ३६० दिनों को देवताओं का एक वर्ष बताया गया है। बारह हजार ऐसे वर्षों का एक चतुर्युग कहा गया है। ७१ चतुर्युगों का एक मन्वंतर होता है, जिसके अंत में सतयुग के बराबर की संध्या होती है। चौदह मन्वंतरों का एक कल्प होता है। प्रारंभिक संध्या को लेकर कल्प में इस प्रकार ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं।

बताया गया है कि एक कल्प को ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं। ऐसे ३६० दिनों को ब्रह्मा का एक वर्ष कहते हैं और ब्रह्मा की आयु में इस प्रकार के १०० वर्ष होते हैं। ब्रह्मा की आयु को "पर" भी कहते हैं। इसके आधे को परार्ध कहते हैं।

समय की एकाइयाँ

सूर्य-सिद्धांत में समय का विभाजन वही है जो पुराणों में पाया जाता है, परंतु यहाँ केवल ब्रह्मा की आयु पर ही एकाइयाँ समाप्त कर दी गयी हैं। विष्णु पुराण में इससे भी बड़ी एकाइयाँ हैं। वहाँ दो परार्धों को विष्णु का एक दिन कहा गया है और उसके आगे भी एकाइयाँ बतायी गयी हैं।

सूर्य-सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मा की आयु ३१,१०,४०,००,००,००,००० साधारण वर्षों की होती है।

अवश्य ही समय की ये सभी एकाइयाँ काम में नहीं आती थीं। बहुत छोटी और बहुत बड़ी एकाइयाँ केवल आरंभ में ही एकाइयों की सूची में आयी हैं। अवश्य ही इनसे गणित में पटुता प्रदर्शित होती है, न कि समय को क्रियात्मक रूप से नाप सकने में चातुर्य।

एकाइयों को बताने के बाद यह बताया गया है कि वर्तमान समय कौन से मन्वंतर का कौन-सा युग है। सृष्टि में कितना समय लगा यह भी बताया गया है। फिर ग्रहों की गति बतायी गयी है। यह कल्पना की गयी है कि सब ग्रहों का अनुरैखिक वेग, अर्थात योजन प्रति घटी में (अथवा मील प्रति घंटा में) वेग, एक ही है। आधुनिक ज्योतिष के अनुसार यह कल्पना अशुद्ध है। उसके अनुसार ग्रहों का अनुरैखिक वेग दूरी के वर्गमूल के व्युत्क्रम के अनुसार रहता है।

इसके पश्चात कोणीय नाप की एकाइयाँ बतायी गयी हैं :—

६० विकला = १ कला ;
६० कला = १ भाग (जिसे अंश भी कहते हैं) ;
३० भाग = १ राशि ;
१२ राशि = १ भगण (अर्थात एक पूरा चक्कर)।

ग्रहों की गतियाँ

अब ग्रहों की कोणीय मध्यक गतियाँ बतायी गयी हैं। उन्हें बताने के लिए यह बताया गया है कि एक महायुग (= $\frac{१}{१०००}$ कल्प) में सूर्य, बुध आदि कितने चक्कर लगाते हैं। उदाहरणतः बताया गया है कि सूर्य ४३ लाख २० हजार चक्कर लगाता है; यह वस्तुतः एक युग में वर्षों की संख्या है। मंगल २२ लाख ९६ हजार ८ सौ बत्तीस चक्कर लगाता है; इत्यादि।

पाश्चात्य देशों में ग्रहों की स्थितियाँ किसी निकट समय के विशेष क्षण पर बताकर उनकी दैनिक गति दे दी जाती है, जिससे उनकी स्थितियाँ अन्य क्षणों पर गणना द्वारा निकाली जा सकती हैं, परंतु भारतीय ज्योतिष में इस पद्धति पर बने ग्रंथों को करणग्रंथ कहते थे और उनका आदर कम होता था; विशेष आदर सिद्धांत-ग्रंथों का होता था। ऐसे ग्रंथों में मान लिया जाता था कि कल्प के प्रारंभ में सूर्य, चंद्रमा तथा सब ग्रह[1] आकाश के एक विंदु पर थे, और चंद्रमा तथा ग्रहों की कक्षाओं के पात और सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों के शीघ्रोच्च[2] भी वहीं थे। तब लंबे युग में उनके भगणों (चक्करों) की संख्याएँ बतायी जाती थीं, जो स्वभावतः ऐसी होती थीं कि ग्रंथकार के समय में आकाशीय पिंडों की स्थितियाँ ठीक निकलें और उनकी दैनिक गतियाँ भी यथासंभव ठीक निकलें।

सूर्य-सिद्धांत के अनुसार सत्युग के आरंभ में सब ग्रह मेष राशि के आदि विंदु पर थे, केवल उनके उच्च और पात उस स्थान पर न थे। गणना से देखा जा सकता है कि कलियुग के आरंभ में भी यही बात सच थी। सर्वसम्मति से यह आरंभ ३१०२ ई० पू० की उज्जयनी की उस अर्धरात्रि को हुआ था जो १७ फरवरी के अंत और १८ फरवरी के आरंभ में पड़ती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वस्तुतः उक्त दिनांक पर सब ग्रहादि साथ थे। बरजेस ने विनलॉक से गणना करायी, जो अमरीका के नॉटिकल अलमनक कार्यालय के उस समय अध्यक्ष थे। बेंटली और बेली ने भी स्वतंत्र रूप से गणना की। इतने

[1] प्राचीन ग्रंथों में सूर्य और चंद्रमा को भी ग्रह मानते थे। जब सूर्य और चंद्रमा को छोड़ अन्य ग्रहों का ही उल्लेख करने की आवश्यकता पड़ती थी तो उनको तारा-ग्रह कहते थे। हम इस पुस्तक में तारा-ग्रहों को केवल ग्रह कहेंगे और सूर्य तथा चंद्रमा को ग्रह न मानेंगे।

[2] आगे पृष्ठ १३४ पर ये शब्द समझाये गये हैं।

दिन पहले के लिए ग्रहादि की स्थितियाँ बताने में उनकी नपी हुई गतियों की अवश्यं-भावी त्रुटियों का प्रत्यक्षत: बड़ा प्रभाव पड़ता है। आधुनिक ज्योतिष में अभी इतनी परिशुद्धता नहीं है कि निश्चयात्मक रूप से कहा जा सके कि कलियुग के आरंभ में ग्रहादि के स्थान ठीक-ठीक क्या थे। इसी से विनलॉक, बेली और बेंटली के उत्तरों में अंतर आया, परंतु इतना निश्चित है कि कलियुग के आरंभ में सब ग्रह और सूर्य तथा चंद्रमा, एक स्थान पर नहीं थे, यद्यपि वे एक दूसरे से बहुत दूर भी नहीं थे। जान पड़ता है कि सूर्य-सिद्धांत के ग्रंथकार ने, अथवा किसी अन्य सिद्धांतकार ने, अपने समय में ग्रहों की स्थितियों और उनकी दैनिक गतियों के आधार पर गणना की होगी और तब ऐसा समय चुना होगा जब ग्रहादि लगभग एक साथ थे, और उसी समय को कलि-युग का आरंभ माना होगा। यदि कलियुग के आरंभ में सचमुच ग्रहादि एक साथ थे और लोगों ने उन्हें देखा था और सूर्य-सिद्धांत के समय तक ऐसी लोक-कथा चली आ रही थी, तो अवश्य वेदों में, या वेदांग-ज्योतिष, या महाभारत या पुराणों में इस बात की चर्चा होती। बरजेस के अनुसार ग्रहादि की स्थितियाँ स्थूल रूप से कलियुग के आरंभ में यों थीं:—

	भोगांश
सूर्य	३०२°
बुध	२६९
शुक्र	३३५
मंगल	२९०
वृहस्पति	३१८
शनि	२८२
चंद्रमा	३०८

बीज-संस्कार

सूर्य-सिद्धांत के आधार पर अब भी कुछ पंचांगों की गणना होती है, परंतु दैनिक गतियों में त्रुटि रहने के कारण अब ग्रहों की स्थितियों में नौ-दस अंश (डिगरी) का अंतर पड़ जाता है। प्राचीन सूर्य-सिद्धांत के स्थिरांक और भी अशुद्ध थे। इसलिए उस ग्रंथ के बनने के कुछ ही सौ वर्ष बाद उसके आधार पर गणना और वेध में अंतर पड़ने लगा होगा। इसीलिए पीछे के ग्रंथकारों ने सूर्य आदि आकाशीय पिंडों के लिए बीज-संस्कार बताया; अर्थात युग में सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों के भगणों की संख्या में परिवर्तन कर दिया; दूसरे शब्दों में उनकी दैनिक गति बदल दी।

यह लगभग १६वीं शताब्दी ई० में किया गया होगा, क्योंकि नवीन आँकड़ों के अनुसार उसी समय चंद्रमा और सूर्य की सापेक्षिक स्थितियों में न्यूनतम त्रुटि पड़ती है और अवश्य ही ये ही दो पिंड महत्तम महत्त्व के हैं, क्योंकि उन्हीं से अमावस्या और पूर्णिमा की गणना होती है। इन बीज संस्कारों से अमावस्याओं और पूर्णिमाओं की त्रुटियाँ इतनी कम हो गयी हैं कि आज भी उनसे गणना करने पर घंटे, दो घंटे से अधिक का अन्तर नहीं पड़ता।

बरजेस ने सारणी दी है जिसमें दिखाया गया है कि सूर्य-सिद्धांत, सिद्धांत-शिरोमणि, टालमी और आधुनिक ज्योतिष के अनुसार सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों के भगण-काल क्या हैं। इस सारणी की दो पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं:

पिंड	सूर्य-सिद्धांत	सिद्धांत-शिरोमणि	टालमी	आधुनिक
	दिन घं०मि०से०	दिन घं०मि० से०	दिन घं० मि० से०	दिन घं०मि० से०
सूर्य	३६५ ६ १२ ३६·६	३६५ ६ १२ ९·०	३६५ ३६ ९ ४८·६	३६५ ६ ९ १०·८
चंद्रमा	२७ ७ ४३ २·६	२७ ७ ४३ १२·१	२७ ७ ४३ १२·१	२७ ७ ४३ ११·४

इससे स्पष्ट है कि सूर्य-सिद्धांत के मान पर्याप्त शुद्ध हैं।

फिर बताया गया है कि एक युग में कितनी तिथियों का क्षय होता है; कितने अधिमास लगते हैं। कहा गया है कि एक महायुग में १,५७,७९,१७,८२८ दिन; १,६०,३०,००,०८० तिथियाँ; १५,९३,३३६ अधिमास; २,५०,८२,२५२ क्षय तिथियाँ; तथा ५,१८,४०,००० सौर मास होते हैं।

इसके बाद बताया गया है कि एक कल्प में सूर्य, मंगल आदि के मंदोच्च कितने चक्कर लगाते हैं; एक महायुग में चंद्रमा तथा ग्रहों के भगणों की संख्या भी बतायी गयी है।

मंदोच्च और पात

यह समझने के लिए कि मंदोच्च और पात क्या हैं, ध्यान रखना चाहिये कि सूर्य, चंद्रमा, ग्रह आदि समान कोणिय वेग से नहीं चलते। जब उनकी दैनिक कोणीय गति न्यूनतम रहती है तब कहा जाता है कि वे मंदोच्च पर हैं; जिस विंदु पर कोणीय वेग महत्तम रहता है उसे शीघ्रोच्च कहते हैं। फिर, चंद्रमा और ग्रहों का आधा मार्ग रविमार्ग से दक्षिण रहता है, आधा उत्तर। जिन दो विंदुओं में ये मार्ग रविमार्ग को काटते हैं वे पात कहलाते हैं।

सूर्य-सिद्धांत के अनुसार सूर्य का मंदोच्च एक कल्प में (४,३२,००,००,००० वर्षों में) पूर्व की ओर चलकर ३८७ भगण करता है, अर्थात ३८७ चक्कर लगाता है। यह वास्तविकता से बहुत कम है, लगभग $\frac{१}{६००}$वाँ भाग। अन्य सिद्धांत-

कारों ने भी मंदोच्च-गति के लिए सूक्ष्म मान दिये हैं। वस्तुतः उनका मान इन ग्रंथों के अनुसार इतना कम है कि कहना पड़ता है कि सिद्धांतकार सूर्य और ग्रहों के मंदोच्च को स्थिर ही मानते थे। चंद्र-कक्षा का मंदोच्च प्रत्यक्षतः चलता रहता है। संभवतः इसीलिए सिद्धांतकारो ने सूर्य और ग्रहों के मंदोच्चों को भी चलायमान माना परंतु उनकी गति इतनी कम बतायी कि उनका चलना, न चलना, बराबर ही रह गया।

मंदोच्च की गति कैसे नापी गयी

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि मंदोच्चों की गति नापना बहुत कठिन है और उनका सूक्ष्म मान जानने के लिए शक्तिशाली यंत्रों की आवश्यकता पड़ती है, जो सूर्य-सिद्धांत के समय में नहीं थे, और लगातार बहुत लंबे काल तक वेध करना चाहिए; या, कम-से-कम, इस काल के आदि और अंत में वेध करना चाहिए।

सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की भगण-संख्याएँ जो ऊपर दी गयी हैं उन्हें जानने के लिए आवश्यक वेध अपेक्षाकृत सरल हैं। तो भी निश्चयात्मक रूप से यह बता सकना कि १,५७,७९,१७,८२८ दिनों में ठीक १,६०,३०,००,०८० तिथियाँ होती हैं, अर्थात् १,६०,३०,००,०८० ÷ ३० मास होते हैं, न एक कम, न एक अधिक, बहुत ही कठिन है। प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच वेध उस समय इतना सूक्ष्म होता था कि ये सब बातें ठीक-ठीक बतायी जा सकती थीं, या केवल सुनी-सुनायी या दूसरों के वेधों पर आश्रित बातों पर ही ये बातें लिख दी गयीं और विभिन्न सिद्धांतकारों ने यह देख कर कि उनके समय में वेध और गणना में कितना अंतर पड़ता है बीज-संस्कार कर लिया। इसका उत्तर प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने यों दिया है[1] :—

> किंतु यह रीति केवल वही जान सकता है जिसने (ज्योतिषशास्त्र की) विशेष भाषा में कुशलता प्राप्त की हो, नक्षत्रादि स्थानों को जानता हो, और जिसने भूगोल-खगोल के बारे में अच्छी तरह सुना हो। अपने-अपने मार्गों में जाते हुए ग्रह (सूर्य, चंद्रमा, बुध, शुक्र मंगल आदि), मंदोच्च, शीघ्रोच्च तथा पात एक कल्प में इतने भगण करते हैं, इसका प्रमाण आगम अर्थात् परंपरागत ज्ञान ही है। किन्तु अधिक समय बीतने के कारण लेखकों, अध्यापकों, तथा पढ़नेवालों की भूल से आगम अनेक हो गये हैं। इसलिए प्रश्न होता है कि कौन-सा आगम प्रमाण माना जाय। यदि ऐसा कहा जाय कि जो आगम

[1] सिद्धांत-शिरोमणि, गणिताध्याय। संस्कृत मूल के लिए सूर्य-सिद्धांत का विज्ञान-भाष्य देखें (पृष्ठ ३७); यहाँ महावीरप्रसाद कृत अनुवाद दिया गया है।

गणित के अनुसार खरा सिद्ध हो उसी को प्रमाण मानकर जो भगण निकलें वे ही माने जायँ तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यंत ज्ञानी पुरुष भी केवल रीति के जानन में समर्थ हो सकता है, परंतु (केवल) रीति से ग्रहों के भगण की संख्या नहीं निकल सकती.। [उसे वेध की आवश्यकता पड़ेगी, और वेध से भी वह पूर्णतया सफल नहीं हो सकता ।] कारण यह है कि मनुष्य की आयु बहुत थोड़ी होती है और उपपत्ति जानने के लिए ग्रह को प्रति दिन वेध करना होता है, जब तक कि भगण (कई बार) पूरा न हो जाय, और शनि का एक भगण तो ३० वर्षों में पूरा होता है; मंदोच्चों के भगण अनेक शताब्दियों में पूरे होते हैं। इसलिए यह कार्य पुरुष-साध्य नहीं है। इसलिए बुद्धिमान गणक, किसी ऐसे अगम को मानकर जो उस समय ठीक समझा जाता हो और जिसकी गणना की कुशलता प्रतिष्ठाप्राप्त गणकों ने स्वीकार कर लिया हो, अपनी गणित तथा गोल संबंधी ग्रहों को दिखाने के लिए, तथा भ्रमवश जो कुछ अनर्थकारी दोष आ गये हैं उनको दूर करने के लिए, दूसरे ग्रंथ बनाते हैं।

भास्कराचार्य का जन्म सन १११४ ई० में हुआ था। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि भास्कराचार्य सूर्य, चंद्रमा, बुध, शुक्र आदि का भगणकाल वेध से ठीक-ठीक निकालना असंभव समझते थे। भारतीय ज्योतिषियों में से सबसे अधिक विस्तृत और विशद सिद्धांत भास्कराचार्य का ही है। यदि वे इस काम को असंभव समझते थे तो उनके कई पीढ़ी पहले वाले ज्योतिषी भी स्वयं भगण-संख्याएँ न निकाल सके होंगे। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि ये संख्याएँ प्रथम बार विदेश से आयीं और तब विविध ज्योतिषियों ने आवश्यकतानुसार उनमें सुधार कर लिया। मय के असुर होने से भी संकेत मिलता है कि सूर्य-सिद्धांत का अधिकांश विदेश से आया। परंतु यह भी विचारणीय है कि सुधार करने के बाद कुछ बातों में सूर्य-सिद्धांत के ध्रुवांकों से निकाला फल टॉलमी के ध्रुवांकों से निकाले गये फल से अधिक शुद्ध होता था[१]।

अहर्गण

सूर्य-सिद्धांत के आगामी तीन श्लोकों में बताया गया है कि सृष्टि के आरंभ से किसी इष्ट समय तक सावन[२] दिनों की संख्या कैसे जानी जा सकती है। इन दिनों

[१] सूर्य-सिद्धांत का विज्ञान-भाष्य, पृ० ५३।

[२] सावन दिन साधारण दिन को कहते थे, जिसे सूर्योदय से आगामी सूर्योदय तक नापा जाता था। दिव्य दिन, नाक्षत्र दिन, आदि, से स्पष्ट करने के लिए ही इसे सावन दिन कहते थे।

को सम्मिलित रूप से द्युगण या दिनराशि कहा गया है। पीछे इसी को अन्य सिद्धांत-कार अहर्गण कहने लगे। तीनों शब्दों का अर्थ एक ही है।

अहर्गण की गणना में बड़ी-बड़ी संख्याएँ आती हैं। उदाहरणतः, १९७९ विक्रमीय की वसंत पंचमी (माघ सुदी ५) तक का अहर्गण

७,१४,४०,४१,३१,६०३

है[1]। इसी से करण ग्रंथों की सहायता से गणना करने में सुगमता रहती है। करण-ग्रंथों में कल्प की आदि से या कलियुग के आरंभ से गणना करने के बदले किसी निकट दिनांक से ही गणना की जाती है। परंतु सिद्धांत का ही स्थान विद्वानों में अधिक ऊँचा रहा है।

फिर, इष्टकाल कौन-सा वार है और वर्षपति तथा मासपति कौन-कौन हैं इसे जानने की रीति बतायी गयी है। मासपति और वर्षपति सूर्य, चंद्रमा, मंगल आदि ग्रह ही होते हैं और साधारण काम के लिए वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

इसके बाद बताया गया है कि किसी विशेष ग्रह की मध्यम स्थिति कैसे जानी जा सकती है। कलियुग के आरंभ में इनका स्थान ज्ञात है ही। युग में भगणों की संख्या भी ज्ञात है। इसलिए साधारण अंकगणित से ग्रहों की स्थिति ज्ञात हो जाती है। इसी प्रकार पात और मंदोच्च की भी स्थितियों के लिए नियम बताये गये हैं।

छप्पनवें श्लोक में यह है:

विस्तरेणैतदुदितं संक्षेपाद्व्यावहारिकम्।
मध्यमानयनं कार्यं ग्रहाणामिष्टतो युगात्॥

अर्थ—ग्रहों के मध्यम स्थान जानने की रीति अब तक विस्तार के साथ कही गयी है; परंतु व्यवहार के लिए इष्ट युग से ही यह काम संक्षेप में करना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि सूर्य-सिद्धांत का रचयिता भी यह अनुभव कर रहा था कि सृष्टि के आरंभ से गणना करना निष्प्रयोजन बहुत-सा कार्य बढ़ा देता है।

पृथ्वी की नाप

इसके बाद पृथ्वी की नाप बताई गयी है (८०० योजन), फिर पृथ्वी की परिधि। सभी जानते हैं कि व्यास को ३·१४१६ से गुणा करने से परिधि निकलती है। सूर्य-सिद्धांत में $\sqrt{(१०)}$ अर्थात ३·१६२ से गुणा करने को कहा गया है। इससे सन्निकट मान निकलेगा, जिसमें लगभग $\frac{३}{४}$ प्रतिशत, अर्थात एक प्रतिशत से कम, की

[1] विज्ञान-भाष्य, पृ० ५७।

अशुद्धि रहेगी। विषुवत के समानांतर किसी विशेष स्थान से होकर जाने वाले लघुवृत्त की परिधि जानने का सूत्र भी दिया गया है, जो पूर्णतया शुद्ध है।

मध्य याम्योत्तर रेखा वह बतायी गयी है जो अवंती (उज्जैन) से होकर जाती है। इसी रेखा पर रोहीतक (संभवतः वर्तमान रोहतक) है यह भी बताया गया है। आगे के तीन श्लोकों में बताया गया है कि किसी स्थान का देशांतर कैसे नापा जा सकता है। वर्तमान समय में रेडियो-संकेतों से देशांतर जाना जाता है। इसके पहले तार-संकेतों से जाना जाता था। सूर्य-सिद्धांत में सर्व चंद्र-ग्रहण के आरंभ या अंत को देखकर देशांतर नापने का आदेश है।

मध्य याम्योत्तर से पूर्व या पश्चिम वाले स्थानों में दिन का आरंभ कब से मानना चाहिए यह बता कर नियम दिया गया है जिससे सूर्य, चंद्र, मंगल आदि का मध्यक स्थान, मध्यरात्रि से इच्छानुसार घड़ी आगे या पीछे, जाना जा सकता है। इस प्रकार इष्ट समय पर इन आकाशीय पिंडों का भोगांश जानने का संपूर्ण और ब्योरेवार नियम है। उसके बाद के श्लोकों में इसकी गणना बतायी गयी है कि चंद्रमा, मंगल, आदि, रविमार्ग से कितना उत्तर या दक्षिण हटे रहते है; दूसरे शब्दों में, उनका शर क्या है।

स्पष्टाधिकार

प्रथम अध्याय का नाम है मध्यमाधिकार, क्योंकि इसमें सूर्य आदि की मध्यक स्थितियाँ हैं, अर्थात वे स्थितियाँ जहाँ सूर्य आदि दिखायी पड़ते यदि वे सदा समान वेग से चलते और औसतन उतने ही काल में एक चक्कर लगाते जितने में वे वस्तुतः लगाते ह। द्वितीय अध्याय का नाम स्पष्टाधिकार है। इसमें बताया गया है कि सूर्य आदि की मध्यक स्थितियों में क्या-क्या संशोधन करना चाहिए जिसमें संशोधित स्थितियाँ वही हो जायँ जो आकाश में वस्तुतः रहती हैं।

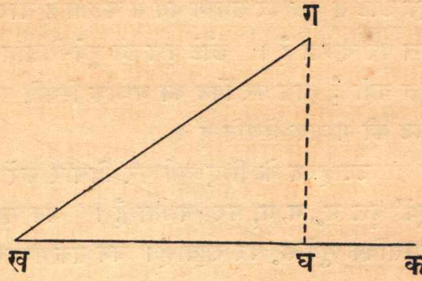
पहले तो एक व्यापक सिद्धांत दिया गया है कि सूर्य आदि क्यों मध्यक वेग से कभी शीघ्रतर चलते हैं, कभी मंदतर। इस सिद्धांत का सारांश यह है कि अंतरिक्ष में वायु-धाराएँ हैं जो उनको नियमित रूप से इधर या उधर खींचती रहती हैं। फिर शीघ्रतर, शीघ्र, सम, मंद, मंदतर वेग बताये गये हैं।

तेरह श्लोकों में ज्या-सारणी बतायी गयी है, जो पर्याप्त शुद्ध है। बरजेस ने बताया है कि ये ज्याएँ पहले कैसे निकाली गयी होंगी और फिर उनकी वृद्धि की जाँच करके उनकी गणना के लिए अधिक सुगम नियम कैसे बने होंगे[१]। उप-

[१]कलकत्ता वाला संस्करण, पृष्ठ ६१।

लब्ध साक्ष्य की जाँच से बरजेस का विश्वास है कि ज्या की सारणी अवश्य भारत में बनी होगी।

ज्या की सारणी बनाने में वृत्त की परिधि और व्यास की निष्पत्ति की आवश्यकता पड़ती है और यहाँ $\sqrt{(10)}$ के बदले प्रायः पूर्णतया शुद्ध मान लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध मान सिद्धांतकारों को ज्ञात था, केवल सुविधा के विचार से, स्थूल गणना के लिए, उसका मान $\sqrt{(10)}$ भी ले लिया जाता था।



यदि **कखग** कोई कोण है और विंदु **ग** से भुजा **खग** पर लंब **गघ** गिराया गया है तो **गघ**÷**खग** के मान को कोण **कखग** की 'ज्या' कहते हैं। यह आधुनिक परिभाषा है। सूर्य-सिद्धांत में **खग** को ३४३८ मान लिया गया है और तब बताया गया है कि विविध कोणों के लिए **गघ** का मान कितना होता है और **गघ** के मान को ज्या कहा गया है। एक समकोण को २४ बराबर भागों में बाँट कर एक भाग, दो भाग, तीन भाग, इत्यादि की ज्याएँ बतायी गयी हैं। ज्या की आवश्यकता कई गणनाओं में पड़ती है।

आगामी श्लोक में बताया गया है कि सूर्य की परम क्रांति, अर्थात महत्तम क्रांति, कितनी होती है; वस्तुतः परम क्रांति की ज्या बतायी गयी है। फिर उसी श्लोक में यह भी बताया गया है कि किसी अन्य अवस्था में क्रांति की गणना कैसे की जा सकती है।

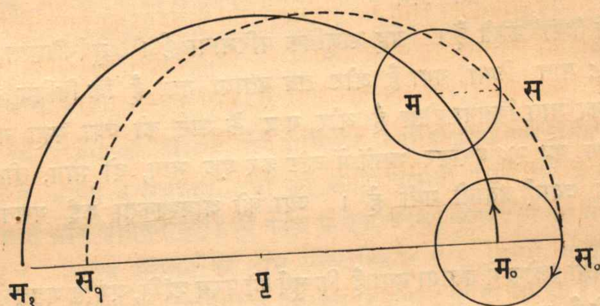
श्लोक २९ में बताया गया है कि मंदोच्च, शीघ्र, केंद्र, पद, भुजज्या और कोटि की गणना कैसे करनी चाहिए। यहाँ केंद्र शब्द संस्कृत नहीं है, क्योंकि इसके पहले की पुस्तकों में इसका प्रयोग नहीं होता था। बरजेस ने लिखा है कि केंद्र ग्रीक शब्द *Χεντρον* (केंट्रन) है, और ग्रह के स्पष्ट स्थान निकालने की नींव में ही इस शब्द के आने में गूढ़ रहस्य है।

सारणी से ३ अंश या इसके दुगुने, तिगुने आदि की ही ज्या जानी जा सकती है; अब बताया गया है कि अन्य कोणों की ज्या किस प्रकार जानी जा सकती है; जो नियम दिया गया है वह सरल अंतःक्षेपण का नियम है।

मंद-परिधि

चौतीसवें और उसके बाद वाले श्लोकों में बताया गया है कि सूर्य, चंद्रमा, मंगल आदि का स्पष्ट स्थान कैसे ज्ञात किया जा सकता है। इसके समझने के लिए साथ के चित्र पर विचार करें। गणना के लिए कल्पना की जाती थी कि पिंड एक छोटे से वृत्त पर समान वेग से चलता है और उस वृत्त का केंद्र समान वेग से दूसरे वृत्त पर चलता है। छोटे वृत्त को सूर्य-सिद्धांत में मंद-परिधि कहा गया है। बड़ा वृत्त वही है जिस पर पिंड की मध्यक स्थिति रहती है; वस्तुतः मंद-परिधि का केंद्र पिंड की मध्यक स्थिति है।

उदाहरण के लिए सूर्य पर विचार करें। चित्र में **पृ** पृथ्वी है। मध्यक सूर्य[१] वृत्त **म**$_{0}$, **म**, **म**$_{1}$ पर चलता है। जब मध्यक सूर्य विंदु **म**$_{0}$ पर रहता है तब वास्तविक सूर्य **स**$_{0}$ पर रहता है। जब तक मध्यक सूर्य **म**$_{0}$ से **म** पर जाता है तब तक



वास्तविक सूर्य विंदु **स** पर पहुँचता है, और जब मध्यक सूर्य **म**$_{1}$ पर पहुँचता है तब वास्तविक सूर्य विंदु **स**$_{1}$ पर पहुँचता है। इस प्रकार वास्तविक सूर्य कक्षा **स**$_{0}$ **स स**$_{1}$ पर चलता है। गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि कक्षा **स**$_{0}$ **स स**$_{1}$ एक वृत्त है जो मध्यक सूर्य की कक्षा के ठीक बराबर है, परंतु पृथ्वी कक्षा **स**$_{0}$ **स स**$_{1}$ के केंद्र पर नहीं है। परिणाम यह होता है कि गणना के अनुसार सूर्य की दूरी जो निकलती है वह समय के अनुसार कभी कम, कभी अधिक रहती है और इसी प्रकार सूर्य की दैनिक कोणीय गति भी न्यूनाधिक निकलती है, और ये दोनों गणना-प्राप्त मान वास्तविक मान के प्रायः बराबर होते हैं।

[१] **अर्थात सूर्य की मध्यक स्थिति, अथवा वह कल्पित विंदु जो वास्तविक सूर्य के औसत कोणीय वेग से और औसत दूरी पर चलता है।**

मंद-परिधि में सूर्य के एक चक्कर लगाने का समय ठीक उतना ही माना जाता है जितने में मध्यक सूर्य अपनी कक्षा में एक चक्कर लगाता है, परंतु चंद्रमा के लिए दोनों के चक्कर लगाने का समय एक नहीं माना जाता। मंगल आदि ग्रहों में भी सूर्य की ही तरह मंद-परिधि में वास्तविक ग्रह के चक्कर लगाने का समय और मध्यक ग्रह के चक्कर लगाने का समय एक माना जाता है, परंतु इन ग्रहों के लिए और भी काम करना पड़ता है, जो, कुछ कठिन होने के कारण, यहाँ नहीं समझाया जायगा।

टालमी से तुलना

जब सूर्य और चंद्रमा की स्पष्ट स्थिति निकालने की रीति की तुलना टालमी की रीति से की जाती है तो कई बातों में विभिन्नता दिखायी पड़ती है। चंद्रमा का स्थान टालमी के अनुसार गणना करने पर कुछ अधिक सच्चा निकलता है। वर्तमान गणित से तुलना करने पर सूर्य-सिद्धांत की रीति बहुत स्थूल है विशेष कर चंद्रमा की स्पष्ट स्थिति जानने की रीति। वर्तमान रीति से चंद्रमा की स्पष्ट स्थिति निकालने के लिए कई सौ संशोधन करने पड़ते हैं। ब्रिटिश तथा अन्य पाश्चात्य नाविक पंचांगों के लिए ब्राउन[1] की चंद्र-सारणियों से काम लिया जाता है, जो दो बड़े आकार के मोटे खंडों में छपा है; एक साल की चांद्र स्थितियों की गणना में कई व्यक्ति पाँच-छः महीने तक गणना करते हैं, गणक-मशीनों की सहायता लेते हैं और वेध-प्राप्त बीज संस्कार करते हैं। इतना करने पर भी सूर्य-ग्रहण की गणना में वास्तविकता से तुलना करने पर कुछ सेकंड का अंतर रह ही जाता है। इसलिए कोई आश्चर्य न होना चाहिए कि सूर्य-सिद्धांत के अनुसार गणना करने पर घंटे, दो घंटे का अंतर पड़ जाता है। सूर्य-ग्रहण की गणना के लिए सूर्य और चंद्रमा की स्पष्ट स्थितियाँ सूक्ष्मता से ज्ञात रहनी चाहिए। सूर्य का स्थान तो प्रायः ठीक ही ज्ञात रहता है। चंद्रमा की स्थिति में कुछ अनिश्चितता आधुनिक गणित में भी रह जाती है। इसी से सूर्य-ग्रहण के लिए गणना-प्राप्त समय में कुछ त्रुटि रह जाती है।

सूर्य-सिद्धांत में एक अन्य सूक्ष्मता भी लायी गयी है। मंद-परिधि को सब स्थितियों में एक ही व्यास का नहीं माना गया है। माना गया ह कि इसका व्यास एक ओर अधिक रहता है, और जैसे-जैसे इसका केंद्र मध्यक ग्रह की कक्षा की दूसरी ओर पहुँचता है तैसे-तैसे इसका व्यास घट कर लघुतम हो जाता है।

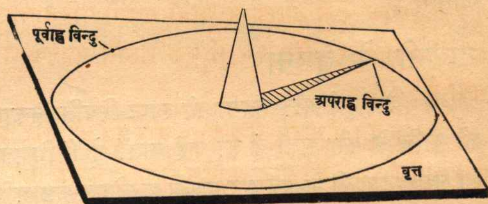
[1] देखो गोरखप्रसाद: चंद्र-सारणी (काशी-नागरीप्रचारिणी सभा)।

ग्रहों की स्थितियों की गणना बताने के बाद इसकी गणना बतायी गयी है कि किसी दिन कौन-सी तिथि है यह कैसे जाना जाय। फिर करणों की गणना बतायी गयी है।[1]

त्रिप्रश्नाधिकार

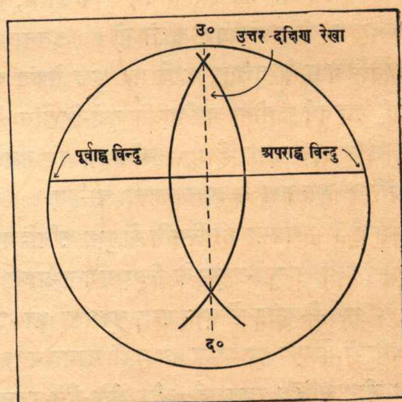
त्रिप्रश्नाधिकार में तीन विषयों पर विचार किया गया है : दिशा, देश और काल (समय)। पहले तो शंकु स्थापित करने के लिए आदेश है :

जल के द्वारा शोध कर समतल किये हुए पत्थर के तल पर अथवा वज्रलेप (सुर्खी, चूने आदि के मिश्रण) से बने हुए समतल चबूतरे पर शंकु के अनुसार इष्ट अंगुल (अर्थात इच्छानुसार नाप) के व्यासार्ध का एक वृत्त खींचो। इस वृत्त के केंद्र में बारह अंगुल का एक शंकु लंब रूप में स्थापित करो। इसकी छाया की नोक मध्याह्न के पहले और पीछे पूर्वोक्त वृत्त को जहाँ-जहाँ स्पर्श करे वहाँ-वहाँ वृत्त पर विंदु बना दो; इन दो विंदुओं को पूर्वाह्न और अपराह्न विंदु कहते हैं। फिर इन दो विंदुओं के बीच में तिमि द्वारा (अर्थात मछली की आकृति की ज्यामितीय रचना



शंकु।

शंकु की पूर्वाह्न और अपराह्न छाया देख कर पूर्व-पश्चिम रेखा खींची जाती थी।



उत्तर- दक्षिण दिशा जानने की रीति।

[1] करण, योग आदि क्या हैं यह इस पुस्तक के अंतिम अध्याय में बताया गया है।

करके[1]) उत्तर-दक्षिण रेखा खींचो। उत्तर-दक्षिण दिशाओं के बीच में तिमि द्वारा पूरब-पच्छिम रेखा खींचो।

यहाँ शंकु की सब नाप नहीं बतायी गयी हैं।

भारतीय ज्यौतिष ग्रंथों में कहीं भी यंत्रों का ब्योरेवार वर्णन नहीं है, परंतु जान पड़ता है कि शंकु उस समय एक महत्त्वपूर्ण यंत्र माना जाता था। इसका वर्णन सूर्य-सिद्धांत में है ही। अन्यत्र भी इसका वर्णन मिलता है।

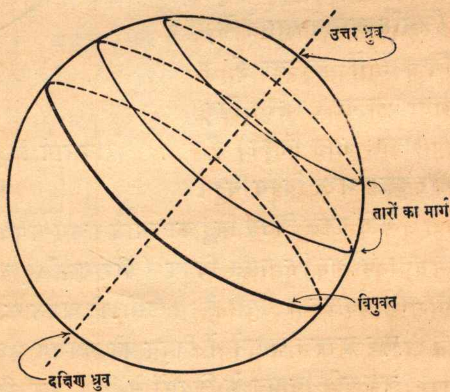
श्लोक ५ से ८ तक में छाया संबंधी परिभाषाएँ तथा आदेश हैं।

श्लोक ९ और १० में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात बतायी गयी है। कहा गया है :

एक युग में नक्षत्र-चक्र ६०० बार पूर्व की ओर लोलक की तरह आन्दोलन करता है। इस ६०० को इष्ट अहर्गण से गुणा करके महायुगीय सावन दिनों की संख्या से भाग देने पर जो आये उसका भुज बना कर भुज से ३ को गुणा करके १० से भाग दो। ऐसा करने से जो कुछ आये वही अयनांश कहलाता है। ग्रहों (अर्थात सूर्य, चंद्रमा, मंगल, आदि) के स्थानों में इसका संस्कार देकर (जोड़ कर) ग्रहों की क्रांति, छाया, चरदल, इत्यादि जानना चाहिए।"

अयन

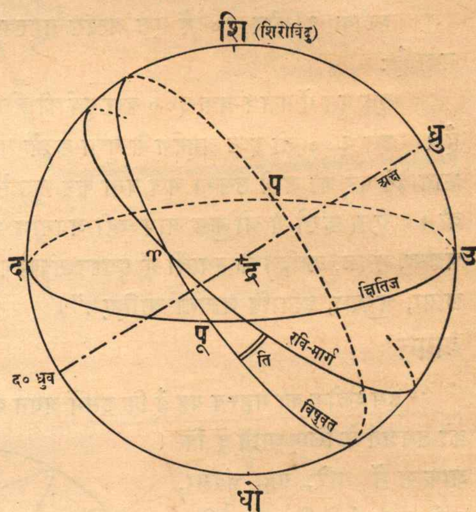
इस श्लोक का महत्त्व यह है कि इसमें अयन की गणना बतायी गयी है। अयन को समझने के लिए ध्यान दें कि आकाश में तारे, ग्रह, चंद्रमा, सूर्य, सब पूर्व क्षितिज पर उदित होते हैं और मोटे हिसाब से २४ घंटे में एक चक्कर लगाकर दूसरे दिन फिर पूर्व क्षितिज पर पहुँच जाते हैं। आकाशीय पिंडों की यह दैनिक गति है। यदि आकाश को गोले से निरूपित किया जाय और इस



[1] यह वही रचना है जिससे दी हुई सरल रेखा पर लंब-अर्धक खड़ा किया जाता है।

पर तारों के दैनिक मार्ग अंकित किये जायँ तो वे सब समानांतर वृत्त होंगे। इस गोले को हम खगोल कहेंगे। खगोल के केंद्र से जो रेखा पूर्वोक्त सब वृत्तों के समतल पर लंब खींची जा सकती है वही खगोल का अक्ष है। अक्ष खगोल को दो विंदुओं में काटता है जिनमें से एक उत्तर ध्रुव है और दूसरा दक्षिण ध्रुव। इन दोनों ध्रुवों के ठीक मध्य में रहने वाला खगोल पर खींचा गया वृत्त विषुवत कहलाता है।

हम खगोल पर सूर्य की स्थिति भी अंकित कर सकते हैं। यदि हम शंकु की छाया देखें तो हमें सूर्य की दिशा और उन्नतांश (ऊँचाई) ज्ञात हो जाती है, और इससे खगोल पर सूर्य की स्थिति का पता चल जाता है। यदि हम प्रतिदिन मध्याह्न पर सूर्य की स्थिति ज्ञात करके उसे अपने खगोल पर अंकित करें तो एक वर्ष में ज्ञात होगा कि सूर्य एक वृत्त पर चलता है, जिसे हम रविमार्ग कहेंगे। हम देखेंगे कि रविमार्ग विषुवत को दो व्यास्तः सम्मुख (अर्थात आमने-सामने के) विन्दुओं में काटता है। इनमें एक वसंत विषुव विंदु (संक्षेपतः वसंत विषुव) है और दूसरा शरद विषुव विंदु।



खगोल।

रविमार्ग विषुवत को लगभग २३½ अंश के कोण पर काटता है।

यदि वसंत विषुव विंदु का स्थान समय-समय पर खगोल पर अंकित किया जाय तो पता चलेगा कि वसंत विषुव (और इसलिए शरद विषुव भी) तारों के सापेक्ष धीरे-धीरे खिसकता रहता है। इसी को अयन कहते हैं। यह गति बड़ी ही धीमी है। एक चक्कर लगाने में विषुव को लगभग २६,००० वर्ष लगता है।

अब गति-विज्ञान के नियमों से सिद्ध कर दिया गया है कि विषुव बराबर ही एक दिशा में चलता रहेगा और समय पा कर चक्कर पूरा कर लेगा। परंतु केवल वेध से बताना असंभव है कि विषुव चक्कर लगायेगा या कुछ दूर जा कर लौट आयेगा। सूर्य-सिद्धांत का मत है कि विषुव बराबर एक ही दिशा में नहीं चलता, यह अपनी

औसत स्थिति के इधर-उधर दोलन किया करता है, जैसे तागे से लटका हुआ लंगर।

सूर्य-सिद्धांत में जो बातें दी हैं उनसे यह परिणाम निकलता है कि विषुव एक वर्ष में ५४ विकला चलता है। गणना से यह ज्ञात है कि सूर्य-सिद्धांत के समय में विषुव प्रति वर्ष ५० विकला ही चलता रहा होगा। इस प्रकार दोनों में कुछ अंतर है, परंतु अयन का नापना इतना टेढ़ा है कि आश्चर्य होता है कि कैसे इतनी सूक्ष्मता से इसे उस काल में किसी ने नापा होगा। अयन का पता यवन (ग्रीक) ज्योतिषी हिपार्कस ने लगाया (पृष्ठ १२१ देखो) और उसने कहा कि अयन ३६ विकला प्रति वर्ष से कम न होगा। प्रसिद्ध टालमी ने अयन को अधिक सूक्ष्मता से नापने के बदले ३६ विकला प्रति सेकंड को ही शुद्ध मान लिया। जिन लोगों की यह धारणा है कि ज्योतिष संबंधी सब सूक्ष्म ज्ञान भारत में ग्रीस से आया यह नहीं बता पाते कि भारतीयों ने अयन का इतना अच्छा मान कैसे प्राप्त किया। हम देख चुके हैं (पृष्ठ ५६) कि पहले कृत्तिकाएँ वसंत विषुव पर थीं। क्या कोई पारंपर्य था जिससे सूर्य-सिद्धांत के समय के ज्योतिषी अनुमान कर सकें कि शतपथ ब्राह्मण के काल से उस समय तक लगभग कितने वर्ष बीते थे और इस प्रकार अपने समय में विषुव की स्थिति को देख कर वे गणना कर सकें कि इतने वर्षों में विषुव इतना चला तो एक वर्ष में कितना चलता होगा? कम-से-कम इतना तो है कि सूर्य-सिद्धांत के अनुसार विषुव इधर-उधर २७ अंश तक दोलन करता है और कृत्तिका से सूर्य-सिद्धांत के समय तक विषुव कुल २६$\frac{3}{4}$ अंश चला था। बहुत संभव है कि २७ अंश इसीलिए चुना गया हो; सिद्धांतकार का विश्वास रहा होगा कि पुरानी स्थिति फिर आयेगी।

कुछ पाश्चात्यों को संदेह है; वे समझते हैं कि संयोगवश ही भारतीयों का पूर्वोक्त मान इतना सच्चा निकला।

क्या वसंत विषुव दोलन करता है?

हम देख चुके हैं कि वर्तमान सूर्य-सिद्धांत में और वराहमिहिर के समय में उपलब्ध सूर्य-सिद्धांत में अंतर है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सूर्य-सिद्धांत के प्राचीन रूप में भी अयन की चर्चा थी। ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त में अयन की कोई चर्चा नहीं की है, यद्यपि वह वराहमिहिर के बहुत पीछे हुआ, और इसलिए प्राचीन सूर्य-सिद्धांत के बहुत ही पीछे। इससे संभावना यही जान पड़ती है कि सूर्य-सिद्धांत के प्राचीन पाठ में अयन न रहा होगा। जब हम इस पर विचार करते हैं कि शंकु की छाया वाले अध्याय में अयन बताने के बदले इसे प्रथम अध्याय में बताना

अधिक उचित होता, और इस पर भी विचार करते हैं कि इस अध्याय के श्लोक ८ तक शंकु-छाया संबंधी बातें हैं और ग्यारहवें श्लोक से फिर छाया-संबंधी बातें आरंभ हो जाती हैं, तो संदेह की कुछ पुष्टि ही हो जाती है। भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ सिद्धांत-शिरोमणि में यही लिखा है कि विषुव बराबर एक दिशा में चलता रहता है, परंतु उनके भाष्यकारों ने उस सिद्धांत को ठीक नहीं माना; वे यही मानते थे कि विषुव दोलन करता है, और भारत से यह अशुद्ध सिद्धांत अरब में और वहाँ से प्रारंभिक यूरोपीय ज्योतिष में भी पहुँच गया[1]।

शंकु की छाया

बारहवें श्लोक में उस दिन मध्याह्न काल के क्षण शंकु-छाया पर विचार किया गया है जिस दिन सूर्य विषुवत पर रहता है। आगामी श्लोक में शंकु-छाया से स्थान का अक्षांश जानने की रीति बतायी गयी है। आगे चलकर बताया गया है कि मध्याह्न पर छाया नाप कर किस प्रकार सूर्य की क्रांति नापी जा सकती है और उससे सूर्य के भोगांश की गणना की जा सकती है। इसी प्रकार के अन्य कई एक शंकु और छाया से संबंध रखने वाले प्रश्नों के लिए नियम दिये गये हैं। बयालिसवें श्लोक में शंकु की छाया की नोक का मार्ग खींचने की रीति बतायी गयी है। इस मार्ग को वृत्त मान लिया गया है, जो ठीक नहीं है। भास्कराचार्य ने भी स्वीकार किया है कि यह नियम अशुद्ध है।

इसके बाद बताया गया है कि लंका और इष्ट स्थान में मेष आदि राशियों के उदयकाल की गणना किस प्रकार की जा सकती है। भारतीय ज्योतिष ग्रंथों में लंका वह विंदु है जहाँ उज्जैन की याम्योत्तर रेखा भूमध्य रेखा को काटती है। यह विंदु श्रीलंका (वर्तमान सीलोन) से दूर है। लग्न[2] जानने की रीति भी बतायी गयी है।

चंद्रग्रहणाधिकार

चंद्रग्रहणाधिकार नामक चौथे अध्याय के पहले श्लोक में बताया गया है कि सूर्य का व्यास ६५०० योजन है और चंद्रमा का ४८० योजन। सूर्य-सिद्धांत ने

[1] बरजेस, पृष्ठ ११९।

[2] इष्ट समय पर रविमार्ग का जो विंदु क्षितिज पर रहता है वही उस समय का लग्न (अर्थात लगा हुआ विंदु) कहलाता है।

प्रथम अध्याय में ही बता दिया है कि पृथ्वी का व्यास १६०० योजन है। इस प्रकार चंद्रमा का व्यास सूर्य-सिद्धांत के अनुसार पृथ्वी के व्यास का ०·३३ है; वास्तविक नाप लगभग ०·२७ है। इस प्रकार चंद्रमा का व्यास सूर्य-सिद्धांत में एक प्रकार से बहुत शुद्ध है। परंतु सूर्य का व्यास बहुत अशुद्ध है।

चंद्रमा के व्यास की नाप किस प्रकार प्राप्त की गयी थी इसकी चर्चा कहीं नहीं है। कोणीय व्यास का अनुमान तो रहा ही होगा। परंतु इससे अनुरेख व्यास का पता तभी लग सकता है जब चंद्रमा की दूरी ज्ञात हो। दूरी नापने के लिए आवश्यक है कि नापा जाय कि दो स्थानों से देखने पर चंद्रमा की दिशाओं में कितना अंतर पड़ता है। प्रत्यक्ष है कि यह अंतर जितना ही अधिक होगा चंद्रमा की दूरी उतनी ही कम होगी; अंतर जितना ही कम होगा, दूरी उतनी ही अधिक होगी। परंतु दो स्थानों से चंद्रमा की दिशाओं का अंतर नापना सुगम नहीं है। इससे आश्चर्य होता है कि चंद्रमा की दूरी कैसे नापी गयी होगी।

सूर्य की दूरी नापी नहीं गयी है। एक सिद्धांत पर उसकी दूरी की गणना कर ली गयी है। सिद्धान्त यह था कि सूर्य, चंद्रमा, मंगल आदि सब समान वेग से अंतरिक्ष में चलते हैं। परंतु यह सिद्धांत ठीक नहीं है। फलतः, इसके आधार पर निकाली गयी सूर्य की दूरी भी अशुद्ध निकली और इसलिए सूर्य का व्यास भी। सूर्य-सिद्धांत के अनुसार सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग चौगुना है। आधुनिक वेधों से पता चलता है कि सूर्य इससे कहीं अधिक बड़ा है—उसका व्यास पृथ्वी के व्यास के १०० गुने से भी कुछ अधिक है।

पृथ्वी के अर्ध-व्यास के सम्मुख चंद्रमा पर जो कोण बनेगा उसे चंद्रमा का लंबन कहते हैं। पृथ्वी से चंद्रमा की दूरी घटती-बढ़ती रहती है। इसी से लंबन भी घटता-बढ़ता रहता है। आधुनिक नापों के अनुसार इसका औसत मान लगभग ५७ कला है, और वास्तविक मान लगभग ६१ कला और ५४ कला के बीच घटता-बढ़ता रहता है। सूर्य-सिद्धांत ने चांद्र लंबन को स्थिर माना है और उसका मान ५३$\frac{१}{३}$ कला लिया है। हिपार्कस ने चांद्र लंबन को अपनी नापों के अनुसार ५७ कला माना था जो प्रायः शुद्ध है। परंतु हिपार्कस ने भी सूर्य की नाप बताने में गलती की। उसके पहले अपनी नापों के आधार पर अरिस्टार्कस की धारणा थी कि सूर्य चंद्रमा की अपेक्षा कुल १९ गुनी दूरी पर है। परंतु यह मान बहुत ही अशुद्ध है। वस्तुतः सूर्य चंद्रमा की अपेक्षा लगभग ४०० गुनी दूरी पर है। परिणामतः, हिपार्कस ने सूर्य का लंबन ३ कला माना। सूर्य-सिद्धांत ने सूर्य का लंबन ४ सेकंड माना। दोनों मान शुद्ध मान से बहुत अधिक हैं। शुद्ध मान लगभग $\frac{१}{७}$ कला है।

इसके बाद चंद्रग्रहणाधिकार में सूर्य और चंद्रमा के आभासी (कोणीय) व्यासों के जानने की रीति बतायी गयी है। तब यह बताया गया है कि चंद्रमा की कक्षा के पास पृथ्वी की छाया कितनी बड़ी रहती है। सभी जानते हैं कि इसी छाया में घुसने से चंद्रग्रहण लगता है। चंद्रमा को राहु और केतु के ग्रसने की बात तो जनता के संतोष के लिए पुराण आदि में कह दी गयी है। सूर्य-सिद्धांत के रचयिता को, तथा अन्य ज्योतिषियों को, ग्रहणों का ठीक कारण ज्ञात था और वे उसकी गणना भी कर सकते थे। नवाँ श्लोक यह हैं :

छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत् ।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चंद्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥

अर्थ—सूर्य के नीचे आ जाने पर चंद्रमा उसको बादल की तरह ढक लेता है [इस प्रकार सूर्य-ग्रहण लगता है]। पूर्व की ओर भ्रमण करता हुआ चंद्रमा भू छाया में प्रवेश कर जाता है, इस प्रकार चंद्रमा का ग्रहण लगता है।

इसके बाद निम्न बातें जानने के लिए नियम बताये गये हैं : ग्रस्त भाग का परिमाण ; सर्व-ग्रहण होगा, या खंड-ग्रहण, या ग्रहण लगेगा ही नहीं; ग्रहण और सर्व-ग्रहण कितने समय तक रहेगा; ग्रहण का आरंभ और अंत कब होगा ; सर्व-ग्रहण का आरंभ और अंत कब होगा; ज्ञात समय पर कितना भाग ग्रस्त रहता है; ज्ञातग्रास किस समय दिखायी पड़ेगा; ग्रहण का चित्र।

विषय के कठिन होने के कारण अधिक ब्योरा यहाँ देना उचित नहीं जान पड़ता।

सूर्यग्रहणाधिकार

इस अध्याय में १७ श्लोकों में सूर्य-ग्रहण की गणना करने की रीति बतायी गयी है। बड़ी बुद्धिमत्ता से कई एक नियम बनाये गये हैं जो लगभग ठीक ह, परंतु कुल मिलाकर इतने संशोधन छूट गये हैं कि अंतिम परिणाम बेकार ही रह जाता है। बरजेस ने २६ मई, सन १८५४ के सूर्य-ग्रहण की गणना अमरीका के एक नगर के लिए अपने सहायक भारतीय पंडित से सूर्य-सिद्धांत के अनुसार कराकर प्रकाशित की है और गणना में जहाँ कहीं अशुद्धता रह गयी थी उसका संशोधन भी कर दिया है। बड़े पृष्ठों पर छोटे टाइप में छापने पर भी गणना में लगभग २१ पृष्ठ लगे हैं। अंतिम परिणाम यह निकला है कि आँख से देखे गये ग्रहण के समय और गणना द्वारा प्राप्त समय में पौने दो घंटे से अधिक का अंतर पड़ता है। विज्ञान भाष्य में श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने उदाहरण स्वरूप काशी के लिए संवत १९८२ के माघ कृष्ण अमावस्या के सूर्य-ग्रहण की गणना सूर्य-सिद्धांत के अनुसार की है। इस गणना में लगभग ४० पृष्ठ लगे हैं। अंतिम परिणाम यह निकला है कि ग्रास का

परिमाण लगभग २६ कला है, अर्थात सूर्य के व्यास का तीन-चौथाई से अधिक भाग छिप जाना चाहिए और सूर्य-ग्रहण ६ घड़ी ४४ पल (दो घंटे से अधिक समय तक) लगा रहना चाहिए। परंतु वास्तव में यह ग्रहण लगा नहीं। काशी के जो लोग इस ग्रहण को देखने की चेष्टा में थे उन्हें भी ग्रहण नहीं दिखायी पड़ा और आधुनिक गणना से भी सिद्ध हुआ कि ग्रहण नहीं दिखायी पड़ना चाहिए।

परिलेखाधिकार

सूर्य-सिद्धांत के छठवें अध्याय का नाम परिलेखाधिकार है। किसी-किसी प्रति में इसे छेद्यकाधिकार भी कहा गया है। दोनों का अर्थ एक है। इस अध्याय में क्या है यह पहले श्लोक में बताया गया है :

"छेद्यक, परिलेख या चित्र के बिना सूर्य और चंद्रमा के ग्रहणों के भेद का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता कि बिंब की किस दशा से ग्रहण का आरंभ होगा, और किस दिशा से मोक्ष, तथा ग्रास कितना होगा। इसलिए छेद्यक बनाने का उत्तम ज्ञान मैं कहता हूँ।"

इस अध्याय में २४ श्लोक हैं। तेईसवें श्लोक में कोई गणित नहीं है। वह यों है :

अर्धादूने सधूम्रं स्यात्कृष्णमर्धाधिकं भवेत्।
विमुंचतः कृष्णताम्रं कपिलं सकलग्रहे ॥२३॥

अर्थ—जब चंद्र-बिंब का आधे से कम भाग ग्रस्त होता है तब ग्रस्त भाग का रंग धुएँ की तरह होता है। आधे से अधिक ग्रस्त होने पर ग्रस्त भाग काला देख पड़ता है। जब चंद्र-बिंब का बहुत-सा भाग ग्रस्त हो जाता है और थोड़ा ही-सा बचा रहता है तब ग्रस्त भाग का रंग साँवले ताँबे के रंग का होता है। परंतु सर्वग्रास ग्रहण का रंग कत्थई (अथवा लोबान के रंग का) होता है। [सूर्यग्रहण में सूर्य के ग्रस्त भाग का रंग सदैव काला होता है।]

अंतिम श्लोक रोचक है :

रहस्यमेतद्देवानां न देयं यस्य कस्यचित्।
सुपरीक्षितशिष्याय देयं वत्सरवासिने ॥२४॥

अर्थ—परिलेख खींचने की विद्या देवताओं की गोप्य वस्तु है। यह विद्या ऐसे-वैसे आदमी को न बतानी चाहिए। अच्छी तरह परीक्षा किये हुए शिष्य को जो एक वर्ष तक साथ रह चुका हो यह विद्या बतानी चाहिए।

इसी से मैं भी पाठक को परिलेख खींचने की विद्या नहीं बता रहा हूँ!

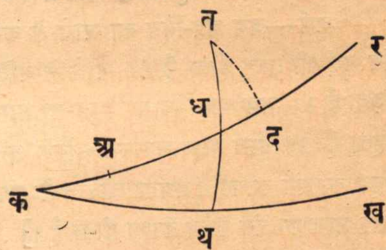
ग्रहयुत्यधिकार और नक्षत्रग्रहयुत्यधिकार

सूर्य-सिद्धांत का सातवाँ अध्याय ग्रहयुत्यधिकार है। इसमें बताया गया है कि ग्रह एक दूसरे के निकट कब और कहाँ देख पड़ते हैं और इनका शुभाशुभ फल क्या होता है। यह भी बताया गया है कि जब ग्रह सूर्य के पास आ जाता है तब कहा जाता है कि वह ग्रह अस्त हो गया है।

नक्षत्र ग्रहयुत्यधिकार नामक आठवें अध्याय के नाम का अर्थ है वह अध्याय जिसमें नक्षत्रों और ग्रहों की युति (अर्थात एक साथ होने) पर विचार किया गया है। परंतु नक्षत्रों और ग्रहों की युति पर इस अध्याय में केवल दो श्लोक (१४-१५) हैं और वहाँ इतना ही कहा गया है कि पूर्वगामी अध्याय की रीति से यहाँ भी गणना करो। इस अध्याय का महत्त्व इसमें है कि नक्षत्रों और कुछ विशेष तारों की स्थितियाँ इसमें दी गयी हैं। इसका उद्देश्य यह था कि नक्षत्रों और ग्रहों की युतियों की ठीक गणना हो सके, परंतु हमारे लिए महत्त्व यह है कि इनसे हम सूर्य-सिद्धांत के काल के विषय में महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाल सकते हैं।

तारों के निर्देशांक

तारों के निर्देशांक (अर्थात वे अंक जिनसे तारों की स्थितियाँ बतायी जा सकतीं हैं) आधुनिक ज्योतिष में दो प्रकार के ही अधिक उपयुक्त होते हैं। वे हैं (१) विषुवांश और क्रांति, तथा (२) भोगांश और शर। मान लें साथ के चित्र में **क** वसंत विषुव है, **क ख** विषुवत है और रेखा **त थ** विंदु **त** से विषुवत पर गिराया गया लंब है। तो **क थ** को विषुवांश कहते हैं और **त थ** को क्रांति।



अब मान लो **क र** रविमार्ग है और रेखा **त द** विंदु **त** से **क र** पर गिराया गया लंब। तो **क द** भोगांश है और **त द** शर।

परंतु सूर्य-सिद्धांत में ध्रुवक और विक्षेप का प्रयोग किया गया है, जिनकी परिभाषाएँ यों है :

मान लो रेखा **त थ** रविमार्ग **क र** को विंदु **ध** में काटता है और **अ** अश्विनी नक्षत्र का आदि विंदु है। तो **अ ध** ध्रुवक है और **त ध** विक्षेप।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि ध्रुवक और विक्षेप को सूक्ष्मता से नापने की कोई रीति ज्ञात नहीं है। वस्तुतः भोगांश और शर भी नहीं नापे जाते। आधुनिक ज्योतिष में विषुवांश और क्रांति ये दोनों ही नापे जाते हैं और तब, यदि आवश्यकता हुई तो, उनसे भोगांश और शर की गणना की जाती है। कारण यह है कि विषुवांश और क्रांति विषुवत के सापेक्ष नापे जाते हैं जो आकाश में स्थिर रहता है; इसलिए नाप सरल है और बहुत सूक्ष्मता से की जा सकती है; परंतु भोगांश शर, ध्रुवक, आदि रविमार्ग के सापेक्ष नापे जाते हैं और रविमार्ग आकाश में स्थिर नहीं रहता। चीन के प्राचीन ज्योतिषी भी विषुवांश और क्रांति ही नापते थे, यद्यपि उस काल में समय नापने के लिए जल-घटी से कोई अधिक अच्छा प्रबंध नहीं था और विषुवांश नापने में समय की सच्ची नाप की आवश्यकता पड़ती है।

ध्रुवक और विक्षेप की नाप

सूर्य-सिद्धांत तथा अन्य भारतीय ग्रंथों में रविमार्ग को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। जैसा ऊपर की परिभाषाओं से स्पष्ट है, भोगांश और शर, अथवा ध्रुवक और विक्षेप, ये दोनों पद्धतियाँ रविमार्ग से संबंधित हैं। पता नहीं कि सिद्धांतकार इन्हें नापते थे, अथवा वे विषुवांश और क्रांति नापकर ध्रुवक और विक्षेप गणना से निकालते थे। हम केवल अनुमान कर सकते हैं कि यदि वे इसे नापते थे तो बाँस की तीली या तार से बने गोले का वे प्रयोग करते रहे होंगे। इस पर रविमार्ग तार या तागे से अंकित रहता रहा होगा और वेध करने के पहले वे केंद्र पर आँख लगा कर चमकीले तारों को देखकर खगोल की दिशा को ठीक करते रहे होंगे। इसी यंत्र से अज्ञात तारों के निर्देशांक वे नापते रहे होंगे। बारहवें श्लोक के उत्तरार्ध से इसका संकेत भी मिलता है, जो यों है:

गोलं बध्वा परीक्षेत विक्षेपं ध्रुवकं स्फुटं ॥१२॥

अर्थ—गोल नामक यंत्र बनाकर इन स्फुट (संशोधित) विक्षेपों और ध्रुवकों की परीक्षा करनी चाहिए।

गोल यंत्र के बनाने की रीति तेरहवें अध्याय में दी गयी है। परंतु वस्तुतः यह ऐसा यंत्र नहीं है जिससे दस कला तक तारों का स्थान नापा जा सके। कोई और रीति रही होगी; संभवतः गणना।

योग तारे

सूर्य-सिद्धांत में तारों की स्थितियाँ बताने के लिए केवल संख्याएँ दी गयी हैं और उनके संबंध में निम्न आदेश दिया गया है:

प्रोच्यंते लिप्तिका भानां स्वभोगोऽथ दशाहतः ।
भवन्त्यतीतधिष्ण्यानां भोगलिप्तायुता ध्रुवाः ।।१।।

अर्थ—(अश्विनी आदि) तारों के जो भोग आगे बताये गये हैं उनको दस से गुणा करके गुणनफल को गत नक्षत्रों की भोग-कलाओं में जोड़ने से जो आता है वही उन तारों के ध्रुवक[1] हैं ।

यहाँ कला के लिए 'लिप्तिका' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो प्राचीन संस्कृत शब्द नहीं है; ग्रीक λεπτου (लेप्टन) से लिया गया जान पड़ता है ।

ऊपर के आदेश को समझने के लिए ध्यान देना चाहिए कि रविमार्ग को सत्ताइस बराबर भागों में बाँटा जाता था और प्रत्येक को एक नक्षत्र कहा जाता था । प्रत्येक भाग का नाम भी था और वही नाम उस तारका-पुंज (तारों के छोटे समूह) का भी था जो उस भाग में पड़ता था । प्रत्येक तारका-पुंज में से कोई एक प्रमुख तारा चुन लिया जाता था जो उस नक्षत्र का योग-तारा कहलाता था । अवश्य ही, योग-तारा नक्षत्र (रविमार्ग के सत्ताइसवें भाग) के ठीक आरंभ पर नहीं पड़ता था । सूर्य-सिद्धांत में यह बताया गया है कि योग-तारा नक्षत्र के आदि विंदु से कितनीदूरी पर है । दूरी को कलाओं में बताने के बदले दस कलाओं की एकाई लेकर बताया गया है जिसमें बड़ी संख्याओं का प्रयोग न करना पड़े । इन संख्यओं से योग-तारों के ध्रुवक ज्ञात होते हैं; आगे चलकर उनके विक्षेप भी बताये गये हैं । फिर कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण तारों के भी ध्रुवक और विक्षेप बताये गये हैं ।

सूर्य-सिद्धांत का काल

एक बात सूर्य-सिद्धांत से पता नहीं चलता कि सूर्य-सिद्धांत के समय इन योग तारों के सापेक्ष, वसंत विषुव कहाँ था । परंतु इन योग-तारों की स्थितियों से अश्विनी नक्षत्र के आदि विंदु का पता लग जाता है । प्रत्येक तारे से अलग-अलग गणना करने पर परिणाम भिन्न-भिन्न मिलते हैं, परंतु उनका औसत लिया जा सकता है और औसत मान को सच्चा समझा जा सकता है । अब यदि हम यह कल्पना करें कि अश्विनी का आदि विंदु सूर्य-सिद्धांत के समय ठीक वसंत विषुव पर था, तो हम सूर्य-सिद्धांत का समय ज्ञात कर सकते हैं, क्योंकि वसंत विषुव की वर्तमान स्थिति ज्ञात है और उसकी वार्षिक गति भी ज्ञात है ।

[1] **ध्रुवक को ध्रुव भी कहते थे; श्लोक में ध्रुव ही है; परंतु भ्रम से बचने के लिए सदा ध्रुवक शब्द का प्रयोग ही अधिक अच्छा है ।**

डाक्टर मेघनाथ साहा[1] ने अपने आचार्य श्री प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त की तरह योग-तारों को, उनके सूर्य-सिद्धांत वाले और वर्तमान भोगांशों के अंतर के न्यूनाधिक होने के अनुसार तीन समूहों में बाँटा है और उनका विश्वास है कि एक समूह के योग-तारों की नापें उस समय की हैं जब सूर्य-सिद्धांत प्रथम बार रचा गया, दूसरे समूह के योग-तारों की नापें उस समय की हैं जब प्रथम बार उसमें संशोधन किया गया और तीसरे समूह की नापें उस समय की हैं जब उसमें अंतिम बार संशोधन किया गया। परंतु सूर्य-सिद्धांत वाले और वर्तमान भोगांशों के अंतर अपने औसत से निम्न प्रकार विभिन्न हैं[2]:

+२° १६′	+०° ३७′	—०° ३३′
+२ १२	+० २५	—१° १
+१ ४०	+० २१	—१ १०
+१ ३३	+० १६	—१ २०
+१ २०	+० ९	—१ २७
+१ १८	+० ६	—१ ४३
+० ५८	+० ०	—२ ७
+० ५६	—० ५	—२ २०
+० ३८	—० ३१	—२ ३२

इन त्रुटियों के देखने से ऐसा नहीं जान पड़ता कि बिना कृत्रिमता लाये उनको तीन समूहों में पृथक किया जा सकता है; त्रुटियों को मान के क्रम में रखने पर वे लगातार (धीरे-धीरे) बढ़ती हैं। संभवतः सूर्य-सिद्धांत के रचयिता के नापने की रीति इतनी स्थूल थी कि ये त्रुटियाँ अपने-आप हो गयीं।

साथ की सारणी में सूर्य-सिद्धांत के अनुसार योग-तारों के निर्देशांक दिये गये हैं और उनकी तुलना आधुनिक मानों से की गयी है[3]।

इन आँकड़ों से सूर्य-सिद्धांत का औसत काल लगभग ५०० ई० आता है।

[1] देखें: रिपोर्ट ऑव दि कैलेंडर रिफॉर्म कमिटी, भारत सरकार; (प्रकाशक, काउंसिल ऑव सायंटिफिक ऐंड इंडस्ट्रियल रिसर्च, ओल्ड मिल रोड, नयी दिल्ली) १९५५, पृष्ठ २६३।

[2] इनमें चार योग-तारों को सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि उनकी पहचान ठीक से नहीं हो पायी है, और अंतर बहुत है। अन्य तारों के लिए अंतर, नक्षत्रों के क्रम में नहीं, मान के क्रम में यहाँ दिखाये गये हैं।

[3] देखें: पूर्वोक्त रिपोर्ट, पृष्ठ २६४।

सारणी—सूर्य-सिद्धांत के नक्षत्र

क्रम संख्या	नक्षत्र-नाम	योग-तारा	श्रेणी	१९५० में भोगांश भो	१९५० में शर श	ध्रुवक (सूर्य-सि०)	विक्षेप (सूर्य-सि०)	भोगांश भो॰ (सूर्य-सि० से परिगणित)	शर श॰ (सूर्य०सि० से परिगणित)	भो—भो॰	श—श॰
१	अश्विनी	β मेष	२·७२	३३°१६′	+ ८°२९′	८° ०′	+१०° ०′	१२° ०′	+ ९° १०′	+२१°१६′	—०° ४१′
२	भरणी	४१ मेष	३·६८	४७ ३०	+१० २७	२० ०	+१२ ०	२४ ३७	+११ ५	२२ ५३	—० ३८
	,,	३५ मेष	४·५८	४६ १४	+११ १९	२० ०	+१२ ०	२४ ३७	+११ ५	२१ ३७	+० १४
३	कृत्तिका	η वृष	२·९६	५९ १८	+ ४ ३	३७ ३०	+ ५ ०	३९ ८	+ ४ ४३	२० १०	—० ४०
४	रोहिणी	α वृष	१·०६	६९ ५	— ५ २८	४९ ३०	— ५ ०	४८ ८	— ४ ४९	२० ५७	—० ३९
५	मृगशिरा	λ वृष	३·७०	८३ १	—१३ २३	६३ ०	—१० ०	६१ २	— ९ ४९	२१ ५९	—३ ३४
६	आर्द्रा	α मृग	०·६†	८८ ३	—१६ २	६७ २०	— ९ ०	६५ ४९	— ८ ५२	२२ १४	—७ १०
७	पुनर्वसु	β मिथुन	१·२१	११२ ३२	+ ६ ४१	९३ ०	+ ६ ०	९२ ५२	+ ६ ०	१९ ४०	+० ४१
८	पुष्य	δ कर्क	४·१७	१२८ १	+ ० ५	१०६ ०	० ०	१०६ ०	० ०	२२ १	+० ५
९	आश्लेषा	α कर्क	४·२७	१३२ ५७	— ५ ५	१०९ ०	— ७ ०	११० ०	— ६ ५६	२२ ५७	+१ ५१
	,,	ϵ वासुकी	३·४८	१३१ ३९	—११ ६	१०९ ०	— ७ ०	११० ०	— ६ ५६	२१ ३९	—४ १०
१०	मघा	α सिंह	१·३४	१४९ ८	+ ० २८	१२९ ०	० ०	१२९ ०	० ०	२० ८	+० २८

क्रम संख्या	नक्षत्र-नाम	योग-तारा	श्रेणी	१९५० में भोगांश भो	१९५० में शर श	ध्रुवक (सूर्य-सि०)	विक्षेप (सूर्य-सि०)	भोगांश भो० (सू०-सि० से परिगणित)	शर श० (सू०-सि० से परिगणित)	भो — भो०	श — श०
११	पूर्वा फाल्गुनी	δ सिंह	२·५८	१६०°३७′	+१४°२०′	१४४° ०′	+१२° ०′	१३९° ५६′	+११° १८′	२०°४१′	+३° २′
१२	उ० फाल्गुनी	β सिंह	२·२३	१७० ५५	+१२ १६	१५५ ०	+१३ ०	१५० ८	+१२ ४	+२० ४७	+० १२
१३	हस्त	δ काक	३·११	१९२ ४५	—१२ ११	१७० ०	—११ ०	१७४ २४	—१० ६	+१८ २१	—२ ५
१४	चित्रा	α कन्या	१·२१	२०३ ९	— २ ३	१८० ०	— २ ०	१८० ४८	— १ ५०	२२ २१	—० १३
१५	स्वाती	α भूतप	०·२४	२०३ ३२	+३० ४६	१९९ ०	+३७ ०	१८२ ५६	+३३ ४७	२० ३६	—३ १
१६	विशाखा*	α तुला	२·९०	२२४ २३	+ ० २०	२१३ ०	— १ ३०	२१३ ३१	— १ २४	१० ५२	+१ ४४
	विशाखा*	ι तुला	४·६६	२३० १८	— १ ५१	२१३ ०	— १ ३०	२१३ ३१	— १ २४	१६ ४७	—० २७
१७	अनुराधा*	δ वृश्चिक	२·५४	२४१ ५२	— १ ५९	२२४ ०	— ३ ०	२२४ ५४	— २ ५२	१६ ५८	+० ५३
१८	ज्येष्ठा	α वृश्चिक	१·२२	२४९ ४	— ४ ३४	२२९ ०	— ४ ०	२३० ६	— ३ ५१	१८ ५८	—० ४३
१९	मूल	λ वृश्चिक	१·७१	२६३ ५३	—१३ ४७	२४१ ०	— ९ ०	२४२ ५३	— ८ ४८	२१ ०	—४ ५९
२०	पूर्वाषाढा	δ धनु	२·८४	२७३ ५३	— ६ २८	२५४ ०	— ५ ३०	२५४ ३९	— ५ २८	१९ १४	—१ ०
२१	उत्तराषाढा	σ धनु	२·१४	२८१ ४१	— ३ २७	२६० ०	— ५ ०	२६० २३	— ४ ५९	२१ १८	+१ ३२

क्रम संख्या	नक्षत्र-नाम	योग-तारा	श्रेणी	१९५० में भोगांश भो	१९५० में शर श	ध्रुवक (सूर्य-सि०)	विक्षेप (सूर्य-सि०)	भोगांश भो॰ (सू०-सि०से परिगणित)	शर श॰ (सू०-सि० से परिगणित)	भो—भो॰	श—श॰
२२	श्रवण	α गरुड	०·८९	३०१° ४′	+२९°१८′	२८०° ०′	+३०° ०′	२८२°३०′	+२९°५४′	१८°३४′	— ०°३६′
२३	धनिष्ठा	β उलूपी	३·७२	३१५ ३९	+३१ ५५	२९० ०	+३६ ०	२९६ ८	+३५ ३३	१९ ३१	— ३ ३८
२४	शतभिषज	λ कुंभ	३·८४	३४० ५३	— ० २३	३२० ०	— ० ३०	३१९ ५१	— ० २८	२१ २	+ ० ५
२५	पूर्वा भाद्रपदा	α उच्चैश्रवा	२·५७	३५२ ४७	+१९ २४	३२६ ०	+२४ ०	३३४ ३८	+२२ २९	१८ ९	— ३ ५
२६	उत्तराभाद्रपदा	γ उच्चैश्रवा	२·८७	८ २८	+१२ ३६	३३७ ०	+२६ ०	३४७ १९	+२४ ०	२१ ९	—११ २४
	उ०भाद्रपदा*	α देवयानी	२·१५	१३ ३७	+२५ ४१	३३७ ०	+२६ ०	३४७ १९	+२४ ०	२६ १८	+ १ ४१
२७	रेवती	ζ मीन	५·५७	१९ ११	— ० १३	३५९ ५०	० ०	३५९ ५०	० ०	+१९ २१	— ० १३

* पहचान संदिग्ध ।

† प्रकाश घटता-बढ़ता है ।

अन्य अध्याय

सूर्य-सिद्धांत के नवें अध्याय का नाम है उदयास्ताधिकार। इसमें बताया गया है कि सूर्य के निकट जाने के कारण ग्रह कब अस्त और कब उदित होते हैं और इसकी गणना कैसे की जाय। यह भी बताया गया है कि अभिजित, ब्रह्महृदय, स्वाती श्रविष्ठा और उत्तरभाद्रपद कभी अस्त नहीं होते क्योंकि वे बहुत उत्तर में हैं। चंद्रमा का उदय और अस्त आगामी अध्याय में बताया गया है जिस का नाम है शृंगोन्नत्यधिकार। उसमें बताया गया है कि जब चंद्रमा सूर्य से १२ अंश से कम दूरी पर रहता है तो अदृश्य रहता है। यह भी बताया गया है कि चंद्रमा के शृंगों (नोको) की स्थितियों की गणना किस प्रकार की जा सकती है। ग्यारहवें अध्याय का नाम पाताधिकार है। पात शब्द प्रायः विपत्ति के अर्थ में प्रयोग किया गया है। जब सूर्य और चंद्रमा की क्रांतियाँ बराबर होती हैं तब विशेष विपत्ति की आशंका समझ कर उसे व्यतीपात (बड़ी विपत्ति) कहा गया है। यह भी बताया गया है कि ऐसे अवसरों की गणना कैसे करनी चाहिए, और इस अध्याय के विषयों में से इतना ही गणित ज्योतिष से संबंध रखता है।

आगामी अध्याय भूगोलाध्याय है। आरंभ के श्लोकों में वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर पुस्तक के शेष अध्यायों में है। इन श्लोकों का अर्थ नीचे दिया जाता है। एक बात विचित्र है कि इस अध्याय को अन्य अध्यायों की तरह 'अधिकार' न कह कर 'अध्याय' ही कहा गया है और आगामी दो अध्यायों को भी अध्याय कहा गया है :

(१) इसके उपरांत मयासुर ने सूर्य के अंश से उत्पन्न हुए पुरुष को हाथ जोड़ कर प्रणाम करके और बड़ी भक्ति से पूजा करके यह पूछा : (२) हे भगवान, इस पृथ्वी का परिणाम क्या है? इसका आकार कैसा है और यह किसके आधार पर है? इसके कितने विभाग हैं और इसमें सात पातालों की भूमि कैसे स्थित है? (३) सूर्य अहोरात्र की व्यवस्था कैसे करते हैं और भुवनों को प्रकाशित करते हुए पृथ्वी के चारों ओर कैसे घूमते हैं? (४) देवताओं और असुरों के दिन रात एक दूसरे के विपरीत क्यों होते हैं और सूर्य का एक भगण (चक्कर) पूरा होने पर यह कैसे होता है? (५) पितरों का दिन-रात एक मास का और मनुष्यों का ६० घड़ियों का क्यों होता है? सब जगह एक ही प्रकार के दिन-रात क्यों नहीं होते? (६) दिन, वर्ष, मास और होरा (घंटा) के स्वामी समान क्यों नहीं होते? ग्रहों के साथ नक्षत्र-मंडल कैसे घूमता है और इसका आधार क्या है? (७) ग्रहों और नक्षत्रों की कक्षाएँ पृथ्वी से ऊपर कितनी-कितनी ऊँचाई पर तथा परस्पर कितने अन्तर

पर हैं? इनके मान क्या हैं और ये किस क्रम से स्थित हैं? (८) ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें बहुत तीव्र क्यों होती हैं और हेमन्त ऋतु में वैसी क्यों नहीं होतीं? ये किरणें कितनी दूर तक जाती हैं; सौर, चंद्र आदि मान कितने हैं और इनसे क्या प्रयोजन निकलता है? (९) हे भूतभावन भगवन, मेरी इन शंकाओं को दूर कीजिए; क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं, इसलिए आप के सिवा दूसरा मनुष्य मेरी शंकाओं को नहीं दूर कर सकता। (१०) भक्ति से कहे हुए मयासुर के इन वचनों को सुनकर सूर्यांश पुरुष ने उससे फिर पहले के रहस्य स्वरूप दूसरा अध्याय कहा। (११) एकाग्रचित्त होकर यह अध्यात्म नामक तत्त्व सुनो जिसे मैं कहता हूँ, क्योंकि भक्तों के लिए मैं कोई वस्तु अदेय नहीं समझता।

इन प्रश्नों का उत्तर तो दिया ही गया है, ऊपर से पहले सृष्टि की कथा भी बतायी गयी है। यह कथा "वेदांत, सांख्य, श्रीमद्भागवत आदि में बताये गये सृष्टि-क्रम का मिश्रण है"[1]। मयासुर के प्रश्नों का जो उत्तर दिया गया है वह स्पष्ट और शुद्ध है। उनका समझना विशेष कठिन भी नहीं है, परंतु स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा सकता। केवल एक-दो श्लोक यहाँ उदाहरण-स्वरूप दे देना पर्याप्त होगा:

अन्येऽपि समसूत्रस्था मन्यन्तेऽधः परस्परम्।
भद्राश्वकेतुमालस्था लंकासिद्धपुराश्रिताः ॥ ५२ ॥
सर्वत्रैव महीगोले स्वस्थानमुपरिस्थितम्।
मन्यन्ते खे यतो गोलस्तस्य क्वोर्ध्वं क्व वाप्यधः ॥ ५३ ॥

अर्थ—वे भी जो एक ही व्यास पर रहते हैं एक दूसरे के बारे में सोचते हैं कि दूसरा हमारे नीचे है, जैसे भद्राश्व के लोग केतुमाल वालों को, और लंका के लोग सिद्धपुर वालों को, और इस भूगोल पर सब जगह लोग अपने ही स्थान को ऊपर स्थित मानते हैं, परंतु पृथ्वी तो अंतरिक्ष में एक गोला है; इसलिए उसका ऊपर कहाँ है और नीचे कहाँ है?

ज्योतिषोपनिषदध्याय

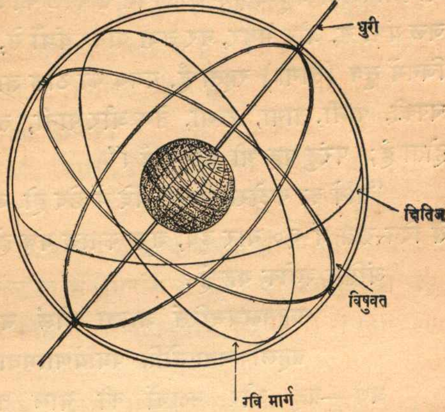
सूर्य-सिद्धांत के तेरहवें अध्याय का नाम ज्योतिषोपनिषदध्याय है। इसमें बताया गया है कि ज्यौतिष यंत्रों को कैसे बनाना चाहिए। इन यंत्रों के बारे में इतना कम ब्योरा है कि ठीक पता नहीं चलता कि रचयिता के काल में भी ऐसे यंत्र बन पाये

[1] विज्ञान-भाष्य, पृष्ठ १०४१।

थे या नहीं। चूँकि विषय महत्त्वपूर्ण और साथ ही रोचक है, इसलिए कुछ चुने हुए श्लोकों का अर्थ नीचे दिया जाता है:

"लकड़ी का अभीष्ट नाप का एक गोला बनाकर इसमें छेद करके एक डंडा कस देना चाहिए जो उस काठ के गोले के केंद्र से होकर जाय और दोनों ओर निकला रहे और धुरी का काम करे। इसी दंड में दो आधार-वृत्त बाँधो, जिनके बीच में विषुवत-वृत्त हो। इन तीनों वृत्तों में से प्रत्येक को ३६० अंशों में बाँट दो।"

इसके बाद अनेक वृत्त बाँधने का आदेश है। इन वृत्तों से ज्योतिष की बातें समझने में सहायता मिल सकती है, वेध में नहीं। वस्तुतः ऊपर बताये गये यंत्र से वेध किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि बीच में काठ के गोले के कारण (जो पृथ्वी को निरूपित करता है) वहाँ न तो आँख लगायी जा सकती है, और न किसी व्यास के अंत में आँख लगा कर व्यास की सीध में कोई आकाशीय पिंड देखा जा सकता है। फिर इतने वृत्त इस यंत्र में बाँधने के लिए बताये गये हैं कि पूर्णतया सच्चा यंत्र कभी बन ही न पाता रहा होगा। वृत्त किस पदार्थ का बने यह यहाँ नहीं बताया गया है, परंतु अन्य पुस्तकों में बाँस की तीली के प्रयोग के लिए आदेश है।



गोल बाँधने की रीती।

"काठ के गोले पर अपने स्थान को सबसे ऊँचा करो; फिर खगोल के मध्य में क्षितिज वृत्त बाँधो; नीचे वाले आधे को कपड़े से ढक दो (परंतु यह कपड़ा खगोल को छूने न पाये); फिर जल-प्रवाह द्वारा ऐसा प्रबंध करो कि (यंत्र समान वेग से बराबर घूमता रह कर) नाक्षत्र समय सूचित करे[1]; अथवा इस यंत्र को पारे के संयोग से ऐसा बनाओ कि यह अपने-आप घूमे। इसको गुप्त रखना चाहिए; स्पष्ट बता देने से सबको भेद ज्ञात हो जायगा।"[2]

[1] केवल बाहरी ढाँचे को घुमाना चाहिए, भीतरी काठ के गोले को नहीं।

[2] आरंभ की पंक्तियाँ शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद नहीं है; लेखक का अभिप्राय क्या रहा होगा यह यहाँ बताया गया है।

इसे पढ़ने से संदेह होने लगता है कि यंत्र का बनाना सिद्धांतकार स्वयं नहीं जानता था। यदि यंत्र पारे से चल सकता तो पारे से चलने वाली घड़ियाँ भी बन सकतीं; परंतु समय नापने के लिए सरल नाडिका यंत्र का ही वर्णन किया गया है, जो आगे दिया गया है।

"शंकु, यष्टि, धनु और चक्र नामक अनेक प्रकार के छाया-यंत्रों के द्वारा चतुर और परिश्रमी मनुष्य गुरू के उपदेश से काल का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कपाल आदि जल यंत्रों से, और मयूर, नर तथा वानर यंत्रों से, जिनके पेट में बालू रहती है और जिनमें सूत्र (तागा) रहता है, समय का ठीक ज्ञान किया जा सकता है। पारे की चक्की, पानी, तागा, रस्सी, तेल और पानी, तथा पारा और बालू का इनमें प्रयोग होता है; परंतु यह भी कठिन है।"

"ताँबे का कटोरा, जिसके पेंदे में छेद हो और जो निर्मल जल के कुंड में रखने से दिन-रात में ६० बार डूबे, शुद्ध कपाल यंत्र होता है"।

अंतिम श्लोक यह है:

ग्रहनक्षत्रचरितं ज्ञात्वा गोलं च तत्वतः।
ग्रहलोकमवाप्नोति पर्यायेणात्मवान् नरः॥ २५॥

अर्थ—ग्रह और नक्षत्रों की चाल तथा गोल गणित के तत्त्व को जानने वाला मनुष्य ग्रह लोक को प्राप्त होता है और जन्मांतर में आत्म-ज्ञानी होता है।

अंतिम अध्याय

सूर्य-सिद्धांत के अंतिम अध्याय का नाम है मानाध्याय। इसमें समय की विविध एकाइयों और विविध प्रकार के समयों की (उदाहरणतः, सौर, सावन, चांद्र और नक्षत्र समयों की) चर्चा है। अयन, संक्रांति, उत्तरायण, दक्षिणायन, ऋतु, तिथि, पक्ष, महीनों के नाम, आदि का भी विवेचन है। बताया गया है कि सावन दिन सूर्य के एक उदय से दूसरे उदय तक के समय को कहते हैं।

अंतिम दो श्लोकों में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषियों ने मय से ज्योतिष विद्या सीखी।

रचना-काल

सूर्य-सिद्धांत में ठीक ५०० श्लोक हैं और पाठ वह है जिसे रंगनाथ ने स्थिर किया और जिसपर उन्होंने भाष्य लिखा। कई स्थानों में नवीन पंक्तियाँ जोड़े जाने के

चिह्न हैं और संभव है कि कहीं-कहीं कुछ पंक्तियाँ छोड़ भी दी गयी हों। किसी को इसमें संदेह नहीं है कि प्रचलित सूर्य-सिद्धांत प्राचीनतम सूर्य-सिद्धांत से कुछ भिन्न है। पंचसिद्धांतिका और वर्तमान सूर्य-सिद्धांत के स्थिरांकों की तुलना ही इसके लिए पर्याप्त है। रंगनाथ का समय १६०३ ई० है और उसके बाद सूर्य-सिद्धांत में क्षेपक मिलाना असंभव हो गया। प्रोफ़ेसर प्रबोधचंद्र सेनगुप्त[1] का मत है कि सूर्य-सिद्धांत में कई विभिन्न समयों की रचनाएँ मिली हुई हैं। प्राचीनतम लगभग ४०० ई० की है और नूतनतम संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के अंत की। उनका कहना है कि निम्न तीन अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती हैं :

(१) वराहमिहिर के पहले की पुस्तक;

(२) वराहमिहिर का संस्करण, जिसमें मंद-परिधि का सिद्धांत भी है;

(३) वराहमिहिर के बाद वाले परिवर्तन और क्षेपक।

उनके अनुसार इन अवस्थाओं के प्रमाण के लिए स्थिरांकों की तुलना पर्याप्त है। वराहमिहिर के बताये सूर्य-सिद्धांत के स्थिरांक वे ही हैं जो ब्रह्मगुप्त के खंडखाद्यक में हैं; परंतु आधुनिक सूर्य-सिद्धांत में महायुगीय भगणों में निम्नलिखित परिवर्तन कर दिये गये हैं :

मंगल, +८ भगण; शनि, +४ भगण; चांद्र उच्च, —१६ भगण; शुक्र, —१२ भगण; बुध, +६० भगण; चांद्र पात, +१२ भगण।

इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर के बाद सूर्य-सिद्धांत में परिवर्तन हुए। आधुनिक सूर्य-सिद्धांत में उच्चों के भोगांश भी ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के अधिक निकट हैं, यद्यपि प्राचीन सूर्य-सिद्धांत में ये स्थिरांक खंडखाद्यक से ठीक-ठीक मिलते हैं। इसलिए सेनगुप्त का विचार है कि (१) वराहमिहिर के पहले एक सूर्य-सिद्धांत था जिसको वराह ने बदल कर खंडखाद्यक के अनुसार कर दिया और (२) वराह के अंकों को बदल कर पीछे किसी ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के अनुसार कर दिया; (३) स्थिरांक ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के स्थिरांकों के निकट अवश्य हैं, परंतु ठीक-ठीक वही नहीं हैं; इसलिए किसी ने उनमें फिर सूक्ष्म संशोधन कर दिया। बेंटली का कहना है कि सूर्य-सिद्धांत के ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत वाले स्थिरांकों में सोलहवीं शताब्दी ई० में संशोधन (बीज-संस्कार) किया गया, क्योंकि आधुनिक सूर्य-सिद्धांत और आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिष के अनुसार गणना करने पर चंद्रमा, मंगल आदि की स्थितियों की त्रुटियाँ

[1] सूर्य-सिद्धांत के बरजेस कृत अनुवाद में प्रबोधचंद्र सेनगुप्त की भूमिका (कलकत्ता विश्वविद्यालय), १९५३।

लगभग १५४० में न्यूनतन निकलती है। दीक्षित का मत है कि ये संस्कार मकरंद-सारणी के रचयिता द्वारा किये गये होंगे[1]।

बरजेस का मत

बरजेस और सेनगुप्त दोनों का मत है कि सूर्य-सिद्धांत के द्वितीय अध्याय के प्रारंभिक श्लोक, जो यह बताते हैं कि रविमार्ग में शीघ्रोच्च, मंदोच्च और पातों पर अदृश्य प्राणियाँ हैं जो ग्रहों के सम वेग को विचलित कर देते हैं, पुस्तक के प्राचीनतम संस्करण के अवशेष हैं। पीछे के सिद्धांत में तो यह था कि ग्रह मंद-परिधि में चलता है और इस मंद-परिधि का केंद्र प्रधान वृत्त पर चलता है। यद्यपि यह तर्क बहुत दृढ नहीं है, क्योंकि द्वितीय सिद्धांत तो केवल गगना की सुगमता के लिए कल्पना-मात्र है और उसका प्रथम सिद्धांत के प्रतिकूल माना जाना आवश्यक नहीं है, तो भी बात ठीक हो सकती है।

सेनगुप्त ने दिखाया है कि आधुनिक सूर्य-सिद्धांत की कई एक रीतियाँ प्रथम आर्यभट या ब्रह्मगुप्त की रीतियों से मिलती हैं। इसलिए उनकी धारणा है कि, सूर्य-सिद्धांत में परिवर्तन ब्रह्मगुप्त के बाद तक होते रहे। चूँकि उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा ही नहीं की है कि सूर्य-सिद्धांत में इन रीतियों का पहले से रहना और दूसरों का उनकी नकल करना असंभव है, उनकी बात विशेष जँचती नहीं।

फिर, सूर्य-सिद्धांत के अध्याय ८ में दिये गये योग-तारों के भोगांशों की तुलना आधुनिक मानों से तथा ब्रह्मगुप्त के मानों से करके सेनगुप्त ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि अयन के आधार पर कहा जा सकता है कि कुछ तारों के भोगांश लगभग ४०० ई० के नपे हैं। सोलह भोगांश ब्रह्मगुप्त के मानों से बहुत मिलते-जुलते हैं; सेनगुप्त का कहना है कि वे ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत से लिये गये होंगे, जिसका समय ६२८ ई० है, और पाँच तारों के भोगांश बाद के हैं; ये लगभग ७२० ई० के होंगे। इस प्रकार सेनगुप्त इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सूर्य-सिद्धांत का मूल पाठ लगभग सन ४०० ई० में लिखा गया और उसमें ११०० ई० तक परिवर्तन होते रहे।

सेनगुप्त का कहना है कि सूर्य-सिद्धांत ४०० ई० के बहुत पहले न लिखा गया होगा, क्योंकि कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (लगभग ३०० ई० पू०), सूर्य-प्रज्ञप्ति (लगभग २०० ई० पू०) और पितामह-सिद्धांत (जिसका सारांश पंचसिद्धांतिका में है और जिसकी गणना का आरंभिक वर्ष ८० ई० है), इन सबमें बहुत स्थूल ज्योतिष है।

[1] दीक्षित: भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ १८४।

इस प्रकार केवल १०० ई० से ४०० ई० का समय बच रहता है और इसी में बाबुल और यूनान (ग्रीस) से अधिक सूक्ष्म ज्योतिष का ज्ञान जो कुछ भी आया हो आया होगा।

जैसा हम देख चुके हैं (पृष्ठ १४३), सूर्य-सिद्धांत में अयन की चर्चा है, परतु आर्य-भटीय में, और ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत (६२८ ई०) में भी इसकी चर्चा नहीं है। सूर्य-सिद्धांत और आर्यभटीय में इतनी समानता है कि मुनीश्वर (१६४६ ई०) का मत था कि प्रथम आर्यभट ही सूर्य-सिद्धांत के भी रचयिता थे। परंतु कुछ ऐसी विभिन्नताएँ भी हैं कि इसे ठीक मानना उचित नहीं जान पड़ता।

अलबीरूनी का मत

सूर्य-सिद्धांत के बनने के कई सौ वर्ष बाद अलबीरूनी ने भारतवर्ष पर अपनी पुस्तक में लिखा था[1] कि सूर्य-सिद्धांत के रचयिता लाटदेव थे, परतु यह बात विश्वसनीय नहीं जान पड़ती। वराहमिहिर के अनुसार रोमक और पौलिश सिद्धांतों के रचयिता लाटदेव थे। वे प्रथम आर्यभट के शिष्य थे। यदि वराहमिहिर के समय में लोग यह जानते होते कि लाटदेव ने ही सूर्य-सिद्धांत भी लिखा है तो निस्संदेह वराहमिहिर इसे पंचसिद्धांतिका में लिखते। फिर, अधिक संभावना यही थी कि लाटदेव गणना के आरंभिक वर्ष के लिए अपने ही समय के आस-पास का कोई वर्ष चुनते। इसके अतिरिक्त, लाटदेव यवनपुर के सूर्यास्त से अहर्गण की गणना आरंभ करते थे और आर्यभट अर्धरात्रि अथवा मध्याह्न से (उन्होंने दोनों पद्धतियों के अनुसार गणना बतायी है)। सूर्य-सिद्धांत में उज्जयनी की अर्धरात्रि से अहर्गण की गणना का आरभ होता है। यद्यपि इन सब बातों के होते हुए भी यह संभव है कि लाटदेव ही ने सूर्य-सिद्धांत को एक गुमनामी पुस्तक के रूप में अतुल पुण्य अर्जन करने के लिए लिखी हो, तो भी इसकी संभावना कम ही दिखायी पड़ती है।

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ से ही सूर्य-सिद्धांत ऐसा उत्तम ग्रंथ था कि उसी का उपयोग अधिक होने लगा। जैसे-जैसे वेध से पता चला कि आँख से देखी बातों और गणना में अंतर पड़ता है तैसे-तैसे ज्योतिषियों ने उसके अंकों को थोड़ा-बहुत बदल कर उसे अधिक उपयोगी और शुद्ध बना लिया, परंतु पुस्तक का परित्याग कभी नहीं किया। आर्यभटीय, ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत, आदि ग्रंथ व्यक्ति

[1] अलबीरूनी का 'भारतवर्ष', साचौ अनुवादित, १।१५३।

विशेष द्वारा विरचित ग्रंथ थे; नामों से ही यह बात टपकती थी। सूर्य-सिद्धांत भगवान सूर्य की कही पुस्तक मानी जाती थी; संभव है इसका भी कुछ प्रभाव पड़ा हो।

आगामी अध्याय में इस पर विचार किया जायगा कि कहाँ तक ज्योतिष का ज्ञान ग्रीस से भारतवर्ष में आया।

अध्याय १२

भारतीय और यवन ज्योतिष

बरजेस का मत

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारत में ज्योतिष का सब ज्ञान विदेश से आया; अनेक भारतीयों का विश्वास है कि ज्योतिष का ज्ञान यहीं से विदेश गया। प्राचीन भारत ज्योतिष में दूसरों का कहाँ तक ऋणी था इस विवादग्रस्त विषय पर स्वयं विचार न करके श्री एबेनेज़र बरजेस के विवेचन को पाठकों के सम्मुख रखना मैं अधिक उत्तम समझता हूँ। ये विचार १८६० में उन्होंने सूर्य-सिद्धांत के अपने अँग्रेज़ी अनुवाद के साथ प्रकाशित किये थे। उनके विचार अब भी वैसे ही ठीक जान पड़ते हैं जैसे वे उस समय थे। उनका कहना है कि :

"प्रोफेसर व्हिटनी की ऐसी सम्मति जान पड़ती है कि हिंदुओं ने गणित और फलित ज्योतिष का ज्ञान प्रायः कुल का कुल यवनों से प्राप्त किया—और जो कुछ उन्होंने यवनों से नहीं पाया उन्होंने दूसरों से पाया, जैसे अरब, खाल्दी और चीनी लोगों से। परंतु मैं समझता हूँ कि हिंदुओं को वे उतना यश नहीं दे रहे हैं जितना उनका अधिकार है और यवनों को वे उचित से अधिक यश दे रहे हैं। इस विचार के उपस्थित करने के साथ-साथ मैं यह अवश्य मानता हूँ कि यवन लोगों ने पीछे, ज्योतिष-विज्ञान की उन्नति अधिक सफलता से की। हिंदू सिद्धांतों में कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं है जो टालमी की महान कृति सिनटैक्सिस के टक्कर की हो। तो भी, जितना प्रकाश मुझे अब मिला है उससे मुझे यह मानना आवश्यक है कि ज्योतिष की सरल बातों और सिद्धांतों में, जैसा हिंदुओं की पुस्तकों में मिलता है, हिंदू मौलिक थे; और इस विज्ञान की उन्नति में भी वे अधिकतर मौलिक ही रहे; और यवनों ने उनसे ज्ञान प्राप्त किया, या किसी ऐसे मध्यस्थ द्वारा उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया जिन्हें यह ज्ञान भारत से मिला था। यदि इस विचार में परिवर्तन करना पड़े तो मैं यहाँ तक मान सकता हूँ कि यवन और हिंदुओं ने एक दूसरे से ज्ञान संभवतः न लिया हो और किसी

एक ही स्थान से दोनों ने ज्ञान प्राप्त किया हो। परंतु वर्तमान ज्ञान के आधार पर मैं इससे सहमत नहीं हो सकता कि हिंदू लोग, कुछ भी अधिक मात्रा में, अपने ज्योतिष के लिए यवनों के ऋणी हैं; अथवा यवन लोग ज्योतिष-विज्ञान के उन सरल तथ्यों और सिद्धांतों की मौलिकता के लिए सम्मान पाने के सच्चे अधिकारी हैं जो अन्य प्राचीन पद्धतियों में भी पाये जाते हैं, और जो इस प्रकार के हैं कि जान पड़ते हैं कि एक ही मूल से उत्पन्न हुए हैं और एक स्थान से दूसरे को गये हैं।

समानताएँ

"स्पष्टता के लिए, अच्छा होगा यदि मैं पूर्वोक्त भाँति के महत्त्वपूर्ण तथ्यों और सिद्धांतों में से कुछ को अधिक विशद रूप से बता दूं। वे इस प्रकार हैं :

"१. चंद्रमा की गति के लिए रविमार्ग का सत्ताइस या अट्ठाइस नक्षत्रों में बाँटा जाना। थोड़ा हेर-फेर से ऐसा विभाजन हिंदुओं की, अरब वालों की, और चीन वालों की पद्धतियों में है।

"२. रवि की गति के लिए रविमार्ग का बारह राशियों में बाँटा जाना और प्रत्येक का नाम। इन नामों का अर्थ हिंदू और यवन दोनों पद्धतियों में एक है। इन में ऐसी अभिन्नता है कि विभाजन-सिद्धांत और नामकरण एक ही मूल से उत्पन्न होने की कल्पना निस्संदेह ठीक है।

"३. हिंदू, यवन और अरब की फलित ज्योतिष पद्धतियों में समानता और कहीं-कहीं पूर्ण अभिन्नता से प्रबल धारणा होती है कि प्राथमिक और सारभूत बातों में ये पद्धतियाँ एक ही मूल से उत्पन्न हुई हैं।

"४. प्राचीन लोगों को जो पाँच ग्रह ज्ञात थे उनके नाम, और उनपर सप्ताह के दिनों का नाम, एक होना।

"इन बातों के बारे में मुझे यह कहना है :

"पहली बात तो यह है कि पूर्वोक्त में से किसी भी विषय के लिए मौलिक आविष्कारक कहाने का अधिकार हिंदुओं की अपेक्षा अन्य किसी देश के लोगों का अधिक दृढ़ नहीं है।

"दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त में से अधिकांश विषयों के लिए मौलिकता का साक्ष्य, मेरी सम्मति में, स्पष्ट रूप से हिंदुओं के पक्ष में है; और कुछ के लिए, जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, मुझे तो साक्ष्य प्रायः या पूर्णतया अखंड्य जान पड़ता है।

हिंदू मूल से उत्पन्न

"यहाँ ब्योरे के लिए स्थान नहीं है और न किसी विषय पर ब्योरा देना मेरा उद्देश्य है। परंतु स्पष्टता के लिए, ऊपर के प्रत्येक विषय पर संक्षिप्त टिप्पणी देना आवश्यक जान पड़ता है।

"१. चंद्रमा की गति के लिए रविमार्ग का सत्ताइस या अट्ठाइस भागों में विभाजन। हिंदुओं में इस विभाजन की असंदिग्ध प्राचीनता, अपने पूर्ण विकसित रूप में भी, और साथ ही अन्य देश के लोगों में इस प्रकार के साक्ष्य का अभाव, निश्चित रूप से मुझे इस सम्मति के लिए प्रेरित करते हैं कि यह विभाजन विशुद्ध हिंदू मूल से उत्पन्न हुआ है। श्री बायो और दूसरे विद्वानों की सम्मति इसके विरुद्ध होते हुए भी मेरी यही सम्मति है।

"२. सूर्य की गति के लिए रविमार्ग का बारह भागों में विभाजन और उन भागों के नाम। यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस विभाजन का प्रयोग और राशियों के वर्तमान नाम भारत में उतने ही प्राचीन काल से प्रचलित हैं, जितने से वे किसी अन्य देश में; और इसके अतिरिक्त इस का भी साक्ष्य है—यह सच है कि यह साक्ष्य कम स्पष्ट और कम संतोषजनक है, तो भी इस प्रकार का है कि बहुत अधिक संभावना हो जाती है—कि अन्य देशों में इस विभाजन का लेश-मात्र भी जब नहीं पाया जाता, उसके शताब्दियों पहले यह भारतवर्ष में हिंदुओं को ज्ञात था।

"अपने विचारों के अंशतः समर्थन में, और इस विचार के बलपूर्वक समर्थन में कि यदि पूर्वोक्त विभाजन भारत में नहीं उत्पन्न हुआ तो कम-से-कम कहीं पूरब में उत्पन्न हुआ, मैं इडेलर और लेप्सियस की सम्मति को उद्धृत करना चाहता हूँ, जैसा वह हंबोल्ट की पुस्तक में दिया गया है (कॉसमॉस, हारपर का संस्करण, ३।१२०। टिप्पणी): 'इडेलर का विश्वास है कि पूरबी लोगों ने ही बारह राशियों का नाम रक्खा'...। हंबोल्ट की सम्मति है कि यवनों को रविमार्ग के बारह विभाजन और उनके नाम खाल्दियों से मिले। मेरी सम्मति है कि अधिक साक्ष्य इस बात का है कि इनकी उत्पत्ति यदि हिंदुओं में न हुई तो कम-से-कम पूरब में हुई।

"३. मंद-परिधियों का सिद्धांत। इस सिद्धांत के विकास में यवन और हिंदू पद्धतियों में जो अंतर है उससे इस कल्पना के लिए कि इन दो जातियों में से किसी एक को दूसरे से इस विषय में संकेत मात्र से कुछ अधिक मिला, कोई स्थान नहीं रह जाता। और जहाँ तक इस विषय का संबंध है यवनों ने हिंदुओं से ये

बातें सीखीं इसे सत्य मानने के लिए भी उतना ही कारण है जितना उलटी बात मानने के लिए; परंतु कुछ और कारण हैं, जो इस धारणा के अनुकूल हैं कि इस सिद्धांत के मूल आविष्कारक हिंदू थे।

फलित ज्योतिष

"४. फलित ज्योतिष के बारे में, मेरी समझ में, इसके आविष्कार और अनुशीलन में अधिक सम्मान नहीं है। हिंदू और यवन पद्धतियों में जो अभिन्नताएँ पायी जाती हैं वे इतनी अपूर्व हैं कि उनकी पृथक-पृथक उत्पत्ति की कल्पना असंभव है। परंतु मौलिक आविष्कार का सम्मान, यदि इसमें कोई सम्मान है भी तो, हिंदुओं और खाल्दियों में से किसी एक को मिलना चाहिए। आविष्कार और अनुशीलन की प्रथमता का साक्ष्य, कुल मिला कर, हिंदुओं के पक्ष में जान पड़ता है; तीन-चार अरबी या यवन शब्द जो हिंदू पद्धति में आ गये हैं, उनका निराकरण इस कल्पना से हो जाता है कि वे अपेक्षाकृत बहुत बाद में लिये गये। परंतु होरा शब्द के संबंध में, जो यवन शब्द $\omega\rho\alpha$ है, यवन हेरोडोटस का साक्ष्य यहाँ देना अनुचित न होगा (२।१०९): 'सूर्य-घड़ी और शंकु, तथा दिन का बारह भागों में विभाजन यवनों ने बाबुल लोगों से पाया'। इस बात के लिए बहुत-सा साक्ष्य है कि अहोरात्र का चौबीस घंटों में विभाजन, यदि भारत में नहीं तो पूरब में, यवन देश में प्रचलित होने के पहले ही से, प्रचलित था। फिर, हिंदू ज्योतिष ग्रंथों में पाये जाने वाले उन शब्दों को जिन्हें यवन बताया जाता है, मैं यह कहना चाहता हूँ कि पूर्ण औचित्य के साथ हम उस बहुसंख्यक शब्दों के वर्ग में रख सकते हैं[1] जो यवन और संस्कृत भाषाओं में

[1]श्री बरजेस की यह बात मुझे ठीक नही जँचती। वराहमिहिर ने बारह राशियों के जो नाम अपने बृहज्जातक में दिये हैं वे मेष, वृष, मिथुन आदि के बदले क्रियः, ताबुरि, जित्तुम आदि हैं, जो यवन शब्दों के भ्रष्ट रूप जान पड़ते हैं। उनका प्रचार न हो सका; उनके बदले मेष, वृष, आदि नाम चले, जो यवन शब्दों के अनुवाद हैं। नीचे यवन और वराहमिहिर द्वारा प्रयुक्त बारहों राशिनाम दिये जा रहे हैं, जिसमें पाठक स्वयं उनकी तुलना कर सके। यद्यपि वराहमिहिर वाले शब्द संस्कृत-से जान पड़ते हैं, तो भी स्मरण रखना चाहिए कि उनका प्रयोग उसके पहले के किसी भी ग्रंथ में नहीं हुआ। दूसरी ओर इसका प्रमाण है कि यवन वालों ने बाबुल लोगों के राशिनामों का अनुवाद कर लिया और उनके देश में इन नामों का प्रचलन ५३२ ई० पूर्व से आरंभ हुआ (भारत सरकार की पंचांग-संशोधन समिति की रिपोर्ट, पृष्ठ १९३

उभयनिष्ठ हैं, और जो या तो एक ही मूल से दोनों भाषाओं में पहुँचे, या अति प्राचीन काल में संस्कृत से यवन भाषा में पहुँचे; क्योंकि, जहाँ तक मैं जानता हूँ, कोई यह नहीं कहता कि यवन भाषा संस्कृत की जन्मदात्री है, यद्यपि बहुत-से शब्दों में और व्याकरण के प्रयोगों में दोनों भाषाओं में समानता है।

ग्रह

"५. ग्रहों के संबंध में मुझे यह कहना है कि हिंदू और यवन पद्धतियों में उनकी अभिन्नता सिद्ध नहीं हो पायी है। चाहे जो हो, मेरा विचार है कि यवन ज्योतिष के वर्तमान नामों की उत्पत्ति कम-से-कम खाल्दी तक पूरब तो अवश्य हुई। हेरोडोटस ने लिखा है (२।५२) "देवताओं के नाम यवन में मिस्र देश से आये।" ग्रहों के नाम देवताओं के नाम हैं। इन नामों की उत्पत्ति के बारे में यवनों का विश्वास हेरोडोटस के कथन से स्पष्ट है। अन्य कारणों से उनकी उत्पत्ति, निस्संदेह रूप से, खाल्दी या उससे भी अधिक पूरब देश में हुई दिखायी पड़ती है।

"सप्ताह के दिनों के साथ ग्रहों के नाम जुटने के संबंध में यह निश्चय करना असंभव है कि उस प्रथा की उत्पत्ति कहाँ हुई। इस बारे में प्रोफेसर एच० एच० विल्सन की राय है—और मैं उनसे पूर्णतया सहमत हूँ—कि 'इस प्रथा की उत्पत्ति ठीक से निश्चित नहीं हो पायी है; कारण कि यवनों को यह प्रथा अज्ञात थी, और रोम-निवासी भी इसे बहुत पीछे अपनाये। साधारणतः लोग इसे मिस्र और बाबुल लोगों की देन बताते हैं, परंतु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है, और इस आविष्कार के श्रेय के अधिकारी हिंदू भी कम-से-कम उतने ही हैं, जितने अन्य कहीं के लोग।' (जरनल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, ९।८४)।

अरब में ज्योतिष

"ज्योतिष विज्ञान में मौलिक आविष्कार के श्रेय के अधिकारी अरबवाले कहाँ तक हैं इस पर भी दो शब्द कहना आवश्यक है। वे तो स्वयं स्वीकार करते हैं कि

पर आवश्यक उद्धरण मिलेंगे)। इसलिए इसकी संभावना बहुत कम ही जान पड़ती है कि भारत से ये नाम ग्रीस में गये।

राशियों के यवन नाम और वराहमिहिर में आये नाम यों हैं: क्रियाँस=क्रियः; टॉरस=ताबुरि; डिडुमाय=जित्तुम; कार्किसनॉस=कुलीर; लियोन=लेय; पार्थेनॉस=पाथोन; जुगस=जूकः, स्कौर्पियस=कौर्प्यः; तोजायटस=तौक्षिक; लिगोक्सेरस=आकोकेर; ग्ड्रॉक्सोस=हृदरोग; इक्थुएस=इथुसी।

उन्हें यह विद्या भारत और ग्रीस से मिली। आरंभ में ही दो या तीन भारतीय ज्यौतिष ग्रंथ उन्होंने प्राप्त कर लिये।" द्वितीय अब्बासिद खलीफा अलमंसूर (७७३ ई०) के राज्यकाल में, जैसा कि बिन-अल-अदमी की ज्यौतिष सारणियों की भूमिका में लिखा है, जो ९२० ई० में प्रकाशित हुई थीं, एक भारतीय ज्योतिषी, जो अपने विषय का पारंगत विद्वान था, खलीफा के दरबार में आया। वह अपने साथ ग्रहों की सारणियाँ भी लाया था और चांद्र तथा सौर ग्रहणों के वेध, और राशियों के निर्देशांक भी, जो, जैसा उसने बताया, एक भारतीय राजकुमार के परिगणित सारणियों से लिये गये थे, जिसका नाम, उस अरबी लेखक के लिखने के अनुसार, फिचर था" (कोलब्रुक: हिंदू अलजेबरा पृष्ठ ६४)। यह बात कि यवन ज्योतिष से परिचित होने के पहले वे हिंदू ज्योतिष के ज्ञान से परिपूरित थे टालमी कृत सिनटैक्सिस के अरबी अनुवाद से प्रत्यक्ष है। यह सभी जानते हैं कि इस यवन ज्योतिषी की महान कृति की जानकारी यूरोप में अरबी अनुवाद से ही हुई। इस अनुवाद के लैटिन अनुवाद में आरोही पात को शिर वाला पात और अवरोही पात को पुच्छवाला पात कहा गया है और ये शब्द हिंदू राहु और केतु के विशुद्ध अनुवाद हैं। यह बात और अन्य साक्ष्य स्पष्ट रूप से दिखाते हैं कि अरब वालों पर हिंदू ज्योतिष की गहरी छाप पड़ी थी। वस्तुतः जान पड़ता है कि अरब वालों ने ज्योतिष में कुल इतना ही किया कि वे अपने पूरबी और पच्छिमी पड़ोसियों से प्राप्त सामग्री को परिष्कृत कर सके।

"एक दूसरी बात की भी चर्चा करने की आवश्यकता यहाँ जान पड़ती है, जिससे स्वयं अरब वालों का विश्वास प्रकट होता है कि विज्ञान के विषय में हिंदुओं के वे ऋणी थे। वे अंकों के आविष्कार को हिंदुओं का बताते हैं (जिसको साधारणतः सभी यूरोप वाले अरब का आविष्कार समझते हैं)।

"ऊपर के तथ्यों और तर्कों का, जो दिखाते हैं कि गणितीय तथा ज्योतिष विज्ञानों में अरब वाले हिंदुओं के कितने ऋणी थे, स्पष्टतया इस प्रश्न से भी महत्त्वपूर्ण संबंध है कि चंद्रमा की गति के लिए रविमार्ग को अट्ठाइस नक्षत्रों में विभाजित करने का आविष्कार किसने पहले किया, कम-से-कम जहाँ तक अरब वालों का इससे संपर्क है। सब बातों को ध्यान में रख कर यह मानना असंभव है कि अरब के लोगों ने इसका आविष्कार किया।

समाप्ति

"इस लेख को मैं प्रसिद्ध प्राचीनज्ञ एच० टी० कोलब्रुक से लिये गये एक अवतरण से समाप्त करता हूँ। अपने बहुमूल्य लेख में, जिसका शीर्षक है "विषुवों के अयन

और ग्रहों की गतियों पर हिंदू ज्योतिषियों के विचार", पहले हिंदू पद्धतियों के अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से कुछ को ब्योरेवार बता कर, और उसी प्रकार उनकी और यवनों की पद्धतियों में पायी जाने वाली समताओं को भी बता कर, और इन दोनों लोगों में उस समय में आवागमन के साक्ष्य को भी दिखा कर, वे कहते हैं कि "यदि इन परिस्थितियों से, और इनके अतिरिक्त ऐसी समानता से, जिसे आकस्मिक मानना कठिन है, और जो मंद-परिधि और उत्केंद्र वृत्तों के उपकरण से सुसज्जित हिंदू ज्योतिष और यवन ज्योतिष में कई बातों में पायी जाती हैं, कोई समझे कि ऐसा विश्वास करना उचित होगा कि हिंदुओं को यवनों से वह ज्ञान मिला जिससे वे ज्योतिष के अपने त्रुटिमय ज्ञान को शुद्ध और परिष्कृत कर सके तो उनसे मतभेद के लिए मुझे कोई इच्छा न होगी" (एशियाटिक रिसर्चेज़) ।

"इतने विद्वान और इतने सतर्क लेखक होते हुए भी श्री कोलब्रुक इस मत के पक्ष में कि हिंदुओं ने अपना ज्योतिष का ज्ञान यवनों से पाया है कुल इतना ही कह सके जितना ऊपर लिखा है । इससे अधिक मैं भी कुछ नहीं कह सकता । रविमार्ग के बारह भागों में बँट जाने पर और उनके नाम पड़ जाने पर, मैं समझता हूँ कि केवल कुछ संकेत ही एक देश से दूसरे को पहुँच सका होगा, और वह भी बहुत प्रारंभिक काल में; क्योंकि यदि यह माना जाय कि पीछे के समय में हिंदुओं ने यवनों से ज्ञान प्राप्त किया तो यह दिखायी पड़ना ही कठिन हो जाता है कि आखिर उन्होंने किस बात का ज्ञान प्राप्त किया; क्योंकि किसी बात में न तो स्थिरांक ठीक-ठीक मिलते हैं और न परि-णाम । और फिर, इन स्थिरांकों और परिणामों में से महत्त्वपूर्ण बातों में—उदाहरणतः, विषुव के वार्षिक अयन के मान में, पृथ्वी के सापेक्ष सूर्य और चंद्रमा की नापों में, सूर्य के महत्तम केंद्र-समीकार में—यवनों की अपेक्षा हिंदू ही अधिक शुद्ध थे ; और ग्रहों के भगण-कालों में वे प्रायः उतने ही शुद्ध थे जितने यवन । ग्रहों के नाक्षत्र भगण कालों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि चार भगण-काल हिंदुओं के अधिक शुद्ध थे और टॉलमी के छः । प्रत्यक्ष है कि हिंदुओं और यवनों के बीच ज्यौतिष ज्ञान का आदान-प्रदान बहुत कम ही हुआ है । और उन विषयों के बारे में जहाँ सिद्ध है कि एक देश के लोगों ने दूसरे से कुछ लिया ही, मुझे इस समय जहाँ तक ज्ञान है, मेरी तो यही सम्मति हो रही है कि ज्ञान-प्राप्ति की धारा कोलब्रुक की धारणा से उलटी ही रही है—पश्चिम से पूर्व के बदले पूर्व से पश्चिम ही; और ज्योतिष में भी मैं अपना मत उसी भाषा में प्रकट करना चाहूँगा जिसमें इस प्रकांड विद्वान ने विचार-शील दर्शन और धार्मिक व्यवस्थाओं की, विशेष कर पुनर्जन्म-सिद्धांत की, कुछ अभिन्नताओ के बारे में, जो यवन और हिंदू पद्धतियों में पाये जाते हैं, अपनी सम्मति

दी है : "मुझे इसी परिणाम पर पहुँचना उचित जान पड़ता है कि इस बात में भारतीय शिक्षक थे, न कि शिष्य" ट्रैंज़ैक्शन्स रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १।५७९)। यह सम्मति प्राच्य दर्शन पर कोलब्रुक की लेखनी से निकले अंतिम निबंध में व्यक्त की गयी है।

अध्याय १३

लाटदेव से भास्कराचार्य तक

लाटदेव, पांडुरंग, निःशंक, श्रीषेण, आदि

वराहमिहिर ने पंचसिद्धांतिका में जिन ग्रंथों का संग्रह किया है उनके नाम ये हैं—पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह सिद्धांत[1]। इनमें से पहले दो ग्रंथों के व्याख्याता[2] लाटदेव बताये गये हैं, जिससे सिद्ध होता है कि लाटदेव सूर्य-सिद्धांत के बनाने वाले नहीं थे; जैसा अलबेरूनी ने कई सौ वर्ष पीछे विक्रम की ११वीं शताब्दी में लिखा है। यदि ऐसा होता तो वराहमिहिर अवश्य स्वीकार करते। भास्कर प्रथम के रचे महाभास्करीय से तो प्रकट होता है कि लाटदेव, पाण्डुरंग स्वामी, निःशंकु आदि आर्यभट के शिष्य थे[3]। रोमक सिद्धांत निस्संदेह यवन (यूनानी) ज्योतिष के आधार पर बनाया गया था, क्योंकि इसमें यवनपुर के सूर्यास्तकाल[4] से अहर्गण बनाने की रीति बतायी गयी है। यह यवनपुर वर्तमान युक्तप्रान्त का जवनपुर नहीं है, वरन् संभवतः एलेक्ज़ेंड्रिया है जो यूनानी ज्योतिष का केंद्र था। अस्त होते हुए सूर्य से अहर्गण निकालने की बात भी यही प्रकट करती है, क्योंकि मुसलमानी महीने अब भी दूइज के चंद्रदर्शन के समय से, अर्थात जब सूर्यास्त होता है तब से, आरंभ होते हैं। ब्रह्मगुप्त ने भी रोमक-सिद्धांत को स्मृतिबाह्य[5] माना है। इससे यह बात

[1] इस अध्याय की सारी बातें मेरे द्वारा संपादित सरल विज्ञान-सागर नामक ग्रंथ में छपे श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव के एक लेख से ली गयी हैं।

[2] पंचसिद्धांतिका, १।३।

[3] प्रबोधचंद्र सेनगुप्त के खण्डखाद्यक की भूमिका, पृष्ठ १९।

[4] पं० सि०, १।८।

[5] ब्रा० सि०, १।१३।

और भी स्पष्ट हो जाती है। पांडुरंगस्वामी और निःशंकु के बनाये कोई ग्रंथ नहीं मिले हैं। ब्रह्मगुप्त ने श्रीषेण, विष्णुचंद्र और विजयनन्दि की चर्चा कई स्थानों पर विशेषकर तन्त्र परीक्षाध्याय में की है, जिससे प्रकट होता है कि इन्होंने कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखा था वरन् पुराने ग्रंथों का संग्रह मात्र अथवा संशोधन मात्र किया था। ऊपर के पिछले चार ज्योतिषियों का समय वराहमिहिर के उपरान्त और ब्रह्मगुप्त के पहले, अर्थात संवत ५६२ से ६६५ के बीच में, है। ब्रह्मगुप्त कहते हैं कि श्रीषेण ने लाट, वशिष्ठ, विजयनन्दि और आर्यभट के मूलांकों को लेकर रोमन नामक गुदड़ी[1] तैयार की है और इन सबके आधार पर विष्णुचन्द्र ने वाशिष्ट नामक ग्रन्थ रचा है।

भास्कर प्रथम

महाभास्करीय और लघुभास्करीय नामक दो ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ भारत के कई पुस्तकालयों में हैं, जैसे मद्रास सरकार का हस्तलिपियों वाला ग्रंथालय; ट्रिवेंड्रम की पैलेस लायब्रेरी, तथा क्यूरेटर्स ऑफिस लायब्रेरी, ट्रिवेंड्रम। इन दोनों ग्रंथों में आर्यभट के ज्योतिष का समावेश है और इनके रचयिता भास्कर नाम के एक ज्योतिषी थे, जो लीलावती के लेखक प्रसिद्ध भास्कराचार्य से भिन्न थे। इसलिए इनका नाम प्रथम भास्कर लिखना उपयुक्त होगा। लखनऊ विश्वविद्यालय के डाक्टर कृपाशंकर शुक्ल ने अपनी डाक्टर की डिगरी के लिए भास्कर प्रथम पर विशेष अनुसंधान किया है। उनके अनुसार भास्कर प्रथम ने एक तीसरा ग्रंथ भी लिखा है जो आर्यभटीय की टीका है, और जिसका नाम ग्रंथकार ने आर्यभटतंत्र-भाष्य रक्खा है। इस टीका में लेखक ने दिनांक भी डाल दिया है, जिसके अनुसार यह टीका सन ६२९ ई० में लिखी गयी थी। इस टीका की एक प्रति ट्रिवेंड्रम में है और एक इंडिया ऑफिस लायब्रेरी, लंडन, में। टीका बहुत विस्तृत और विशद है। भास्कराचार्य प्रथम आर्यभट प्रथम की शिष्य-परंपरा में थे और इनका जन्म-स्थान अश्मक में था, जो नर्मदा और गोदावरी के बीच में था। इनके दोनों प्रधान ग्रंथों (महाभास्करीय और लघुभास्करीय) का प्रयोग लगभग पंद्रहवीं शताब्दी ई० के अंत तक दक्षिण भारत में होता रहा। इनके दोनों ग्रंथों में गणना कलियुग के आरंभ से की गयी है।

[1] ब्रा० स्फु० सि०, ११।४८-५१।

कल्याण वर्मा

पं० सुधाकर द्विवेदी के अनुसार[1] इनका समय शक ५०० के लगभग है। इन्होंने 'सारावली' नामक जातक शास्त्र की रचना वराहमिहिर वृहज्जातक से बड़े आकार में की है और स्पष्ट लिखा है कि वराहमिहिर, यवन, और नरेन्द्र रचित होराशास्त्र के सार को लेकर सारावली नामक ग्रन्थ की रचना की गयी है। इसमें ४२ अध्याय हैं। इस पुस्तक की चर्चा भटोत्पल ने की है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित[2] के मत से इनका समय ८२१ शक के लगभग है।

ब्रह्मगुप्त

ब्रह्मगुप्त गणित-ज्योतिष के बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं। प्रसिद्ध भास्कराचार्य ने इनको गणकचक्रचूड़ामणि कहा है और इनके मूलांकों को[3] अपने सिद्धांत-शिरोमणि का आधार माना है। इनके ग्रंथों का अनुवाद अरबी भाषा में भी कराया गया था, जिन्हें अरबी में अस् सिन्ध हिन्द और अल् अर्कन्द कहते हैं। पहली पुस्तक ब्राह्मस्फुट सिद्धांत का अनुवाद है और दूसरी खण्डखाद्यक का। इनका जन्म शक ५१८ (६५३ वि०) में हुआ था और इन्होंने शक ५५० (६८५ वि०) में ब्राह्मस्फुट सिद्धांत की रचना[4] की थी। इन्होंने स्थान-स्थान पर लिखा है कि आर्यभट, श्रीषेण विष्णुचन्द्र आदि की गणना से ग्रहों का स्पष्ट स्थान शुद्ध नहीं आता, इसलिए वे त्याज्य हैं, और ब्राह्मस्फुट सिद्धांत में दृग्गणितैक्य[5] होता है; इसलिए वही मानना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत की रचना ग्रहों का प्रत्यक्ष वेध करके की थी और वे इस बात की आवश्यकता समझते थे कि जब कभी गणना और वेध में अन्तर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिए। यह पहले आचार्य थे जिन्होंने गणित ज्योतिष की रचना विशेष क्रम से की, और ज्योतिष और गणित के विषयों को अलग-अलग अध्यायों में बाँटा।

[1] गणक तरंगिणी, पृष्ठ १६।

[2] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ४८६; ।

[3] सिद्धांत-शिरोमणि, भगणाध्याय।

[4] संज्ञाध्याय, ७, ८।

[5] तंत्रभ्रंशे प्रतिदिनमेवं विज्ञाय धीमता यत्नः। कार्यस्तस्मिन् यस्मिन् दृग्गणितैक्यं सदा भवति ॥६०॥ तंत्रपरीक्षाध्याय।

ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत

ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के अध्यायों का ब्योरा नीचे दिया जाता है :

१—मध्यमाधिकार में ग्रहों की मध्यम गति की गणना है । २—स्पष्टाधिकार में स्पष्ट गति जानने की रीति बतायी गयी है । इसी अध्याय में ज्या निकालने की रीति भी बतायी गयी है, जिसमें त्रिज्या का मान ३२७० कला माना गया है; यद्यपि आर्यभट ने ३४३८ कला माना था और उसी को सूर्यसिद्धांत ने भी माना था और पीछे सिद्धांत-शिरोमणि आदि ग्रंथों में भी स्वीकार किया गया।

३—त्रिप्रश्नाधिकार में ज्योतिष के तीन मुख्य विषयों, (दिशा, देश और काल) के जानने की रीति है ।

४—चंद्रग्रहणाधिकार में चंद्रग्रहण की गणना करने की रीति है ।

५—सूर्यग्रहणाधिकार में सूर्यग्रहण की गणना करने की रीति है ।

६—उदयास्ताधिकार में बताया गया है कि चंद्रमा, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ये सूर्य के कितने पास आने पर अस्त हो जाते हैं, अर्थात अदृश्य हो जाते हैं, और कितनी दूर होने से उदय होते हैं, अर्थात दिखायी पड़ने लगते हैं ।

७—चंद्रशृङ्गोन्नत्यधिकार में बताया गया है कि शुक्लपक्ष की दूइज के दिन जब चंद्रमा सन्ध्या में पहले-पहल दिखायी पड़ता है तब उसकी कौन-सी नोक उठी रहती है ।

८—चंद्रच्छायाधिकार में उदय और अस्त होते हुए चंद्रमा के वेध से छाया आदि का ज्ञान करने की रीति है । अन्य ग्रंथों में इसके लिए कोई अलग अध्याय नहीं है ।

९—ग्रहयुत्यधिकार में बताया गया है कि ग्रह एक दूसरे के पास कब आ जाते हैं और इनकी युति की गणना कैसे की जाती है ।

१०—भग्रहयुत्यधिकार में बताया गया है कि नक्षत्रों या तारों के साथ ग्रहों की युति कब होती है और इसकी गणना कैसे की जाती है । इसी अध्याय में नक्षत्रों के ध्रुवीय भोगांश और शर[1] भी दिये गये हैं और नक्षत्रों की पूरी सूची है । ज्योतिष गणित संबंधी ये दस अध्याय मुख्य हैं ।

११—तंत्रपरीक्षाध्याय में ब्रह्मगुप्त ने पहले के आर्यभट, श्रीषेण, विष्णुचंद्र, आदि, की पुस्तकों का खण्डन बड़े कड़े शब्दों में किया है, जो एक प्रकार से ज्योतिषियों

[1] अर्थात ध्रुवक और विक्षेप; पृष्ठ १५० देखें ।

की परिपाटी-सी है, परंतु इससे यह बात सिद्ध होती है कि उस प्राचीन काल में भी ज्योतिषी वेध-सिद्ध शुद्ध गणना के पक्ष में थे। वे पुरानी लकीर के फकीर नहीं रहना चाहते थे।

१२—गणिताध्याय शुद्ध गणित के संबंध में है। इसमें जोड़ना, घटाना, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्नों का जोड़ना, घटाना आदि, त्रैराशिक, व्यस्त-त्रैराशिक, भाण्ड प्रति भाण्ड (बदले के प्रश्न), मिश्रक व्यवहार, आदि, अंक-गणित या पाटीगणित के विषय हैं। श्रेढी व्यवहार (समांतर श्रेढी), क्षेत्र व्यवहार (त्रिभुज, चतुर्भुज आदि के क्षेत्रफल जानने की रीति), वृत्त-क्षेत्र गणित, खात व्यवहार (खाई आदि का घनफल जानने की रीति), चिति व्यवहार (ढालू खाई का घनफल जानने की रीति), क्राकचिक व्यवहार (आरा चलाने वाले के काम का गणित), राशि व्यवहार (अन्न के ढेर का परिमाण जानने की रीति), छाया व्यवहार (दीप स्तंभ और उसकी छाया के संबंध के अनेक प्रश्न करने की रीति) आदि, २८ प्रकार के कर्म इसी अध्याय के अंतर्गत हैं। इसके आगे प्रश्नोत्तर के रूप में पीछे के अध्यायों में बतायी हुई बातों का अभ्यास करने के लिए कई अध्याय हैं।

१३—मध्यगति उत्तराध्याय में ग्रहों की मध्यगति संबंधी प्रश्न और उत्तर हैं।

१४—स्फुटगति उत्तराध्याय में ग्रहों की स्पष्टगति संबंधी प्रश्न और उत्तर हैं।

१५—त्रिप्रश्नोत्तराध्याय में त्रिप्रश्नाध्याय संबंधी प्रश्नोत्तर हैं।

१६—ग्रहणोत्तराध्याय में सूर्य-चंद्रमा के ग्रहण संबंधी प्रश्नोत्तर हैं।

१७—श्रृङ्गोन्नत्युत्तराध्याय में चन्द्रमा की श्रृङ्गोन्नति संबंधी प्रश्नोत्तर हैं।

१८—कुट्टकाध्याय में कुट्टक की विधि से प्रश्नों का उत्तर जानने की रीति है। इस अध्याय में ब्रह्मगुप्त ने प्रत्येक प्रकार के कुट्टक की रीति बतायी है और दिखाया है कि इससे ग्रहों के भगण आदि के काल कैसे जाने जा सकते हैं। इस अध्याय का अँग्रेज़ी अनुवाद कोलब्रुक ने किया है। इस अध्याय के अंतर्गत कई खंड हैं। एक खंड में धन, ऋण और शून्य का जोड़, बाकी, गुणा, भाग, करणी[1] का जोड़, बाकी, गुणा, भाग, आदि करने की रीति है। दूसरे खंड में एकवर्ण समीकरण, वर्ग समीकरण, अनेक वर्ण समीकरण, आदि, बीजगणित के प्रश्न हैं। तीसरा खंड बीजगणित संबंधी भावित बीज नामक है। चौथा खंड वर्गप्रकृति नामक है। पाँचवें खंड में अनेक उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार यह अध्याय १०३ श्लोकों में पूर्ण होता है।

[1] $\sqrt{२}$, $\sqrt{१५}$, ..., **अर्थात ऐसी राशियाँ जिनमें वर्गमूल, धनमूल, आदि निकालना पड़े, करणी अथवा करणीगत संख्याएँ कहलाती हैं।**

१९—शंकुच्छायादि ज्ञानाध्याय में छाया से समय या किसी वस्तु की ऊँचाई आदि जानने की रीति बतायी गयी है। यह त्रिकोणमिति से संबंध रखता है।

२०—छंदश्चित्युत्तराध्याय में १९ श्लोक हैं जिनका अर्थ इतना दुरूह है कि समझ में नहीं आता।

२१—गोलाध्याय में भूगोल और खगोल संबंधी कुछ गणना है। इसमें भी कई खंड हैं—ज्या प्रकरण, स्फुटगतिवासना, ग्रहणवासना, गोलबन्धाधिकार। इनमें भूगोल तथा खगोल संबंधी परिभाषाएँ और ग्रहों के बिम्बों के व्यास आदि जानने की रीति है।

२२—यंत्राध्याय में ५७ श्लोक हैं; इनमें अनेक प्रकार के यंत्रों का वर्णन किया गया है जिनसे समय का ज्ञान होता है और ग्रहों के उन्नतांश, नतांश आदि जाने जाते हैं। स्वयं वह यंत्र की भी चर्चा है जो पारे की सहायता से अपने-आप चलता कहा गया है।

२३—मानाध्याय नामक छोटे से अध्याय में सौर, चांद्र, सावन आदि नव मानों की चर्चा है।

२४—संज्ञाध्याय में कई महत्त्व की बातें बतायी गयी हैं। पहले बताया गया है कि सूर्य, सोम, पुलिश, रोमक, वासिष्ठ और यवन सिद्धांतों में एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। यदि कुछ भेद है तो वैसे ही जैसे सूर्य की संक्रांति स्थान भेद के कारण भिन्न-भिन्न कालों में कही जाती है। इससे पता चलता है कि ब्रह्मगुप्त के समय उपर्युक्त सिद्धांत प्रचलित हो गये थे और सब में प्रायः एक ही-सी बात थी। फिर, ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के २४ अध्यायों की सूची दी गयी है। इसके बाद बताया गया है कि चापवंश-तिलक व्याघ्रमुख नामक राजा के समय में ५५० शक में विष्णुसुत ब्रह्मगुप्त ने ३२ वर्ष की अवस्था में गणितज्ञों और गोलज्ञों की प्रसन्नता के लिए यह ग्रंथ रचा। एक श्लोक में बताया है कि ७२ आर्या छन्दों का ध्यान-ग्रहोपदेशाध्याय ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत में, जिसके २४ अध्यायों में कुल १००८ आर्या छन्द हैं, नहीं जोड़ा गया है। यह भी याद रखना चाहिए कि प्रत्येक अध्याय के अंत में यह बताया गया है कि उसमें कितने छन्द हैं।

ध्यानग्रहोपदेशाध्याय में तिथि, नक्षत्र, आदि, की गणना करने की सरल रीति बतायी गयी है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिष संबंधी बातों के सिवा बीजगणित, अंकगणित, क्षेत्रमिति, आदि, पर भी पर्याप्त ऊँची बातें आज से १३०० वर्ष पहले लिखी थीं और यह उसी गणना को ठीक मानते थे जो वेध से भी ठीक उतरती थी।

खण्डखाद्यक

शक ५८७ में जब ब्रह्मगुप्त ६९ वर्ष के हो गये थे तब खण्डखाद्यक नामक करण ग्रंथ भी उन्होंने रचा था जिससे तिथि, नक्षत्र और ग्रहों की गणना सुगम रीति से की जा सके। आश्चर्य की बात तो यह है कि ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत में जिस आर्यभट की निन्दा अनेक स्थानों में की गयी थी उसी के अनुसार इस खण्डखाद्यक[1] की रचना की गयी है। इससे प्रकट होता है कि वृद्धावस्था में इनको भी आर्यभट का महत्त्व समझ पड़ा। परंतु इस ग्रंथ में भी ब्रह्मगुप्त ने नवीन बातें बतायी हैं और कुछ संशोधन भी किये हैं। इस ग्रंथ में कुल १० अध्याय हैं जिनमें तिथि, नक्षत्रादि की गणना, पंच ताराग्रहों की मध्य और स्पष्ट गणना, त्रिप्रश्नाधिकार, चंद्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, उदयास्ताधिकार, चंद्रश्रृङ्गोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्यधिकार नामक आठ अध्याय पूर्व खण्डखाद्यक में हैं। उत्तर खण्डखाद्यक में दो अध्याय हैं, जिसके पहले अध्याय में ब्रह्मगुप्त ने अपने संशोधनों की चर्चा की है और नयी बातें बतायी हैं और दूसरे अध्याय में ताराग्रहों और नक्षत्रों की युति के संबंध में विचार किया है और नक्षत्रों के योग-तारों का ध्रुवक और विक्षेप बताया है।

इन सब बातों का विचार करने से सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त एक महान आचार्य थे। इन्होंने जो पद्धति चलायी उसी का अनुसरण पीछे के प्रायः सभी आचार्यों ने किया। इनके दोनों ग्रंथों की कई टीकाएँ केवल संस्कृत में ही नहीं निकलीं, वरन् अरबी में भी बनीं, जिससे इनका नाम अरब और तुर्किस्तान में भी फैल गया था।

लल्ल

लल्ल के समय के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी गणक-तरंगिणी में इनका समय ४२१ शक लिखते हैं, क्योंकि आर्यभटीय के अनुसार आये हुए ग्रहों में बीज-संस्कार देने के लिए ४२० शक घटाकर[2]

[1] वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यफलम् ।।१।।
प्रायेणार्यभटेन व्यवहारः प्रतिदिनं यतोऽशक्यः ।
उद्वाहजातकादिषु तत्समफलं लघुतरोक्तिरतः ।।२।।
प्रथम अध्याय

[2] शाके नखाब्धिरहिते...ऽभ्रशराक्षिभक्ते ।। शिष्यधीवृद्धिद, अध्याय १, ५९-६०, अध्याय १३, १८-१९ ।

ग्रह स्पष्ट करने के लिए इन्होंने कहा है । परन्तु इसी श्लोक में बताये गये नियम के अनुसार प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त अपनी खण्डखाद्यक की टीका की भूमिका[1] में बताते हैं कि लल्ल का समय इससे २५० वर्ष पश्चात शक ६७० है, क्योंकि २५० से भाग देने की बात से प्रकट होता है कि यह बीज-संस्कार लल्ल ने ४२० शक से २५० वर्ष पीछे निश्चित किए थे । यह बात सेनगुप्त जी ने दूसरी तरह से भी सिद्ध की है । वे कहते हैं कि लल्ल ने नक्षत्रों के योगतारों के जो ध्रुवक दिये हैं वे ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के ६ तारों के ध्रुवक से लगभग २ अंश अधिक हैं और दो तारों के ध्रुवक से लगभग १° १०′ अधिक हैं; इसलिए इनका समय ब्रह्मगुप्त के समय से कम से कम ८५ वर्ष और अधिक से अधिक १४० वर्ष पश्चात होता है : ब्रह्मगुप्त के पश्चात लल्ल के होने की बात श्री बबुआ मिश्र की संपादित खण्डखाद्यक की टीका से भी सिद्ध होती है। सुधाकर द्विवेदी का मत तो इस बात से भी ठीक नहीं समझ पड़ता कि यदि लल्ल इतने पुराने होते तो ब्रह्मगुप्त, जिन्होंने आर्यभट, श्रीषेग, आदि अपने पहले के ग्रंथकारों की चर्चा कई जगह की है, इनकी चर्चा भी अवश्य करते । शंकर बालकृष्ण दीक्षित इनका समय ५६० शक के लगभग बताते हैं जिससे यह ब्रह्मगुप्त के समकालीन सिद्ध होते हैं । परंतु यह बात भी ठीक नहीं समझ पड़ती, क्योंकि तब बीज-संस्कार के लिए २५० से भाग देने की बात समझ में नहीं आती । प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त का ही अनुमान ठीक समझ पड़ता है ।

शिष्यधीवृद्धिद तंत्र

शिष्यधीवृद्धिद तंत्र लल्ल का बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसे आर्यभटीय के आधार पर लिखा गया है और बीज-संस्कार देकर उसे शुद्ध करने की बात भी लिखी गयी है । इस ग्रन्थ के रचने का कारण[2] यह बताया जाता है कि आर्यभट या इनके शिष्यों के लिखे ग्रंथों से विद्यार्थियों के समझने में सुविधा नहीं होती थी, इसलिए विस्तार के साथ उदाहरण देकर (कर्मक्रम से) यह ग्रंथ लिखा गया है । इसमें अंकगणित या

[1] पृष्ठ २७।

[2] विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीतं ।
तंत्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः ॥
कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तैः ।
कर्म ब्रवीम्यहमतः क्रमशस्तदुक्तं ॥२॥

मध्यमाधिकार

बीजगणित संबंधी अध्याय नहीं है, केवल ज्योतिष संबंधी अध्याय विस्तार के साथ दिये गये हैं और कुल श्लोकों की संख्या १००० है। इस ग्रंथ के गणिताध्याय में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चंद्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, पर्वसम्भवाधिकार, ग्रहोदयास्ताधिकार, चंद्रछायाधिकार, चंद्रश्रृङ्गोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, महापाताधिकार और उत्तराधिकार नामक १३ अध्याय हैं। गोलाध्याय में छेद्यकाधिकार, गोलबन्धाधिकार, मध्यगतिवासना, भूगोलाध्याय, ग्रहभ्रम-संस्थाध्याय, भुवनकोश, मिथ्याज्ञानाध्याय, यंत्राध्याय और प्रश्नाध्याय हैं। इन अध्यायों के नाम से भी प्रकट होता है कि यह पुस्तक ब्राह्मस्फुट सिद्धांत के पश्चात लिखी गयी है और ज्योतिष संबंधी जिन बातों की कमी ब्राह्मस्फुट सिद्धांत में थी, वह यहाँ पूरी की गयी है। शुद्ध गणित, अंकगणित या बीजगणित संबंधी कोई अध्याय इसमें नहीं हैं, जिससे प्रकट होता है कि ब्रह्मगुप्त के बाद, जब ज्योतिष और गणित संबंधी विकास बहुत बढ़ गया तब, इन दोनों शाखाओं को अलग-अलग विस्तार के साथ लिखने की परिपाटी चली; किसी ने शुद्ध गणित पर विस्तार के साथ लिखना आरंभ किया, जैसे श्रीधर और महावीर ने, और किसी ने केवल ज्योतिष पर, जैसे लल्ल, पृथूदक स्वामी, भटोत्पल, आदि। यह आश्चर्य-जनक है कि आर्यभट के सिवा किसी अन्य प्राचीन आचार्य का नाम शिष्यधीवृद्धिद में नहीं आया है।

रत्नकोष

शंकर बालकृष्ण दीक्षित[1] लिखते हैं कि रत्नकोष नाम का एक मुहूर्त ग्रंथ लल्ल का रचा हुआ है। इसका अनुमान पं० सुधाकर द्विवेदी अपनी गणक-तरंगिणी में भी करते हैं, क्योंकि मुहूर्त चिंतामणि की पीयूषधारा टीका में लल्ल के मत की चर्चा है, परंतु यह पुस्तक सुधाकर द्विवेदी के देखने में नहीं आयी थी, न आधुनिक समय में और कहीं किसी के देखने में आयी है।

पाटीगणित (अंकगणित) और बीजगणित की कोई पुस्तक भी लल्ल की बनायी हुई थी, ऐसा सुधाकर द्विवेदी अनुमान करते हैं, परंतु यह पुस्तक भी अब उपलब्ध नहीं है। सब बातों का विचार करने से प्रकट होता है कि लल्ल एक विद्वान ज्योतिषी थे और आकाश के निरीक्षण के द्वारा ग्रहों को स्पष्ट करने की आवश्यकता समझते थे।

[1] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ २१७।

पद्मनाभ

पद्मनाभ बीजगणित के आचार्य थे जिनके ग्रंथ का उल्लेख भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में किया है, परंतु इनके समय का पता किसी ने नहीं दिया है। डा० दत्त और सिंह[१] लिखते हैं कि इनका बीजगणित कहीं नहीं मिलता। शंकर बालकृष्ण दीक्षित[२] लिखते है कि कोलब्रुक के मतानुसार इनका काल श्रीधर से पहले का है, इसलिए ७०० शक के लगभग ठहरता है।

सुधाकर द्विवेदी गणक-तरंगिणी में व्यवहारप्रदीप नामक ज्योतिष ग्रंथ के कर्ता पद्मनाभ मिश्र का वर्णन करते हैं, परंतु वे इनसे भिन्न हैं। सुधाकर द्विवेदी ने निश्चयपूर्वक नहीं कहा है कि दोनों एक ही हैं या भिन्न।

श्रीधर

श्रीधर भी बीजगणित के आचार्य थे, जिनका उल्लेख भास्कराचार्य ने बीजगणित में कई जगह किया है। डाक्टर दत्त और सिंह के मत से इनका समय ७५० ई० के लगभग है, जो ६७२ शक के लगभग ठहरता है। इनकी पुस्तक का नाम त्रिशतिका है जिसकी एक प्रति गणक-तरंगिणी[३] के अनुसार काशी के राजकीय पुस्तकालय में और एक प्रति पं० सुधाकर द्विवेदी के मित्र राजाजी ज्योतिर्विद के पास थी। इसमें ३०० श्लोक हैं, जिसके एक श्लोक से विदित होता है कि यह श्रीधर के किसी बड़े ग्रंथ का सार है। यह प्रधानतः पाटीगणित की पुस्तक है जिसमें श्रेढी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, खात व्यवहार, चिति व्यवहार, राशि व्यवहार, छाया, व्यवहार आदि पर विचार किया गया हैं। सुधाकर द्विवेदी का मत है कि न्याय-कन्दली नामक ग्रंथ के रचयिता भी यही श्रीधर हैं। उस ग्रंथ की रचना ९१३ शक में की गयी थी; इसलिए श्रीधर का समय भी यही है। परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस मत का समर्थन न तो दीक्षित करते हैं और न डा० दत्त और सिंह। दीक्षित[४] कहते हैं कि महावीर के गणितसारसंग्रह नामक ग्रंथ में श्रीधर के मिश्रकव्यवहार के कुछ वाक्य आये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि श्रीधर महावीर के पहले हुए हैं और महावीर का समय दीक्षित

[१] हिस्ट्री आव हिन्दू मैथिमैटिक्स, भाग २, पृ० १२ की पाद टिप्पणी।
[२] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ २२९।
[३] गणक-तरंगिणी, पृष्ठ २२।
[४] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ २३०।

के मत[1] से ७७५ शक तथा डा० दत्त और सिंह के मत[2] से ८५० ई० या ७७२ शक होता है।

महावीर

महावीर बीजगणित और पाटीगणित के प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं, जिनके ग्रंथ गणितसारसंग्रह के अनेक अवतरण डा० दत्त और सिंह ने अपने हिंदूगणित के इतिहास में दिये हैं। इनका समय ८५० ई० अथवा ७७२ शक कहा जाता है। यह जैनधर्मी थे और जैनधर्मी राजा अमोघवर्ष के आश्रय में रहते थे। राष्ट्रकूट वंश के राजा अमोघवर्ष ७७५ शक के लगभग थे; इसलिए यही इनका समय समझना चाहिए। दीक्षित के अनुसार गणितसारसंग्रह भास्कराचार्य की लीलावती के सदृश है, परंतु विस्तार में उससे बड़ा है। गणक-तरंगिणी में इनकी कहीं चर्चा नहीं है।

आर्यभट द्वितीय

आर्यभट द्वितीय गणित और ज्योतिष दोनों विषयों के अच्छे आचार्य थे। उनका बनाया हुआ महासिद्धांत ग्रंथ ज्यौतिष सिद्धांत का अच्छा ग्रंथ है। इन्होंने भी अपना समय कहीं नहीं लिखा है। डा० दत्त और सिंह का मत[3] है कि ये ९५० ई० के लगभग थे, जो शककाल ८७२ होता है। दीक्षित भी इनका समय लगभग ८७५ शक बताते हैं; इसलिए यही समय ठीक समझना चाहिए। गणक-तरंगिणी में इनकी चर्चा तक नहीं है, यद्यपि सुधाकर द्विवेदी ने इनके महासिद्धांत का स्वयं सम्पादन किया है। सुधाकर द्विवेदी इसकी भूमिका में केवल इतना लिखते हैं कि भास्कराचार्य ने दृक्काणोदय के लिए जिस आर्यभट की चर्चा की है वह आर्यभट प्रथम नहीं हो सकते, क्योंकि उनके ग्रंथ आर्यभटीय में दृक्काणोदय की गणना नहीं है, परंतु महासिद्धांत में है; इसलिए महासिद्धांत के रचयिता आर्यभट दूसरे हैं जो भास्कराचार्य से पहले के हैं। यही बात दीक्षित भी लिखते हैं। परंतु यह ब्रह्मगुप्त के पीछे हुए हैं, क्योंकि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन बातों का खण्डन किया है वे आर्यभटीय से मिलती हैं, महासिद्धांत से नहीं। महासिद्धांत से तो प्रकट होता है कि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन-जिन बातों का खण्डन किया है वे इसमें सुधार दी गयी

[1] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ २३०।

[2] हिस्ट्री आव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग २, पृष्ठ २०।

[3] हिस्ट्री आव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग २, पृष्ठ ८९।

हैं। कुट्टक की विधि में भी आर्यभट प्रथम, भास्कर प्रथम तथा ब्रह्मगुप्त की विधियों से कुछ उन्नति दिखायी पड़ती है; इसलिए इसमें संदेह नहीं है कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के बाद हुए हैं।

ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने अयन-चलन के संबंध में कोई चर्चा नहीं की है, परंतु आर्यभट द्वितीय ने इस पर बहुत विचार किया है। मध्यमाध्याय के श्लोक ११-१२ में इन्होंने अयनविन्दु को ग्रह मानकर इसके कल्पभगण की संख्या ५७८१५९ लिखी है, जिससे अयनविन्दु की वार्षिक गति १७३ विकला होती है, जो बहुत ही अशुद्ध है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट अयनांश जानने के लिए जो रीति बतायी गयी है उससे प्रकट होता है कि इसके अनुसार अयनांश २४ अंश से अधिक नहीं हो सकता और अयन की वार्षिक गति भी सदा एक-सी नहीं रहती; कभी घटते-घटते शून्य हो जाती है और कभी बढ़ते-बढ़ते १७३ विकला हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट द्वितीय का समय वह था जब अयनगति के संबंध में हमारे सिद्धांतों में कोई निश्चय नहीं हुआ था। मुंजाल के लघुमानस में अयन-चलन के संबंध में स्पष्ट उल्लेख है, जिसके अनुसार एक कल्प में अयनभगण १९९६६९ होता है, जो वर्ष में ५९·९ विकला होता है। मुंजाल का समय ८५४ शक है; इसलिए आर्यभट द्वितीय का समय इससे भी कुछ पहले होना चाहिए। महावीर प्रसाद श्रीवास्तव के मत से इनका समय ८०० शक के लगभग होना चाहिए।

इन्होंने लिखा है[1] कि इनका सिद्धांत और पराशर का सिद्धांत दोनों एक साथ कलियुग के आरम्भ से कुछ वर्षों के बाद लिखे गये थे और इनकी ग्रह-गणना ऐसी है कि वेध से भी शुद्ध उतरती है। परंतु यह कोरी कल्पना है, क्योंकि वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, लल्ल आदि किसी आचार्य ने इनकी पुस्तक की कोई चर्चा नहीं की है। इन्होंने सप्तर्षि की चाल के संबंध में भी वैसा ही लिखा है जैसा वराहमिहिर लिखते हैं, जिससे जान पड़ता है कि सप्तर्षि १०० वर्ष में एक नक्षत्र चलते हैं। परंतु यह भी कोरी कल्पना है। सप्तर्षि में ऐसी कोई गति नहीं है।

संख्या लिखने की नवीन पद्धति

इनकी पुस्तक में संख्या लिखने के लिए एक नवीन पद्धति बतायी गयी है, जो आर्यभट प्रथम की पद्धति से भिन्न है। इसे 'कटपयादि' पद्धति कहते हैं, क्योंकि

[1] एतत्सिद्धान्तद्वयमीषद्याते कलौयुगे जातम्।
स्वस्थानेदृक्तल्या अनेन खेटाः स्फुटाः कार्याः ॥२॥
पराशरमताध्याय

१ के लिए **क, ट, प, य** अक्षर प्रयुक्त होते हैं, २ के लिए **ख, ठ, फ, र,** आदि। शून्य के लिए केवल **ञ** और **न** प्रयुक्त होते हैं।[1] संख्या लिखने के लिए अक्षरों को बायें से क्रमानुसार लिखते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अंकों से संख्याएँ लिखी जाती हैं। स्वर या उसकी मात्राओं का इस पद्धति में कोई मूल्य नहीं है। मात्राओं के जोड़ने से भी अक्षरों का वही अर्थ होता है जो बिना मात्रा के। वे केवल उच्चारण की सुविधा के लिए जोड़ दी जाती हैं। इस प्रकार **क, का, कि, कू** आदि से १ अंक का ही बोध होता है। यह रीति आर्यभट प्रथम की रीति से सुगम है, क्योंकि याद रखने का काम बहुत कम है। संक्षेप में यह रीति नीचे दी जाती है :

क, ट, प, य	=	१
ख, ठ, फ, र	=	२
ग, ड, ब, ल	=	३
घ, ढ, भ, व	=	४
ङ, ण, म, श	=	५
च, त, ष	=	६
छ, थ, स	=	७
ज, द, ह	=	८
झ, ध	=	९
ञ, न	=	०

इस पद्धति के अनुसार आर्यभट प्रथम के उदाहरण में दिये गये एक कल्प में सूर्य और चंद्रमा के भगण इस प्रकार लिखे जायँगे :

१ कल्प में सूर्य के भगण = घडफेननेननुनीना
= ४३२००००००००,

और १ कल्प में चंद्रमा के भगण = मथथमगग्लभननुना
= ५७७५३३३४०००।

इस प्रकार यह प्रकट होता है कि यह पद्धति लिखने और याद रखने के लिए सुगम है।

[1] रूपात् कटपयपूर्वा वर्णा वर्णक्रमाद्भवन्त्यङकाः।
ञनौ शून्यं प्रथमाथ आ छेदे ऐ तृतीयार्थे ॥२॥

मध्यमाध्याय

महासिद्धांत

इस ग्रन्थ में १८ अधिकार हैं और लगभग ६२५ आर्या छन्द हैं। पहले १३ अध्यायों के नाम वे ही हैं जो सूर्यसिद्धांत या ब्राह्मस्फुट सिद्धांत के ज्योतिष संबंधी अध्यायों के हैं, केवल दूसरे अध्याय का नाम है पराशरमताध्याय। १४वें अध्याय का नाम गोलाध्याय है, जिसमें ११ श्लोकों में तक पाटीगणित या अंकगणित के प्रश्न हैं। इसके आगे के तीन श्लोकों में भूगोल के प्रश्न हैं और शेष ४३ श्लोकों में अहर्गण और ग्रहों की मध्यम गति के संबंध में प्रश्न हैं। १५वें अध्याय में १२० आर्या छंद हैं जिनमें पाटीगणित, क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय हैं। १६वें अध्याय का नाम भुवनकोश-प्रश्नोत्तर है जिसमें खगोल, स्वर्गादि लोक, भूगोल आदि का वर्णन है। १७वाँ प्रश्नोत्तराध्याय है जिसमें ग्रहों की मध्यगति संबंधी प्रश्न हैं। १८वें अध्याय का नाम कुट्टकाध्याय है जिसमें कुट्टक संबंधी प्रश्नों पर ब्राह्मस्फुट सिद्धांत की अपेक्षा कहीं अधिक विचार किया गया है। इससे भी प्रकट होता है कि आर्य-भट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पश्चात हुए हैं।

मुंजाल या मंजुल

मुंजाल का समय पं० सुधाकर द्विवेदी ने गणक-तरंगिणी, पृष्ठ १९,२०, में कोल-ब्रुक के मतानुसार भ्रमवश ५८४ शक लिख दिया है जो होना चाहिए ८५४, क्योंकि इन्होंने अपने लघुमानस नामक ग्रंथ में ग्रहों का ध्रुवकाल ८५४ शक बताया है, जिसको द्विवेदी जी भी उद्धृत करते हैं, 'कृतेष्विभमिते, शाके ८५४ मध्याह्ने रविवासरे चैत्रादौ ध्रुवकान् वक्ष्ये रविचन्द्रेन्दुतुङ्गजान्।' इस समय की सच्चाई इनके अयन-चलन संबंधी बातों से भी सिद्ध होती है। भास्कराचार्य द्वितीय ने[1] मुंजाल की बतायी अयन गति लिखी है। मुनीश्वर ने अपनी मरीचि नामक टीका में मुंजाल के वचन[2] उद्धृत किये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मुंजाल के अनुसार एक कल्प में अयन के १९९६६९ भगण होते हैं; इससे अयन की वार्षिक गति १ कला के लगभग आती है, जो प्रायः ठीक है। अलबीरूनी के अनुसार इस पुस्तक में यह भी लिखा था कि उस समय अयनांश ६° ५०′ था। इसलिए यह निश्चित है कि मुंजाल का समय ८५४ शक या ९३२ ई० है।

[1] गोलबन्धाधिकार, १८।
[2] तद्भगणाः कल्पे स्युर्गोरसरसगोंकचन्द्र १९९६६९ मितः ॥ भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ३१३।

मुंजाल एक अच्छे ज्योतिषी थे इसमें कोई सन्देह नहीं। तारों का निरीक्षण कर के नयी बातें निकालने का श्रेय इनको मिलना चाहिए। इनके पहले अयन-गति के संबंध में किसी पौरुष सिद्धांन्त-ग्रंथ में कोई चर्चा नहीं है। दूसरी महत्त्व की बात इनकी चंद्र सम्बन्धी है। इनके पहले किसी भारतीय ज्योतिषी ने नहीं लिखा था कि चंद्रमा में मन्दफल संस्कार के सिवा और कोई संस्कार भी करना चाहिए। परंतु इन्होंने यह स्पष्ट लिखा है; इसकी चर्चा सुधाकर द्विवेदी[1] ने भी की है।

लघुमानस मुंजाल का लिखा ग्रंथ है, जिसमें ज्योतिष संबंधी आठ अधिकार हैं। यह वृहन्मानस नामक ग्रंथ का संक्षिप्त रूप है, जैसा अलबीरूनी लिखते हैं। वृहन्मानस के कर्त्ता कोई मनु हैं; इस ग्रंथ की टीका उत्पल ने लिखी है; इसलिए इसका समय ८०० शक के लगभग है।

उत्पल

उत्पल या भटोत्पल ज्योतिष ग्रंथों के बड़े भारी टीकाकार थे। बृहज्जातक की टीका में इन्होंने लिखा है कि ८८८ शक (९६६ ई०) के चैत्र शुक्ल ५ गुरुवार को इसकी टीका लिखी गयी, और वृहत्संहिता की टीका में लिखा गया है कि ८८८ शक की फाल्गुन कृष्ण द्वितीया गुरुवार को यह विवृति लिखी गयी। दीक्षित ने[2] इस पर शंका प्रकट की है कि ये संवत गत नहीं है वर्तमान हैं, परंतु उनकी यह शंका निर्मूल जान पड़ती है। ये दोनों गत शक संवत हैं। दूसरी तिथि अमान्त फाल्गुन मास की है जिसे उत्तर प्रांत की परिपाटी के अनुसार चैत्र कृष्ण कहा जा सकता है। खण्डखाद्यक की टीका इससे भी पहले लिखी गयी थी[3] क्योंकि वृहत्संहिता की टीका में इसकी चर्चा है। लघुजातक पर भी इनकी टीका है।

वृहत्संहिता की टीका से पता चलता है कि इन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया था। वराहमिहिर ने जिन-जिन प्राचीन ग्रंथों के आधार पर वृहत्संहिता की रचना की थी उन सब ग्रंथों के अवतरण देकर इन्होंने अपनी टीका की रचना

[1] चन्द्रोच्चरव्यन्तरेण रविचन्द्रान्तरेण च स्पष्टचन्द्रे तदीयगतौ चान्यः संस्कारश्च पूर्वाचार्यप्रणीतसंस्कारतो विलक्षणः प्रतिपादितः। ....अयं संस्कारश्च इवेक्शन् वेरिएशन् नामकसंस्कारवत् प्रतिभाति। [गणकतरंगिणी, पृ० २]

[2] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २३४।

[3] वही, पृष्ठ २३४।

की है[1]। इससे यह भी पता चलता है कि वराहमिहिर के पहले संहिता पर ८, १० आचार्यों ने ग्रंथ लिखे थे। इस टीका में सूर्य-सिद्धांत के जो वचन उद्धृत किये गये हैं वे इस समय के सूर्यसिद्धांत में नहीं मिलते। वराहमिहिर के पुत्र की लिखी षट्पंचाशिका की भी इन्होंने टीका लिखी है, जिसमें शुभाशुभ प्रश्न पर विचार किया गया है।

पृथूदक स्वामी

पृथूदक स्वामी ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत पर एक टीका लिखी है। भास्कराचार्य द्वितीय ने अपने ग्रंथों में इनकी चर्चा कई स्थानों पर की है। दीक्षित के मत से यह भटोत्पल के समकालीन हैं। परन्तु बबुआ मिश्र की सम्पादित खण्डखाद्यक की आमराज की टीका में लिखा है[2] कि शक ८०० में इन्होंने अयनांश ६½ अंश देखा था। इस प्रकार इनका समय मुंजाल से भी पहले का सिद्ध होता है। परंतु भास्कराचार्य आदि ने इसका उल्लेख कहीं नहीं किया है। इन्होंने खण्डखाद्यक की टीका भी की है, जिसकी चर्चा प्रबोधचंद्र सेनगुप्त अपनी टीका में करते हैं।[3]

श्रीपति

श्रीपति ज्योतिष की तीनों शाखाओं के अद्वितीय पंडित थे। इनके लिखे ग्रंथ हैं: सिद्धांतशेखर, धीकोटिकरण, रत्नमाला (मुहूर्त ग्रंथ), और जातक-पद्धति (जातक ग्रन्थ)। धीकोटिकरण में गणित का जो उदाहरण दिया गया है उसमें ९६१ शक[4] की चर्चा है; इसलिए श्रीपति का समय इसी के लगभग सन १०३९ ई० हो सकता है। प्रबोधचंद्र सेनगुप्त[5] के अनुसार श्रीपति के पहले किसी भारतीय ज्योतिषी ने काल-समीकरण के उस भाग का पता नहीं लगा पाया था जो रविमार्ग की तिर्यवता के कारण उत्पन्न होता है।

[1] वही, पृष्ठ २३५।

[2] चतुर्वेदपृथूदकस्वामिना त्वेतदसद्दूषणमित्यभिहितम्। यतस्तेन खखाष्टसंख्यशाके सार्द्धाः षट्द्रष्टा इति। कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित और बबुआ मिश्र की सम्पादित खण्डखाद्यक की टीका, पृ० १०८।

[3] भूमिका, २३, ३४।

[4] चन्द्राङ्गनन्दोनशकोऽर्कनिघ्नश्चैत्रादिमासैर्युगधो द्विनिघ्नः, गणक-तरंगिणी, पृष्ठ ३०।

[5] खण्डखाद्यक की अँग्रेजी टीका, पृष्ठ ९३।

भोजराज

राजमृगाङ्क नामक करणग्रंथ के बनाने वाले राजा भोज कहे गये हैं। यह ग्रंथ ब्रह्मसिद्धांत के ग्रहों में बीज-संस्कार देकर बनाया गया है। इसका आरम्भ-काल शक ९६४ है[1] और इसी समय के ग्रहों का क्षेपक[2] दिया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसके रचने वाले स्वयं राजा भोज हैं अथवा उनका आश्रित कोई ज्योतिषी। इस पुस्तक का आदर चार-पाँच सौ वर्ष रहा। इसमें मध्यमाधिकार और स्पष्टाधिकार के केवल ६९ श्लोक हैं[3]। अयनांश जानने का नियम भी दिया गया है।

ब्रह्मदेव

ब्रह्मदेव का लिखा करणप्रकाश नामक एक करणग्रंथ है। इसका आरंभ १०१४ शक (१०९२ ई०) में किया गया था और इसका आधार आर्यभटीय है। ग्रहों की गणना के लिए आर्यभट के ध्रुवाङ्कों में लल्ल के बीज-संस्कार देकर काम लिया गया है। क्षेपक[2] चैत्र शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार शाके १०१४ का है। इसमें ९ अधिकार हैं, जिनमें ज्योतिष संबंधी सभी बातें आ गयी हैं। इस ग्रंथ में ४४५ शक को शून्य अयनांश का समय माना गया है और अयनांश की वार्षिक गति एक विकला मानी गयी है। यह ग्रन्थ आर्य पक्ष का है; इसलिए दक्षिण के माध्व संप्रदाय के वैष्णव इसी के अनुसार एकादशी व्रत का निश्चय करते आ रहे हैं[4]।

शतानन्द

भास्वतीकरण नामक करणग्रंथ वराहमिहिर के सूर्यसिद्धांत के आधार पर बनाया गया है। इसके लेखक शतानन्द हैं जिन्होंने ग्रंथ का आरंभ १०२१ शक (१०९९ ई०) में किया था। यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध था। मलिक मोहम्मद जायसी

[1] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २३८।

[2] किसी पुस्तक की ग्रहगणना के आरंभ काल में सूर्य, चंद्र, आदि ग्रहों की जो स्थिति होती है उसे क्षेपक कहते हैं। इसको आगे होने वाली ग्रह की गति में जोड़ देने से उस समय की ग्रह-स्थिति ज्ञात हो जाती है।

[3] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २३९।

[4] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २२४।

ने अपनी पद्मावत में इसकी चर्चा की है। इसकी कई टीकाएँ संस्कृत में हैं। इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं :

ग्रहों का क्षेपक शक १०२१ की स्पष्ट मेष संक्रान्ति काल (गुरुवार) का है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अहर्गण की गणना से ग्रहों को स्पष्ट करने की रीति नहीं है, वरन् ग्रहों की वार्षिक गति के अनुसार है, जिससे गणना करने में बड़ी सुविधा होती है, गुणा भाग नहीं करना पड़ता, केवल जोड़ने से काम चल जाता है। तीसरी विशेषता यह है कि इन्होंने शतांश पद्धति से काम लिया है, अर्थात राशि, अंश, कला, विकला, आदि लिखने की जगह राशि के सवें भागों में अथवा नक्षत्र के सवें भागों में ग्रह-स्थिति बतायी है। उदाहरणतः चन्द्रमा की एक वर्ष की गति $९९५\frac{५}{६}$ नक्षत्र (शतांशों में) बतायी गयी है, जिसका अर्थ है[1] :

$$\frac{९९५\frac{५}{६}}{१००} \text{ नक्षत्र} = \frac{९९५\frac{५}{६}}{१००} \times ८०० \text{ कला}$$

$$= ७९६६\frac{२}{३} \text{ कला}$$

$$= ४ \text{ राशि } १२ \text{ अंश } ४६ \text{ कला } ४० \text{ विकला}।$$

शनि का क्षेपक ५९४ शतांश राशि है, जिसका अर्थ दशमलव भिन्न में हुआ ५·९४ राशि। इस प्रकार प्रकट है कि शतानन्द ने दशमलव भिन्न का व्यावहरिक प्रयोग किया था। शायद शतांश पद्धति के पक्षपाती होने के कारण उन्होंने अपना नाम भी शतानन्द रक्खा था।

भास्वती में तिथिध्रुवाधिकार, ग्रहध्रुवाधिकार, स्फुट तिथ्यधिकार, ग्रहस्फुटाधिकार, त्रिप्रश्न, चंद्रग्रहण, सूर्य-ग्रहण, परिलेख नामक आठ अधिकार हैं। इसमें शक ४५० शून्य अयनांश का वर्ष माना गया है और अयनांश की वार्षिक गति १ कला मानी गयी है।

भास्वती की कई टीकाएँ हुई हैं। एक टीका हिंदी भाषा में संवत १४८५ वि० (शक १३५०, १४२८ ई०) में बनमाली पंडित ने की थी, जिसकी एक खंडित-प्रति काशी के सरस्वती भवन में है[2]।

इस समय के आस-पास और कई ज्योतिषी हो गये हैं जिन्होंने करणग्रंथों की रचना की है, परन्तु इनका नाम न गिनाकर अब हम प्रसिद्ध भास्कराचार्य का वर्णन करेंगे, जिनकी कीर्ति सात सौ वर्ष तक फैली रही और जिनकी बनायी पुस्तकें,

[1] **भारतीय ज्योतिष शास्त्र, पृ० २४४**

[2] **गणक-तरंगिणी, पृ० ३३**

सिद्धांतशिरोमणि और लीलावती, अब तक भारतीय ज्योतिष के विद्यार्थियों को पढ़नी पड़ती है। इसी नाम के एक ज्योतिषी आर्यभट प्रथम की शिष्य-परंपरा में भी थे; इस लिए इनका नाम भास्कराचार्य द्वितीय रक्खा जायगा।

भास्कराचार्य द्वितीय

भास्कराचार्य द्वितीय ने अपना जन्म-स्थान सह्याद्रि पर्वत के निकट विज्जडविड ग्राम लिखा है, परंतु पता नहीं इसका वर्तमान नाम क्या है। इन्होंने अपना जन्मकाल तथा ग्रन्थनिर्माण-काल स्पष्ट भाषा में लिखा है[1]। इनका जन्म शक १०३६ (१११४ ई०) में हुआ था और ३६ वर्ष की आयु में इन्होंने सिद्धांत-शिरोमणि की रचना की। करण-कुतूहल ग्रन्थ का आरम्भ ११०५ शक में हुआ था; इसलिए यही इसका रचनाकाल है, जो ११८३ ई० होता है। इससे प्रकट होता है कि करण-कुतूहल की रचना ६९ वर्ष की अवस्था में की गयी थी। इनके बनाये चार ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं: १—सिद्धांत-शिरोमणि, दो भागों में, जिनके नाम गणिताध्याय और गोलाध्याय हैं, २—लीलावती, ३—बीजगणित और ४—करण-कुतूहल। सिद्धांतशिरोमणि पर इन्होंने स्वयं वासना भाष्य टीका लिखी है, जो सिद्धांत-शिरोमणि का अंग समझी जाती है और साथ ही साथ छपती है।

लीलावती और बीजगणित भी यथार्थ में सिद्धांत-शिरोमणि के ही अंग माने गये हैं (और इनके अंत में यह लिख भी दिया गया है), क्योंकि सिद्धांत-ज्योतिष का पूरा ज्ञान तभी हो सकता है जब विद्यार्थियों को पाटीगणित का, जिसमें क्षेत्रफल, घनफल आदि विषयों का भी समावेश है, तथा बीजगणित का आवश्यक ज्ञान हो।

लीलावती

लीलावती नामक ग्रंथ में लीलावती नामक लड़की को संबोधन करके प्रश्नोत्तर के रूप में पाटीगणित, क्षेत्रमिति, आदि के प्रश्न बहुत रोचक ढंग से बताये गये हैं। इसमें वे सब विषय आ गये हैं जिनकी चर्चा ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के शुद्ध गणित भाग

[1] **रसगुणपूर्णमहीसमशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।**
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचितः ॥५८॥

गोलाध्याय का प्रश्नाध्याय

में की गयी है। अंत में गणितपाश (क्रमचय[1]) नामक एक अध्याय और है। इसकी भाषा बड़ी ललित है। इसकी संस्कृत और हिंदी टीकाएँ कई हैं, जो बम्बई और लखनऊ से प्रकाशित होकर ज्योतिष के विद्यार्थियों के काम में आती है। इसकी कई प्राचीन टीकाएँ भी हैं, जैसे गंगाधर की गणितामृत सागरी (१३४२ शक), ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ की बुद्धिविलासिनी (१४६७ शक), धनेश्वर दैवज्ञ की लीलावतीभूषण, मुनीश्वर की लीलावतीविवृति (१५४७ शक), महीधर की लीलावतीविवरण, रामकृष्ण की गणितामृतलहरी, नारायण की पाटीगणित-कौमुदी, रामकृष्ण देव की मनोरंजना, रामचंद्र कृत लीलावती-भूषण, विश्वरूप की निसृष्-दूती, सूर्यदास की गणितामृतकूपिका, इत्यादि। वर्तमान काल में पं० बापूदेव शास्त्री की टिप्पणी और पं० सुधाकर द्विवेदी की उपपत्ति सहित टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

अन्य ग्रंथ

भास्कराचार्य के बीजगणित पर कृष्ण दैवज्ञ की बीजनवांकुर (शक १५२४) और सूर्यदास की टीका प्रसिद्ध है। उपपत्ति के साथ इसकी टीका पं० सुधाकर द्विवेदी ने भी की है। इनके अतिरिक्त और भी कई टीकाएँ हैं।

सिद्धांत-शिरोमणि (गणिताध्याय और गोलाध्याय) ज्योतिष सिद्धांत का एक उत्तम और प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें ज्योतिष सिद्धांत की सभी बातें विस्तार और उपपत्ति के साथ बतायी गयी हैं जिनका वर्णन ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत अथवा महासिद्धांत में है। इसकी अनेक टीकाएँ हैं। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ की एक टीका है। नृसिंह ने वासनाकल्पलता अथवा वासनावार्तिका नामक टीका १५४३ शक में लिखी थी, मुनीश्वर या विश्वरूप की मरीचि नामक टीका बहुत उत्तम और विस्तार के साथ १५५७ शक में लिखी गयी थी। आर्यभटीय के टीकाकार परमादीश्वर ने सिद्धांत-दीपिका नामक टीका की थी। रंगनाथ की मितभाषिणी नामक टीका शक १५८० के लगभग लिखी गयी थी। इस ग्रंथ का ब्योरेवार विवरण आगामी अध्याय में दिया जायगा।

[1] क्रमचय वह संख्या है जो बताती है कि दिये हुए समूह में से गिनती में दी हुई संख्या के बराबर वस्तुएँ निकाल कर कुल कितने विभिन्न क्रमों में रक्खी जा सकती हैं।

अध्याय १४

सिद्धांतशिरोमणि और करण-कुतूहल

गोलप्रशंसा

सिद्धांतशिरोमणि के गोलाध्याय में पंद्रह अध्याय हैं, जिनमें से पहले का नाम गोलप्रशंसा है। मंगलाचरण के बाद इस अध्याय में बताया गया है कि ज्योतिषी को क्या-क्या जानना चाहिए। इस पर बल दिया गया है कि शुभाशुभ बताने के लिए भी गणित और गणित-ज्योतिष जानना आवश्यक है। अंतिम श्लोक में भास्कराचार्य ने अपनी पुस्तक की प्रशंसा इन शब्दों में की है :

गोलं श्रोतुं यदि मतिर्भास्करीयं शृणु त्वं
नो संक्षिप्तो न च बहुवृथाविस्तरः शास्त्रतत्त्वम्।
लीलागम्यः सुललितपदः प्रश्नरम्यः स यस्माद्
विद्वन ! विद्वत्सदसि पठतां पंडितोक्तिं व्यनक्ति ॥९॥

अर्थ—हे पंडित ! यदि तुम्हारी इच्छा गणित-ज्योतिष सुनने की है तो भास्कराचार्य कृत पुस्तक को सुनो। वह न तो संक्षिप्त है और न व्यर्थ विस्तृत ही है। उसमें शास्त्र का तत्त्व है। उसमें सुन्दर पद हैं और मनोरम प्रश्न हैं। वह सुगमता से समझी जा सकती है और उसे पंडितों की सभा में सुनाने से पंडिताई प्रकट होती है।[1]

गोलस्वरूप प्रश्नाध्याय

दूसरा अध्याय गोलस्वरूप प्रश्नाध्याय है। इसमें दस श्लोक हैं और सभी में पाठक ग्रंथ के रचयिता से प्रश्न पूछता है। उदाहरणतः, प्रथम श्लोक का यह अर्थ है :

[1] पंडित गिरजाप्रसाद द्विवेदी का सटीक संस्करण (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ); यहाँ अर्थ अधिकतर इसी पुस्तक से लिये गये है।

यह पृथ्वी ग्रह-नक्षत्रों से वेष्टित, भ्रमण करते हुए राशिचक्र के भीतर, आकाश में कैसे ठहरी है जिससे नीचे नहीं गिर सकती ? इसका स्वरूप और मान क्या है ? ...

टेढ़े प्रश्न भी हैं, जैसे यह कि "हे गोलज्ञ ! रविमार्ग के बराबर-बराबर बारह भाग, जो बारह राशियाँ हैं, बराबर समयों में क्यों नहीं उदित होते ? और वे सब देशों में एक समय में क्यों नहीं उदित होते ?"

भुवनकोश

भुवनकोश नामक तीसरे अध्याय में विश्व का रूप बताया गया है। कहा गया है कि पृथ्वी क्रमानुसार चंद्र, बुध, शुक्र, रवि, मंगल, बृहस्पति और नक्षत्रों की कक्षाओं से घिरी हुई है। इसका कोई आधार नहीं है, केवल अपनी शक्ति से स्थिर है। इसके पृष्ठ पर सदा असुर, मनुष्य, देव और दैत्य आदि के सहित दुनिया स्थित है। कदंब के फूल की गाँठ जैसे चारों ओर केसरों से घिरी रहती है वैसे ही पृथ्वी भी चारों ओर पर्वत, उद्यान, ग्राम, यज्ञशाला आदि से घिरी है।

उनके मत का जोरदार शब्दों में खंडन किया गया है जो कहते थे कि पृथ्वी किसी आधार पर टिकी है। लिखा है कि "यदि भूमि किसी साकार वस्तु के आधार पर स्थित है तो उस आधार का भी कोई आधार होना चाहिए। यों प्रत्येक वस्तु के लिए किसी दूसरे आधार की कल्पना करते चलें तो अनवस्था[1] हो जायगी। यदि अंत में निजी शक्ति की कल्पना की जाय तो वह पहले ही से क्यों न की जाय ? ... पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति है; उससे वह आकाश में फेंकी गयी भारी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है और वह भारी वस्तु गिरती हुई दिखायी पड़ती है; परंतु पृथ्वी कहीं नहीं गिर सकती, क्योंकि आकाश सब ओर समान है ...।

बौद्धों के कथन का कि पृथ्वी गिरती है और जैनों के कथन का कि दो सूर्य हैं, दो चंद्र हैं, जिनका एकांतर से उदय होता है बहुत बलपूर्वक खंडन किया गया है। उनके मत का भी खंडन किया गया है जो कहते हैं कि पृथ्वी समतल (सपाट) है और मेरु पर्वत के पीछे सूर्य के छिप जाने से रात्रि होती है। बताया है कि जैसे वृत्त की परिधि का छोटा-सा भाग सीधा जान पड़ता है वैसे ही "इस बड़ी भारी भूमि की

[1] न्याय में एक प्रकार का दोष; यह उस समय होता है जब तर्क करते-करते कुछ परिणाम न निकले और तर्क भी समाप्त न हो; जैसे कारण का कारण, और उसका भी कारण, फिर उसका भी कारण—हिंदी-शब्द सागर।

तुलना में, मनुष्य के अत्यंत क्षुद्र होने के कारण, भूमि के ऊपर उसकी दृष्टि जहाँ तक जाती है, वह सब सपाट ही जान पड़ती है।"

फिर बताया गया है कि पृथ्वी कैसे नापी जा सकती है। कहा है कि भूमध्य रेखा से उज्जयनी की दूरी नाप कर उसे १६ से गुणा करने पर पृथ्वी की परिधि ज्ञात होगी, क्योंकि उज्जयनी का अक्षांश २२½ अंश, अर्थात १/१६ × ३६० अंश, है। इसके बाद लंका, यमकोटि, रोमकपत्तन, सिद्धपुर, सुमेरु और बडवानल की परिभाषाएँ या स्थितियाँ बतायी गयी हैं। फिर कुछ भौगोलिक बातें बतायी गयी हैं, जो बहुत ठीक नहीं हैं। वे केवल पौराणिक परंपरा से संकलित जान पड़ती हैं।

श्लोक ४८ में बताया गया है कि भूमध्य रेखा पर खगोल (आकाशीय गोल) कैसा दिखायी पड़ेगा: "भूमध्य रेखा पर मनुष्य दक्षिण और उत्तर दोनों ध्रुवों को क्षितिज पर देखेगा और आकाश को अपने सिर के ऊपर जलयंत्र (रहट) की तरह घूमता हुआ देखेगा", जो पूर्णतया सत्य है। इसके बाद ध्रुव के उन्नतांश और स्थान के अक्षांश में संबंध बताया गया है। फिर पृथ्वी की परिधि, उसका व्यास और उसके पृष्ठ का क्षेत्रफल बताया गया है। इसमें परिधि और व्यास का अनुपात बहुत शुद्ध (३·१४१६) लिया गया है। भास्कराचार्य ने पृष्ठ के क्षेत्रफल के संबंध में लल्लाचार्य की गणना को अशुद्ध बताया है, जो उचित ही है। लल्ल ने अशुद्ध सूत्र से गणना की थी, क्योंकि उन्होंने परिधि से वृत्त के क्षेत्रफल को गुणा किया था। भास्कराचर्य ने परिधि को व्यास से गुणा किया है, जो पूर्णतया शुद्ध है।

मध्यगतिवासना

मध्यगतिवासना नामक चौथे अध्याय में सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की मध्य गतियाँ दी गयी हैं। प्रथम तीन श्लोकों में बताया गया है कि पृथ्वी के ऊपर सात स्तर वायुओं के हैं। पहले में मेघ आदि हैं। उसके ऊपर वे वायु हैं? जिससे चंद्रमा, सूर्य, मंगल, आदि, चलते रहते हैं। विचार करने की बात है कि बहुत पहले ही आर्यभट ने आर्यभटीय में लिखा था कि "जैसे नाव पर चढ़े हुए मनुष्य को, जिधर वह जाती है उससे विपरीत दिशा में, किनारे के अचल वृक्ष आदि चलते हुए प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार भूमध्य रेखा पर अचल नक्षत्र पूर्व से पश्चिम दिशा में जाते हुए प्रतीत होते हैं"; परंतु आर्यभट के इस सिद्धांत को कि पृथ्वी घूमती है और तारे अचल हैं, न तो लल्ल, श्रीपति आदि ने माना, और न भास्कराचार्य ने।

इसके बाद समझाया गया है कि क्यों सूर्य, चंद्रमा आदि की गतियाँ विभिन्न होती हैं, यद्यपि ये सब पिंड एक ही वायु से संचालित होते हैं। कारण यह बताया गया

है कि उनमें स्वगति भी होती है। "जैसे कुम्हार के चाक पर चींटी विलोम दिशा में चलने पर भी चाक के घूमने के कारण कुल मिलाकर आगे ही बढ़ती है", इसी प्रकार सूर्य आदि भी।

फिर, श्लोक ८ से अध्याय के अंत तक (श्लोक २५ तक) सौर वर्ष, चांद्र मास और अधिमास की परिभाषाएँ तथा उनके मान, कितने-कितने दिनों पर अधिमास लगते हैं, अधिमास संबंधी कुछ अन्य प्रश्न और उनके उत्तर, तथा कुछ अन्य बातें बतायी गयी हैं। सौर वर्ष आदि बताने की वह रीति नहीं अपनायी गयी है जो सूर्य-सिद्धांत में है। यहाँ बताया गया है कि सौर वर्ष ३६५ दिन १५ घड़ी ३० पल और २२/३० विपल का होता है; सूर्य-सिद्धांत में युग में वर्षों की संख्या बतायी गयी थी।

ज्योत्पत्ति और छेद्यकाधिकार

पाँचवाँ अध्याय ज्योत्पत्ति है। इसमें त्रिकोणमिति के कुछ सूत्र दिये गये हैं और कुल ६ श्लोक हैं। आगामी अध्याय छेद्यकाधिकार है। इसमें वे नियम दिये गये हैं जिनसे सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की स्फुट स्थितियाँ, अर्थात वे स्थितियाँ जिनमें ये पिंड वस्तुतः दिखायी पड़ते हैं, जानी जा सकती हैं। इस अध्याय में दोनों सिद्धांत दिये गये हैं; एक तो वह जो सूर्य-सिद्धांत के संबंध में बताया गया है, अर्थात सूर्य या चंद्रमा एक छोटे वृत्त में चलता है, जिसका केंद्र एक बड़े वृत्त में चलता है, और दूसरा यह कि सूर्य आदि पिंड वृत्त में चलते हैं परंतु पृथ्वी केंद्र पर नहीं, उससे हट कर है। भास्कराचार्य के मत से भूमि ब्रह्मांड के केंद्र में अवश्य है, परंतु सूर्य, चंद्र, ग्रहादि जिन वृत्तों में चलते हैं उनके केंद्र पृथ्वी से भिन्न हैं।

भास्कराचार्य ने छेद्यक उस चित्र को कहा है जिसमें सूर्य आदि किसी पिंड की कक्षा दिखायी जाय। छेद्यक बनाने की रीति विस्तार से बतायी गयी है। यह भी बताया है कि सूर्य और चंद्रमा का आभासी व्यास घटा-बढ़ा क्यों करता है: "अपने उच्च में स्थित रहने पर पिंड पृथ्वी से बहुत दूर रहता है और नीच में समीप रहता है। इसलिए पिंड का बिंब क्रमानुसार छोटा और बड़ा दिखायी पड़ता है। इसके बाद कुछ प्राचीन आचार्यों के मत का खंडन किया गया है।

गोलबंधाधिकार और त्रिप्रश्नवासना

सातवाँ अध्याय गोलबंधाधिकार है। इसमें बताया गया है कि कैसे बीच में काठ के गोल से पृथ्वी, और उसके केंद्र से जाने वाली छड़ी पर वृत्त बाँधकर चंद्र, बुध आदि की कक्षाएँ प्रदर्शित की जा सकती हैं, और ज्योतिष-अध्ययन में आने वाले याम्यो-

त्तर, क्षितिज आदि अनेक वृत्त कैसे दिखाये जा सकते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार का गोल केवल शिष्य को ज्योतिष समझाने के लिए है; ग्रहों और नक्षत्रों की स्थितियाँ नापने के लिए नहीं। यहाँ के वर्णन के अनुसार भी गोल वैसा ही बनेगा जैसा सूर्य-सिद्धांत के संबंध में पहले बताया जा चुका है।

इसी अध्याय में अयनांश, क्रांति, शर, आदि, कई उपयोगी ज्यौतिष परिमाण ज्ञात करने के भी नियम दिये गये हैं।

आगामी अध्याय त्रिप्रश्नवासना है। उसमें सूर्योदय का समय जानने की रीति बतायी गयी है। वर्णन किया गया है कि कहाँ कब कितना दिनमान होता है। बताया गया है कि भूमध्यरेखा पर दिन-रात क्यों बराबर होते हैं। यह भी बताया गया है कि उत्तर ध्रुव वृत्त के भीतर (अर्थात वृत्त के भीतर जिसका अक्षांश लगभग ६६° उत्तर होता है) दिन-रात की व्यवस्था कैसी होती है; किस प्रकार वहाँ बहुत समय तक दिन ही बना रहता है; पृथ्वी के ठीक उत्तर ध्रुव या दक्षिण ध्रुव पर क्या दिखायी पड़ता है; और चंद्रमा पर दिन और रात किस प्रकार होते हैं। कहा गया है कि "पितर लोग चंद्रमा के पृष्ठ पर निवास करते हैं और इसलिए चंद्रमा को अपने पैर के नीचे मानते हैं। वे हमारी अमावस्या पर सूर्य को अपने सिर पर देखते हैं। इसलिए उस दिन उनका मध्याह्न होता है। चंद्रमा जब ६ राशि चल लेता है और हमारी पूर्णिमा होती है तब सूर्य चंद्रमा के नीचे चला जाता है और पितरों की अर्ध-रात्रि होती है।"

कोई राशि क्यों शीघ्र उदित होती है, कोई क्यों देर; में इसका यह उत्तर दिया गया है: "रविमार्ग का जो भाग तिरछा है वह थोड़े काल में और जो सीधा है वह अधिक काल में उदित होता है"; फिर बताया है कि कौन-सी राशियाँ अधिक तिरछी हैं; कौन-सी प्रायः सीधी। यह भी बताया गया है कि कौन-से देश में कर्क और मिथुन राशियाँ सदोदित रहेंगी, अर्थात क्षितिज के नीचे कभी जायँगी ही नहीं; और इसी प्रकार के कई अन्य प्रश्नों का भी उत्तर दिया गया है। इस संबंध में लल्ला-चार्य का एक कथन असंगत बताया गया है।

अक्षांश जानने की रीति यों बतायी गयी है: "ध्रुव का वेध द्वारा जो उन्नतांश और नतांश प्राप्त हों वे ही अक्षांश और लंबांश[1] हैं; फिर, विषुव के दिन के मध्याह्न में जो सूर्य का नतांश और उन्नतांश हो वे क्रमानुसार अक्षांश और लंबांश होते हैं।

[1] ९० अंश से अक्षांश को घटाने पर प्राप्त शेष को लंबांश कहा गया है।

इस अध्याय में कई एक परिमाणों की गणना की रीति बतायी गयी है और कहा गया है कि "इसी प्रकार विद्वान लोग अन्य हजारों क्षेत्रों की कल्पना करके शिष्यों को बतायें।"

ग्रहणवासना, दृक्कर्मवासना और शृङ्गोन्नतिवासना

आगामी दो अध्यायों में ग्रहण की गणना बतायी गयी है। उसके बाद वाले अध्याय में बताया गया है कि चंद्रमा के शृंग (नोक) किस दिशा में हैं यह कैसे जाना जाय। इन विषयों के कठिन होने के कारण अधिकांश बातों को यहाँ छोड़ दिया जा रहा है; केवल एक-दो अत्यंत सरल बातें चुन कर यहाँ रक्खी जाती हैं। प्रथम श्लोक में बताया गया है कि सूर्य-ग्रहण क्यों कहीं से दिखायी पड़ता है, कहीं से नहीं : "जिस प्रकार मेघ सूर्य को ढँक लेता है वैसे ही चंद्रमा सूर्य से शीघ्र चल कर सूर्य-बिंब को अपने काले बिंब से ढक लेता है। इसलिए सूर्य-ग्रहण में पश्चिम दिशा में स्पर्श और पूर्व दिशा में मोक्ष होता है। चंद्रमा और सूर्य की दूरियों में भेद रहने से सूर्य किसी देश में ढँका हुआ दिखायी पड़ता है और किसी में नहीं। ...चंद्रग्रहण में छादक (ढँकने वाला) बड़ा होता है। इसलिए ग्रहण के समय दिखायी पड़ने वाले चंद्रमा के दोनों शृंग मंद (मोटे) होते हैं और ग्रहण की अवधि बड़ी होती है। परंतु सूर्य-ग्रहण में छादक के छोटा होने से सूर्य के शृंग तीखे होते हैं और ग्रहण की अवधि छोटी होती है।"

ग्रहण के ब्योरों को जानने के लिए चित्र खींचने की रीति विस्तार से बतायी गयी है।

शृंगोन्नतिवासना में यह भी बताया गया है कि चंद्रमा में क्यों कलाएँ दिखायी पड़ती हैं।

यंत्राध्याय

इस अध्याय का उद्देश्य प्रथम श्लोक में बताया गया है: "काल के सूक्ष्म अवयवों का ज्ञान बिना यंत्र के असंभव ह। इसलिए संक्षेप में कुछ यंत्रों का वर्णन करता हूँ। उन यंत्रों के नाम ये हैं : गोल, नाडी-वलय, यष्टि, शंकु, घटी, चक्र, चाप, तुर्य, फलक और धी। परंतु इन सब यंत्रों में एक धी-यंत्र सब से उत्तम है।

इनमें से गोल-यंत्र तो वही है, जो गोलबंधाधिकार में बताया गया है।

नाडीवलय-यंत्र के लिए लिखा है कि काठ का चक्र बन कर उसकी परिधि को घटी आदि में अंकित करे। बीच में कील, चक्र के समतल से लंब दिशा में, जड़ दे, तो यंत्र तैयार हो जायगा। कील की छाया देख कर इससे समय ज्ञात किया जाता

है। चक्र के धरातल को इच्छानुसार चाहे क्षैतिज समतल में अथवा विषुवत के समतल में स्थिर किया जा सकता है।

यष्टि का अर्थ है छड़ी, बल्ली या स्तंभ। नाम से ही यंत्र का ज्ञान हो जाता है। बनाने के लिए कोई ब्योरा नहीं दिया गया है। शंकु के लिए सिद्धांत-शिरोमणि में बहुत कम ब्योरा है, परंतु शंकु क्या होता था यह अन्य ग्रंथों से ज्ञात है (पृष्ठ १४२ देखो)। शंकु को हाथीदाँत का बनाना चाहिए केवल यही विशेष बात बतायी गयी है।

आधे घड़े के आकार का तांबे का घटी-यंत्र बनता था। पेंदी में एक छेद रहता था। पानी में इसके डूबने के समय से समय का ज्ञान होता था।

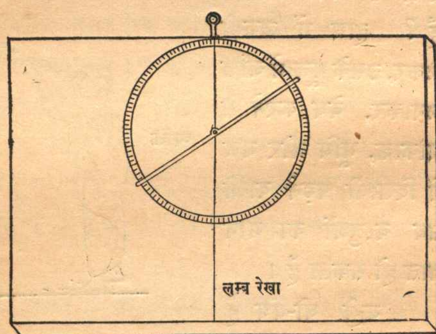
"किसी काष्ठ या धातु का वृत्ताकार चक्र-यंत्र बना कर उसकी परिधि को ३६० अंशों में अंकित करे और ढीली जंजीर से लटका दे। ... केंद्र में एक कील रहनी चाहिए"। इस प्रकार चक्र-यंत्र ऊर्ध्वाधर धूप-घड़ी का काम देता था। इससे सूर्य का उन्नतांश नापा जाता था।

"वृत्त का आधा चाप-यंत्र और चाप का आधा तुर्य-यंत्र कहा जाता है।"

फलक-यंत्र और धी-यंत्र

फलक-यंत्र के वर्णन में भास्कराचार्य ने बहुत भूमिका बाँधी है। एक श्लोक में यंत्र की प्रशंसा की गयी है। दूसरे में सूर्य-बंदना और यंत्र की पुनः प्रशंसा। फिर इसे बनाने के लिए निम्न आदेश हैं:

"फलक-यंत्र को आयताकार, ९० अंगुल चौड़ा और १८० अंगुल लंबा बनाना चाहिए। लंबाई के बीच में ढीली जंजीर लगाकर इसे लटका दे, जिससे यह घूम सके (और सदा ऊर्ध्वाधर रहे)।" फिर इस पर विविध रेखाओं आदि के अंकित करने के लिए आदेश हैं। बीच में कील रहेगी और इसी कील के सहारे ६० अंगुल लंबी, अंगुल भर



फलक-यंत्र।

यह चित्र भास्कराचार्य के वर्णन के अनुसार बनाया गया है।

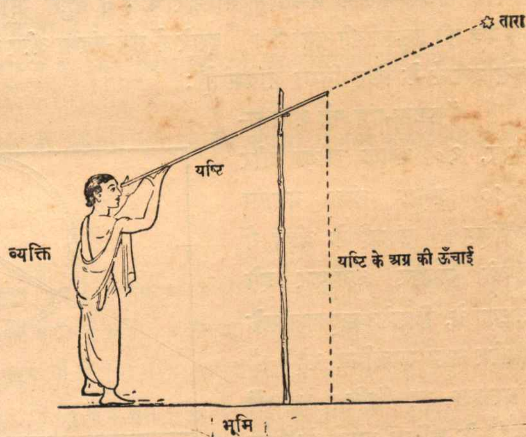
चौड़ी, आधा अंगुल मोटी पट्टी घूमा करेगी। इसमें छेद करके इसे कील पर इस प्रकार पिरोना चाहिए कि पट्टी घूम सके और घुमाने पर इसका एक किनारा केंद्रीय खड़ी रेखा पर पड़ सके।

यंत्र की उपयोग-विधि यों बतायी गयी है : "इस फलक-यंत्र को इस प्रकार रखना चाहिए जिसमें इस यंत्र के दोनों ओर सूर्य की रश्मियाँ पड़ें", अर्थात यंत्र का समतल ऐसी दिशा में हो जाय कि सूर्य उसी समतल में रहे। फिर तो सूर्य का उन्नतांश कील की छाया से जाना जा सकता है। मध्य की पट्टी के किनारे को किसी तारे या ग्रह की दिशा में करके उसका भी उन्नतांश नापा जा सकता है। वस्तुतः यह यंत्र अरब लोगों के अस्तरलाबर (यंत्रराज) का पूर्वज जान पड़ता है (चित्र देखो)।

कुछ पाश्चात्यों की राय है कि भास्कराचार्य यंत्रों के उपयोग को बहुत आवश्यक नहीं समझते थे, और इसलिए उन्होंने ज्योतिष की उन्नति क्रियात्मक रूप से नहीं की, केवल अच्छी गणना बतायी। यह विश्वास भास्कराचार्य के निम्न श्लोक पर आश्रित है:

अथ किमु पृथुतन्त्रैर्धीमतो भूरियंत्रैः
स्वकरकलितयष्टेर्दत्तमूलाग्रदृष्टेः ।
न तदविदितमानं वस्तु यद्दृश्यमानं
दिवि भुवि च जलस्थं प्रोच्यतेऽथ स्थलस्थम् ॥४०॥

अर्थ—बुद्धिमानों को बड़े ग्रंथ और बहुत-से यंत्रों से क्या प्रयोजन है? हाथ में लकड़ी लेकर, उसके मूल में आँख लगाकर, वेध करने से आकाश, भूमि और जल में दिखायी पड़ने वाली सब वस्तुओं का मान ज्ञात हो सकता है।



धीयंत्र।

यष्टि के अग्र तथा आँख की ऊँचाइयाँ और दोनों के बीच की क्षैतिज दूरी जान कर आकाशीय पिंडों का उन्नतांश इस यंत्र से नापा जाता था।

यही धी-यंत्र है (धी=बुद्धि)। इसके उपयोग की विधियों बतायी गयी है : "जो हाथ में यष्टि लेकर बाँस

का मूल और अग्र वेध कर अपना और बाँस का अंतर और ऊँचाई जान लेता है, कहो वह धीयंत्र-विशारद क्या नहीं जानता ?"

यद्यपि इस अध्याय के प्रथम श्लोक में धी-यंत्र की बड़ी प्रशंसा की गयी है, तो भी इसमें संदेह नहीं कि यह यंत्र बहुत ही स्थूल है। भास्कराचार्य ने धीयंत्र पर कई एक उदाहरण दिये हैं जिनमें गणित के दाँव-पेंच बहुत सुन्दर हैं, परंतु स्वयं यंत्र कितनी सूक्ष्मता से नाप सकेगा इसकी उपेक्षा की गयी है। कुछ प्रश्न तो विशुद्ध त्रिकोणमिति के हैं। उदाहरणतः, एक प्रश्न यह है : "हे मित्र! एक सम-भूमि में ऊँचे सीधे बाँस का मूल किसी घर आदि से छिपा हुआ है; केवल उसका अग्र दिखायी देता है। यदि तुम यहीं बैठकर उसकी ऊँचाई और यहाँ से दूरी बताओ, तो हम धीयंत्र-विशारदों में तुम को श्रेष्ठ मानें।" इसका उत्तर भास्कराचार्य ने स्वयं दिया है जिसमें दो स्थानों से बाँस के अग्र के उन्नतांशों को नाप कर त्रिकोणमिति से बाँस की दूरी और ऊँचाई को गणना की रीति बतायी गयी है।

स्वयंचल यंत्र

इसके बाद ऐसे यंत्र का वर्णन है जो स्वयं चले। आधुनिक विज्ञान का कहना है कि जब तक कोयला, पेट्रोल आदि से उत्पन्न हुई या अन्य प्रकार से आयी ऊर्जा (एनर्जी) खर्च न होगी तब तक कोई यंत्र स्वयं चलता न रहेगा। इसलिए स्पष्ट है कि भास्कराचार्य का बताया हुआ यंत्र कभी बन न पाया होगा। निर्माण-विधि यों बतायी गयी है : अच्छे काठ का खरादा हुआ एक चक्र बनाओ। उसकी परिधि में बराबर-बराबर दूरियों पर आरे[1] लगाओ। ये आरे (त्रिज्या की सीध में न रहें; उनके सापेक्ष) एक ओर कुछ झुके रहें। आरे सब एक समान छिद्रवाले (पोले) हों। इन आरों के छिद्रों में इतना पारा छोड़ो कि वे आधे भर जायँ। इसके बाद छिद्रों के मुख को अच्छी तरह बंद कर दो। फिर इस चक्र को खराद की भाँति दो आधारों में पिरोये हुए लोह-दंड के बीच में कस दो। तब (चला देने पर) यह चक्र स्वयं घूमता रहेगा।"

इसके बाद एक पनचक्की का वर्णन है जो स्वयं बराबर चलती रहेगी। आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह भी बेकार है—अपने आप नहीं चलती रह सकती है।

[1] केंद्र से परिधि तक जाने वाले डंडों को आरा कहते हैं।

भास्कराचार्य ने स्वयं कहा है कि इन यंत्रों का गोल से कोई संबंध नहीं है; केवल "पूर्व आचार्यों के कथनानुसार यहाँ पर वर्णन किया गया है"।

अंतिम तीन अध्याय

तेरहवाँ अध्याय "ऋतुवर्णन" है। इसमें पंद्रह श्लोकों में ऋतुओं का वर्णन रसिकतापूर्वक किया गया है। ज्योतिष से इस अध्याय का कोई संबंध नहीं है। भास्कराचार्य ने स्वयं लिखा है कि "यहाँ ऋतुवर्णन के बहाने कवियों की प्रीति के लिए रसिकों का मन हरनेवाली यह छोटी कविता दी गयी है"।

आगामी अध्याय प्रश्नाध्याय है। इसमें ज्योतिष संबंधी प्रश्न और उनके उत्तर हैं। दो उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होगा। एक प्रश्न यह है : "अहर्गण के साधन में जितने गत अधिमास और अवम हों उनका और उनके शेषों का योग जान कर जो गणक कल्पादि से सौर, चांद्र, सावन अहर्गणों को गणित से बताये वह बीज-गणितज्ञ पंडित, संश्लिष्ट-स्फुट-कुट्टक में उद्भट, बालकरूपी क्षुद्र मृग को भगाने में सिंह के समान विजयी होता है ॥१०॥"

"उज्जयनी से पूर्व में नब्बे अंश पर कोई नगर है और वहीं से पश्चिम नब्बे अंश पर कोई नगर है; और पूर्व में जो नगर है उससे ईशानकोण में नब्बे अंश पर और पश्चिम में जो नगर है उससे वायुकोग में नब्बे अंश पर कोई नगर है। हे गोलक्षेत्र-चतुर! कुछ देर अपने चित्त में इन प्रश्नों पर भली भाँति विचार कर, उक्त नगरों के अक्षांश बताओ।" भास्कराचार्य के उत्तर में इन नगरों का अक्षांश ०°, ०°, ४५° और ३०° निकला है।

अंतिम अध्याय का नाम ज्योत्पत्ति है। इसमें कोणों की ज्याओं की गणना करने की रीति बतायी गयी है और कुछ अन्य त्रिकोगमितोय प्रश्नों पर भी विचार किया गया है।

अन्य ग्रंथ

करण-कुतूहल नामक ग्रंथ में ग्रहों की गणना के लिए सुगम रीति बतायी गयी है जिस पर कई टीकाएँ लिखी गयीं हैं। इसके अनुसार पंचांग बनाने का काम सरलता से किया जा सकता है।

अन्य भाषाओं में भी भास्कर के ग्रंथों का अनुवाद किया गया है। अकबर बादशाह के नवरत्न फैज़ी ने फारसी में लीलावती का अनुवाद सन १५८७ ई० में किया था। शाहजहाँ बादशाह के समय में अताउल्लाह रसीदी ने १६३४ ई० में बीजगणित का अनुवाद किया। कोलब्रुक ने १८१७ ई० में लीलावती और बीजगणित का

अनुवाद अंग्रेज़ी में किया। टेलर ने १८१६ ई० में लीलावती का अनुवाद तथा ई० स्ट्रेची ने बीजगणित का अनुवाद १८१३ ई० में अंग्रेज़ी में किया। महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री ने गोलाध्याय का अँग्रेज़ी अनुवाद १८६६ ई० में किया। पंडित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी ने गोलाध्याय और गणिताध्याय दोनों पर संस्कृत और हिंदी में एक अच्छी टीका लिखी है जो नवलकिशोर प्रेस से १९११ और १९२६ ई० में प्रकाशित हुई है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि भास्कराचार्य ने गणित ज्योतिष का विस्तार किया और उपपत्ति संबंधी बातों पर पूरा ध्यान दिया, परंतु आकाश के प्रत्यक्ष वेध से बहुत कम काम लिया। वेधों के लिए इन्होंने ब्राह्मस्फुटसिद्धांत को आधार माना।

किसी-किसी ग्रंथ में भास्कराचार्य रचित मुहूर्त ग्रंथ तथा विवाह पटल नामक ग्रंथ का भी वर्णन है परंतु यह उतने प्रसिद्ध नहीं हुए।

अध्याय १५

भास्कराचार्य के बाद

उन्नति बंद हुई

भास्कराचार्य के बाद कई ज्योतिषी हुए, परंतु उनमें भास्कर के समान कोई विख्यात न हो सका; ज्योतिष में विशेष उन्नति भी भास्कर के बाद न हो पायी, जैसा नीचे के विवरण से पता चलेगा। नवीन ज्योतिषी साधारणतः भाष्य लिख कर या किसी प्राचीन सिद्धांत को सत्य मान उससे करणग्रंथ बनाकर या फलित ज्योतिष पर ग्रंथ लिख कर ही संतोष करने लगे। फिर एक समय ऐसा भी आ गया कि उन्नति करना ही पाप समझा जाने लगा।

वाविलाल कोचन्ना

तैलंग प्रान्त के वाविलाल कोचन्ना ज्योतिषी ने एक करण ग्रंथ शक १२२० में लिखा था[1] जिसमें फाल्गुन कृष्ण ३० गुरुवार शक १२१९ का क्षेपक[2] दिया है। यह पुस्तक वर्तमान सूर्य-सिद्धांत के आधार पर लिखी गयी थी। इस पुस्तक में कोई बीज-संस्कार नहीं दिया है जैसा मकरंद में है। मद्रास में वारन नामक अंग्रेज विद्वान ने कालसंकलित नामक एक ज्योतिषकी पुस्तक १८२५ ई० में लिखी है, जिसमें इस पुस्तक से बहुत कुछ सामग्री ली गयी है। इससे जान पड़ता है कि मद्रास प्रान्त में इस पुस्तक से उस समय तक पंचांग बनाये जाते थे।

[1] इस अध्याय के पृष्ठ २१६ तक की सारी बातें मेरे द्वारा संपादित सरल विज्ञान-सागर नामक ग्रन्थ में ग्रंथ श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव के एक लेख से ली गयी हैं।

[2] क्षेपक की परिभाषा के लिए पृष्ठ १८९ पर पाद-टिप्पणी देखो।

बल्लालसेन

मिथिलाधिपति श्री लक्ष्मणसेन के पुत्र महाराजाधिराज बल्लालसेन ने शक १०९० (११६८ ई०) में अद्भुतसागर नामक संहिता का एक बृहत ग्रंथ रचा जो वराहमिहिर की बृहत्संहिता के ढंग का एक उत्तम ग्रंथ है। उसमें गर्ग, वृद्धगर्ग, पराशर, कश्यप, वराहसंहिता, विष्णुधर्मोत्तर, देवल, वसन्तराज, वटकणिक, महाभारत, बाल्मीकि रामायण, यवनेश्वर, मत्स्यपुराण, भागवत, मयूरचित्र, ऋषिपुत्र, राजपुत्र, पंचसिद्धांतिका, ब्रह्मगुप्त, भट्ट बलभद्र, पुलिशाचार्य, सूर्यसिद्धांत, विष्णुचन्द्र और प्रभाकर के अनेक वचन उद्धृत हैं। वराहसंहिता में अध्यायों के नाम 'चार' से प्रकट किये गये हैं, जैसे ग्रहचार, राहुचार आदि, परंतु अद्भुतसागर में अध्यायों के नाम 'आवर्त' रक्खे गये हैं, जैसे अगस्त्यावर्त में अगस्त तारे के उदय-अस्त के विषय में है, इत्यादि। बल्लालसेन ने कई आकाशीय घटनाओं का उल्लेख किया है, जिससे जान पड़ता है कि यह केवल ग्रंथकार ही नहीं थे, वरन् तारों और नक्षत्रों का भी वेध करते थे। बुध-सूर्ययुति और शुक्र-सूर्ययुति का भी परिचय इनको हो गया था। अयन-बिन्दुओं के संबंध में भी इन्होंने स्वयं[1] परीक्षा करके लिखा है।

सब बातों का विचार करने से प्रकट होता है कि अद्भुतसागर वास्तव में एक बड़ा और अद्भुत ग्रंथ है।

केशवार्क

केशवार्क का बनाया हुआ विवाह-वृंदावन नामक एक मुहूर्त ग्रंथ है, जिसमें विवाह संबंधी मुहूर्तों का अच्छा परिचय है। इसकी टीका भी पीछे की गयी थी। यह गणेश दैवज्ञ के पिता केशवाचार्य से भिन्न थे और उनसे बहुत पहले हुए थे। गणक-तरंगिणी के अनुसार इनका समय शक ११६४ (१२४२ ई०) के लगभग ठहरता है, क्योंकि गणेश दैवज्ञ की टीका से प्रकट होता है कि ग्रंथनिर्माण-काल में अयन १२ अंश था।

[1] सकलवसुधाधिनाथश्रीमद्बल्लालसेनदेवेन।
अयनद्वयं यथावत् परीक्ष्य संलिख्यते सवितुः॥
इदानीं दृष्टिसंवादादयनं दक्षिणं रवेः।
भवेत्पुनर्वसोरादौ विश्वादावुत्तरायणम्॥
गणक-तरंगिणो, पृष्ठ ४४।

कालिदास

इतिहास के बहुत से विद्वान कालिदास को शकुन्तला के रचयिता प्रसिद्ध कालिदास समझते हैं और इनका समय विक्रमीय संवत के आरंभ में समझते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है। इन्होंने ज्योतिर्विदाभरण नामक एक मुहूर्त ग्रंथ की रचना की है जिसमें २० अध्याय हैं। अन्तिम अध्याय में राजा विक्रमादित्य की सभा का वर्णन किया गया है और लिखा गया है कि कलि संवत् ३०६८ में यह ग्रंथ रचा गया[1]। परंतु यह या तो लोगों को ठगने के लिए स्वयं ग्रंथकार ने लिखा है अथवा किसी अन्य ने भ्रम से यह लिख दिया है, क्योंकि इसमें अयनांश निर्णय करने और क्रांतिसाम्य का बिचार करने की बातें सिद्ध करती हैं कि यह ग्रंथ इतना पुराना नहीं हो सकता। अयनांश के संबंध में प्रथमाध्याय के १८वें श्लोक में लिखा है: "शाकः शराम्भोधियुगोनितो हृतो मानं खतर्कैरयनांशका स्मृता"। क्रांतिसाम्य कब संभव होता है, इस विषय में चौथे अध्याय में लिखा है :

ऐन्द्रे त्रिभागे च गते भवेत्तयोः शेषे ध्रुवोपक्रमसाम्यसंभवः।
यद्येकरेखास्थितभेशचण्डगूःस्यातां तदाऽपक्रमचक्रवालके ॥

इससे प्रकट है कि कालिदास का समय वही है, जो केशवार्क का है। इसलिए यह रघुवंश या शकुन्तला के कालिदास से भिन्न है[2]।

महादेव

महादेव ने पैतामह, आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि आचार्यों के सिद्धांतों के अगाध समुद्र को पार करने के लिए महादेवी सारणी नामक एक नौका शक १२३८ में तैयार की थी। इसमें ग्रंथारंभकाल के ग्रहों का क्षेपक देकर ग्रहों की वार्षिक गति दे दी गयी है, जिसकी सहायता से ग्रहों की स्थिति बड़ी सरलता से ज्ञात हो जाती है। इसमें कुल ४२१ श्लोक हैं।

इसी के आदर्श पर नृसिंह दैवज्ञ ने शक १४८० में महादेवी नाम की एक दूसरी सारणी भी तैयार की, जिसमें अयनांश १३° ४५′ और पलभा ४।३० दिये गये हैं।[3]

[1] वर्षे सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणैर्याते कलेः सम्मिते।
मासे माधवसंज्ञिके च विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः।
गणक-तरंगिणी, पृष्ठ ४६।

[2] गणक-तरंगिणी, पृष्ठ ४६-४७।

[3] गणक-तरंगिणी, पृष्ठ ४७-४८।

महेंद्रसूरि

महेंद्रसूरि फीरोज़शाह बादशाह की सभा के प्रधान पंडित थे। इन्होंने यंत्र-राज नामक यंत्र भी १२९२ शक में बनाया था। इनकी बनायी यन्त्रराज नामक पुस्तक की टीका इनके शिष्य मलयेन्दुसूरि ने लिखी थी जिसको उपपत्ति के साथ महोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने शक १८०४ (१८८२ ई०) में चन्द्रप्रभा प्रेस से प्रकाशित की थी। इन्होंने सूर्य की परम क्रान्ति २३° ३५′ पायी थी और अयनांश की वार्षिक गति ५४ विकला लिखी है। इस ग्रंथ में पाँच अध्याय हैं जिनके नाम हैं—गणिताध्याय, यंत्रघटनाध्याय, यंत्ररचनाध्याय, यंत्रशोधनाध्याय और यंत्र-विचारणाध्याय। सुधाकर द्विवेदी समझते हैं कि यह ग्रंथ शायद किसी फारसी ग्रंथ का अनुवाद है[1]।

महादेव

महादेव ने पंचांग बनाने की सुविधा के लिए कामधेनु नामक करण ग्रंथ शक १२७९ (१३५७ ई०) में बनाया था।

पद्मनाभ

ध्रुवभ्रम यंत्र नाम का ग्रंथ पद्मनाभ ने १३२० शक के लगभग रचा था जिसमें केवल ३११ श्लोक हैं। इसमें ध्रुवभ्रमयंत्र का वर्णन है जिससे रात को ध्रुवमत्स्य नामक नक्षत्र पुंज को वेध कर के समय का ज्ञान करने की रीति बतायी गयी है। इस ग्रंथ की टीका स्वयं ग्रंथकार ने की है। दिन में सूर्य के वेध से समय का ज्ञान करने की रीति है जिससे लग्न का ज्ञान भी हो सकता है। २८ नक्षत्रों के योगतारों के मध्योन्नतांश भी दिये गये हैं, जिससे प्रकट होता है कि यह २४ अक्षांश के स्थानों के लिये बनाया गया था।

दामोदर

दामोदर का भटतुल्य नामक आर्यभटानुसारी एक करण ग्रंथ है जिसका आरंभ वर्ष शक १३३९ (१४२७ ई०) है; यह पद्मनाभ के शिष्य थे और इन्होंने ध्रुवभ्रम यंत्र पर टीका लिखी थी। इसमें अयनगति ५४ विकला वार्षिक बतायी गयी है। इन्होंने नक्षत्रों के योगतारों के भोगांश और शर दिये हैं जो अन्य ग्रंथकारों के

[1] गणक-तरंगिणी, पृष्ठ ४९।

भोगांशों से कुछ भिन्न हैं; इससे जान पड़ता है कि इन्होंने स्वयं वेध कर के निश्चय किया है।

गंगाधर

गंगाधर ने कलि संवत ४५३५ (शक १३५६) में प्रचलित सूर्यसिद्धांत के अनुसार एक तन्त्र ग्रंथ रचा है जिसका नाम है चान्द्रमानाभिधान तन्त्र। इसमें चांद्रमास के अनुसार ग्रहों की गति देकर ग्रह स्पष्ट करने की रीति बतायी गयी है।

मकरंद

मकरंद ने शक १४०० (१४७८ ई०) में सूर्यसिद्धांत के अनुसार तिथ्यादि साधन के लिए अपने ही नाम की एक सारणी काशी में रची थी जिसके अनुसार काशी और मिथिला आदि प्रान्तों में अब भी पंचांग बनाये जाते हैं। यह सारणी दिवाकर दैवज्ञ के मकरंद विवरण और विश्वनाथ के उदाहरण के साथ प्रकाशित हुई है और आज भी मिलती है। गोकुलनाथ ने १६८८ शक में इसकी उपपत्ति भी लिखी है। इस सारणी का अनुवाद अंग्रेज़ी में बेंटली साहब ने किया था। इसी का विस्तार करके शहर मिरज़ापुर के पं० रघुबीरदत्त ज्योतिषी ने सिद्धखेटिका नामक एक सारणी तैयार की थी जो शाके १८०५ (१८८३ ई०) में भारतमित्र यन्त्रालय से प्रकाशित हुई थी। इस सारणी में तिथि, नक्षत्र, योगों और ग्रहों की दैनिक गति दी गयी है जिससे इन विषयों की स्पष्ट गणना बहुत ही सुगमता से की जा सकती है। इसमें पंचांग बनाने की प्रायः सभी बातें बतायी गयी हैं। इसमें बीज-संस्कार करने के लिए भी कहा गया है और इसका नियम बताया गया है।

केशव द्वितीय

विवाह-वृंदावन के रचयिता केशव की चर्चा पहले हो चुकी है जिन्हें गणकतरंगिणी में केशवार्क कहा गया है। दूसरे केशव उनसे भिन्न हैं। यह ग्रहलाघव के प्रसिद्ध लेखक गणेश दैवज्ञ के पिता और ज्योतिष के महान् आचार्य और संशोधक थे। इनका जन्म पश्चिमी समुद्र के तीर नंदिग्राम में हुआ था। इनके जन्म का समय कहीं नहीं लिखा मिलता। सूर्य, चन्द्रमा और ताराग्रहों का वेध कर के गणना ठीक करने के लिए इन्होंने बड़ा जोर दिया है और भविष्य के लिए पथप्रदर्शक का काम किया है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक ग्रहकौतुक है जिसकी मिताक्षरा टीका भी इन्होंने स्वयं लिखी थी। इससे प्रकट होता है कि ग्रहों के वेध में ये निपुण थे। ब्राह्म, आर्यभटीय और सूर्यसिद्धांत, आदि के अनुसार आये हुए ग्रहों के स्थानों में बहुत

अन्तर देख कर इन्होंने लिखा है कि किस ग्रह के लिए कितना बीज-संस्कार देना चाहिए और बताया है कि सदैव वर्तमान घटनाओं को देखकर ग्रहगणित करना चाहिए :—

एवं बहुत्रंतरं भविष्ये: सुगणकैं नक्षत्रयोग ग्रह योगोदयास्तदिभि वर्तमान घटनामवलोक्य न्यूनाधिक भगणाद्यै ग्रहगणितानि कार्याणि। यदा तत्काल क्षेपक वर्ष भोगान् प्रकल्प्य लघु करणानि कार्याणि[1]।

ग्रहकौतुक का आरम्भ शक १४१८ (१४९६ ई०) में हुआ था। इसके अतिरिक्त इन्होंने वर्ष ग्रहसिद्धि जातकपद्धति, जातकपद्धति निवृत्ति, ताजकपद्धति, शिद्धांतवासना-पाठ, मुहूर्त-तत्त्व, कायस्थादि-धर्मपद्धति, कुण्डाष्टक-लक्षण, गणितदीपिका नामक पुस्तकों को रचना की थी। इससे प्रकट है कि ये ज्योतिष की सभी शाखाओं के अच्छे विद्वान थे और ग्रहों की वेध सम्बन्धी बातों को आजकल के वैज्ञानिकों की तरह लिखते थे।

गणेश दैवज्ञ

गणेश दैवज्ञ भी अपने पिता के समान ज्योतिष की प्राय: सभी शाखाओं के अच्छे विद्वान थे और ग्रहों का वेध करके उनकी ठीक-ठीक गगना करने के पक्ष में थे[2]। इनका मुख्य ग्रंथ ग्रहलाघव है जिसमें गहों की गणना करने के लिए ज्या, कोटिज्या आदि से काम नहीं लिया गया है। यह बड़े पांडित्य की बात है। ग्रहलाघव का आरम्भ शक १४४२ (१५२० ई०) है। यह इतना अच्छा ग्रंथ समझा गया था कि इसकी कई टीकाएँ हुईं। शक १५०८ में गंगाधर ने, शक १५२४ में मल्लारि ने और लगभग शक १५३४ में विश्वनाथ ने, इसकी टीकाएँ लिखी थीं। सुधाकर द्विवेदी ने इस पर उपपत्ति के साथ एक सुन्दर टीका लिखी है जिसमें मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाओं का भी समावेश है। इस ग्रंथ का प्रचार महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक ग्वालियर आदि प्रान्तों में अब भी है।

इस ग्रंथ में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, पंचताराधिकार, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण मासगण ग्रहण, स्थूल ग्रहण साधन, उदयास्त, छाया, नक्षत्रछा, श्रृंगोन्नति,

[1] भारतीय ज्योतिष शास्त्र, पृष्ठ २५९।

[2] कथमपि यदिदं चेद्भूरिकाले श्लथं स्यान्मुहुरपि परिलक्ष्येन्दुग्रहाद्यृक्षयोगम्। सदमलगुरुतुल्यप्राप्तबुद्धिप्रकाशैः कथितसदुपपत्त्या शुद्धिकेन्द्रे प्रचाल्ये। बृहत्तिथि-चिंतामणि (गणक-तरंगिणी, पृष्ठ ६३ के अनुसार)।

ग्रहयुति और महापात नामक १४ अधिकार हैं । विश्वनाथ और मल्लारि ने अपनी टीकाओं में पंचांग-ग्रहणाधिकार का नाम भी लिखा है ।

वृहत्तिथिचिंतामणि और लघुतिथिचिंतामणि नामक सारणियाँ भी गणेश दैवज्ञ की बनायी हुयी हैं, जिनसे पंचांग के लिए तिथि, नक्षत्र योगों का साधन बहुत सरलता से और कम समय में किया जा सकता है । इनके सिवा नीचे लिखे ग्रंथ भी गणेश दैवज्ञ के लिखे हुए हैं :—

सिद्धांत-शिरोमणि टीका, लीलावती टीका (शक १४६७), विवाह-वृन्दावन टीका (शक १४७६), मुहूर्त तत्त्व टीका, श्राद्धादि निर्णय छन्दोऽर्णव टीका; सुधीरञ्जनी, तर्जनी यन्त्र, कृष्ण जन्माष्टमी निर्णय और होलिका निर्णय ।

लक्ष्मीदास

लक्ष्मीदास शक १४२२ (१५०० ई०) में भास्कराचार्य के सिद्धांत-शिरोमणि की टीका उपपत्ति और उदाहरण के साथ की थी, जिसका नाम है गणिततत्त्व चिंतामणि ।

ज्ञानराज

सिद्धांत सुन्दर नामक करण ग्रन्थ के कर्ता ज्ञानराज थे । यह वर्तमान सूर्य-सिद्धांत के अनुसार बनाया गया है । इसका क्षेपक १४२५ शक का है; इसलिए यही इसका रचना काल समझना चाहिए । पहले गोलाध्याय है जिसमें सृष्टिक्रम, लोकसंस्था आदि १२ अध्याय हैं और गणिताध्याय में मध्यमाधिकार आदि ८ अध्याय हैं । मध्यमाधिकार में बीज-संस्कार की बात भी कही गयी है । यह नहीं बताया है कि इनके समय में अयनांश क्या था, परंतु अयनांश की वार्षिक गति एक कला बतायी है और लिखा है कि मध्याह्न छाया से जाने हुए स्पष्ट सूर्य और गणना से आये हुए स्पष्ट सूर्य का अंतर निकाल कर अयनांश ठीक-ठीक ज्ञात कर लेना चाहिए, जैसा सूर्यसिद्धांत में बताया गया है ।

सूर्य

सूर्य ज्ञानराज के पुत्र थे । भास्कराचार्य के बीजगणित के भाष्य में अपना नाम सूर्यदास लिखा है और किसी ग्रन्थ में अपना नाम सूर्यप्रकाश लिखा है । लीलावती की टीका गणितामृत कूपिका इन्हीं की लिखी हुई है जो १४६३ शक में लिखी गयी थी । उस समय इनकी अवस्था ३४ वर्ष की थी । इसलिए इनका जन्म शक १४२९ में हुआ था । इनके लिखे ग्रन्थों के नाम ये हैं: लीलावती टीका, बीज टीका,

श्रीपति पद्धति गणित, बीजगणित, ताजिक ग्रन्थ, काव्यद्वय और बोध-सुधाकर वेदांत ग्रंथ। कोलब्रुक लिखते हैं कि इन्होंने सम्पूर्ण सिद्धांत-शिरोमणि टीका भी लिखी है, परंतु लीलावती की टीका में इन्होंने स्वयं जिन आठ ग्रंथों के नाम लिखे हैं उनमें यह नाम नहीं आया।

अनंत प्रथम

अनंत प्रथम शक १४४७ में पंचांग बनाने के लिए अनंत सुधारस नामक ग्रंथ लिखा था, जो सुधाकर द्विवेदी के मत से एक सारणी है।

ढुंढिराज

ढुंढिराज का बनाया जातकाभरण ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है, जिससे जन्मपत्री बनायी जाती है। अनन्तकृत सुधारस की टीका भी है, जिसका नाम सुधारसकरणचषक है। ग्रहलाघवोदाहरण, ग्रहफलोत्पत्ति, पंचांगफल, कुंडकल्पलता, ग्रंथों को भी लिखा है। इन्होंने अपना जन्मकाल कहीं नहीं लिखा है, परंतु ज्ञानराज के ये शिष्य थे; इसलिए उनके पुत्र सूर्य के समकालीन अवश्य रहे होंगे।

नीलकंठ

नीलकंठ ने ताजिक नीलकंठी नामक बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है, जिसे ज्योतिषी लोग वर्षफल बनाने के लिए अब भी काम में लाते हैं। इसमें फारसी और अरबी के बहुत से शब्द आये हैं। यह अकबर बादशाह के दरबार के सभा-पंडित थे और मीमांसा तथा सांख्य शास्त्र के अच्छे विद्वान थे। नीलकंठी का निर्माण काल शक १५०९ (१५८७ ई०) है। इस पर विश्वनाथ ने उदाहरण के साथ एक टीका शक १५५१ में की थी। सुधाकर द्विवेदी लिखते हैं कि इन्होंने एक जातकपद्धति भी लिखी है, जो मिथिला प्रांत में बहुत प्रसिद्ध है।

रामदैवज्ञ

रामदैवज्ञ नीलकंठ के छोटे भाई थे। इनका शक १५२२ का रचा मुहूर्त-चिंतामणि ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है और ज्योतिष के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। इस प्रान्त में यात्रा, विवाह, उत्सव आदि सभी बातों के लिए इसी ग्रन्थ के आधार पर साइत निकाली जाती है। इस ग्रंथ पर पीयूषधारा नामक टीका इनके भतीजे नीलकंठ के पुत्र गोविन्द ने लिखी है, जो बहुत प्रसिद्ध है।

इनका रचा रामविनोद नामक एक करण ग्रंथ भी, है जिसे अकबर बादशाह के कृपापात्र जयपुर के महाराजा रामदास की प्रसन्नता के लिए शक १५१२ में

पंचांग बनाने के लिए लिखा गया था। इसमें वर्तमान, पक्षेक और ग्रहगति वर्तमान सूर्यसिद्धांत के अनुसार दिये गये हैं। बीज-संस्कार भी दिया है। इसमें ११ अधिकार और २८० श्लोक हैं।

कृष्ण दैवज्ञ बादशाह जहाँगीर के प्रधान पंडित थे। भास्कराचार्य के बीजगणित की नवांकुर नामक सुन्दर टीका इनकी लिखी हुई है जिसमें कई नवीन कल्पनाएँ हैं। सूर्यसिद्धान्त की गूढ़ार्थप्रकाशिका टीका के लेखक रंगनाथ लिखते हैं कि कृष्ण-दैवज्ञ ने श्रीपतिपद्धति की टीका और छादक निर्णय भी लिखा है। इन्होंने अपना समय नहीं लिखा है। सुधाकर द्विवेदी जी का अनुमान है कि इनका जन्मकाल शक १४८७ के लगभग होगा।

गोविंद दैवज्ञ

गोविंद दैवज्ञ नीलकंठ दैवज्ञ के पुत्र और राम दैवज्ञ के भतीजे थे। इन्होंने मुहूर्त चिन्तामणि की पीयूषधारा टीका काशी में शक १५२५ (१६०३ ई०) में लिखी थी। ये ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, साहित्य, आदि में निपुण थे और १४७१ शक के आश्विन शुक्ल ७ रविवार पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे।

विष्णु

विदर्भ देश में पाथरी नाम का एक प्रसिद्ध गाँव है जिससे पच्छिम १० कोस पर गोदा नदी के उत्तर किनारे पर गोलग्राम एक गाँव है। इसमें एक कुल ऐसा था जिसमें बहुत से विद्वान और ग्रंथकार हो गये हैं। विष्णु इसी कुल के थे। इनका लिखा सौरपक्षीय एक करण ग्रंथ है जिसका आरम्भवर्ष शक १५३० है। इसकी टीका उदाहरण के साथ इनके भाई विश्वनाथ ने शक १५४५ में की थी। सिद्धांत-तत्त्व-विवेक के कर्त्ता प्रसिद्ध कमलाकर इसी वंश के थे।

मल्लारि

मल्लारि उपर्युक्त विष्णु के वंश में थे। इन्होंने ग्रहलाघव पर उपपत्ति सहित एक सुन्दर टीका लिखी है जिससे जान पड़ता है कि वेध के कामों में ये बड़े निपुण थे और समझते थे कि प्राचीन ज्योतिष ग्रंथों में गणना का जो भेद पड़ जाता है उसका कारण क्या है और बीज-संस्कार की आवश्यकता क्यों पड़ती है। इन्होंने अपना समय नहीं लिखा है परंतु सुधाकर द्विवेदी का मत है कि ये शक १४९३ में उत्पन्न हुए होंगे।

विश्वनाथ

विश्वनाथ भटोत्पल के समान टीकाकार थे और पूर्ववर्णित गोलग्राम में उत्पन्न हुए थे। ताजिक नीलकंठी की टीका में वे लिखते हैं कि शक १५५१ (१६२९ ई०) में यह टीका पूरी हुई थी। विष्णुकृत करण ग्रन्थ की टीका १५४५ में की गयी थी। इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं वे शक १५३४ के हैं। इनके उदाहरण मुख्यतः १५०८, १५३०, १५३२, १५४२ और १५५५ शक के हैं।

इन्होंने सूर्यसिद्धांत पर गहनार्थप्रकाशिका तथा सिद्धांतशिरोमणि, करण-कुतूहल, मकरंद, ग्रहलाघव, गणेश दैवज्ञ कृत पातसारणी, अनंत सुधारस, और रामविनोद करण पर टीकाएँ तथा नीलकंठी पर समातंत्रप्रकाशिका टीका (शक १५५१) लिखी हैं। इन सब ग्रंथों को इन्होंने काशी में लिखा था।

नृसिंह

नृसिंह भी गोलग्राम के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुए थे और अपने चाचा विष्णु तथा मल्लारि से शिक्षा पायी थी। शक १५३३ में सूर्यसिद्धांत पर सौरभाष्य नामक टीका उपपत्ति के साथ तथा सिद्धांतशिरोमणि पर वासना वार्तिक टीका १५४३ शक में लिखी थी, जिनमें पर्याप्त विशेषता है जिससे प्रकट होता है कि यह गणित ज्योतिष में बड़े निपुण थे।

रंगनाथ

रंगनाथ विदर्भ प्रान्त के पयोष्णी नदी के तीर पर दधिग्राम के प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने सूर्यसिद्धांत पर गूढ़ार्थप्रकाशिका टीका लिखी है, जो शक १५२५ (१६०३ ई०) में, जिस दिन इनके पुत्र मुनीश्वर का जन्म हुआ था, प्रकाशित हुई थी। ये ज्योतिष सिद्धान्त के अच्छे आचार्य थे, क्योंकि अपनी टीका उपपत्ति सहित लिखी है।

मुनीश्वर

मुनीश्वर रंगनाथ के पुत्र थे और शक १५२५ में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने लीलावती पर निसृष्टार्थदूती लीलावती-विवृति नामक टीका, सिद्धान्त शिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय पर मरीचि नामक टीका और सिद्धांत सार्वभौम नामक स्वतंत्र सिद्धांत ग्रन्थ शक १५६८ में रचा था। गणक तरंगिणी के अनुसार इन्होंने पाटीसार नामक स्वतंत्र गणित पर भी पुस्तक लिखी थी। ये प्रसिद्ध भास्कराचार्य के बड़े

प्रशंसक थे। सिद्धांत सार्वभौम के वर्षमान, ग्रहभगण, आदि सूर्यसिद्धांत से लिये गये हैं।

इनका दूसरा नाम विश्वरूप था। ये शाहजहाँ बादशाह के आश्रय में थे और उनके राज्यभिषेक का समय अपनी पुस्तक में लिखा है।

दिवाकर

दिवाकर गोलग्राम के प्रसिद्ध ज्योतिषियों के कुल में शक १५२८ में उत्पन्न हुए थे। शक १५४७ में जातक मार्गपद्म नामक जातक ग्रंथ लिखा था। केशवी जातक पद्धति पर प्रौढ़मनोरमा टीका भी इन्हीं की लिखी हुई है। इन्होंने शक १५४१ में मकरंदसारिणी पर मकरंद विवरण नामक उदाहरण सहित टीका भी लिखी थी।

कमलाकर

कमलाकर ज्योतिष के एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनका जन्म शक १५३० (१६०८ ई०) के लगभग हुआ था।

सिद्धांततत्त्वविवेक—यह कमलाकर का प्रसिद्ध सिद्धांत का ग्रंथ है, जिसे इन्होंने काशी में शक १५८० में प्रचलित सूर्यसिद्धान्त के अनुसार लिखा था जिसमें बहुत-सी नवीन बातों का समावेश है, परंतु इन्होंने लिखा है कि सूर्य-सिद्धांत की गणना से यदि वेधसिद्ध गणना में अंतर दिखाई पड़े तो भी उसमें बीज-संस्कार करके गणना न करनी चाहिए। एक प्रकार से इन्होंने अमावस्या, पूर्णिमा आदि की परिभाषा ही बदल दी; अमावस्या वह क्षण नहीं रह गयी जब सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों का अंतर वस्तुतः शून्य हो; अमावस्या वह क्षण हो गयी जब सूर्य-सिद्धांत के अनुसार सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों का अंत शून्य निकले। इस प्रकार यह भी संभव हो गया कि सूर्य-ग्रहण का मध्य अमावस्या से कई घंटे बाद या पहले हो! इस विषय पर इनके वचन[1] सूर्यसिद्धांत के अंधभक्त बड़े जोरों से अपने समर्थन में उपस्थित करते हैं। इन्होंने भास्कराचार्य और मुनीश्वर की कई ठीक बातों का खंडन केवल इसलिए किया है कि ये सूर्यसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। स्पष्ट है कि कमलाकर के समय में ज्योतिष का पतन इतना हो चुका था कि उन्नति करना भी पाप समझा जाने लगा।

[1] अदृष्टफलसिद्ध्यर्थं निर्बीजार्कोक्तमेव हि।
गणितं यद्धि दृष्टार्थं तदृष्टयुद्भवतः सदा ॥
मध्यमाधिकार, ३२६।

सिद्धांत तत्त्व विवेक में कुछ नयी बातें भी लिखी गयी हैं, जिनसे पता चलता है कि ये विदेशी ज्ञान को एक हद तक अपनाना अनुचित नहीं समझते थे। किसी भारतीय ज्योतिष ग्रंथ में ध्रुवतारा के चलने की बात नहीं लिखी है, परंतु इन्होंने लिखी है। स्थानों के पूरब-पच्छिम अंतर को पुराने ज्योतिषी रेखांश या देशान्तर कहते थे परंतु इन्होंने इसका नाम 'तूलांश' रक्खा है, जो फारसी के 'तूल' (लंबाई) शब्द से निकला है। विषुववृत्त पर खालदात्त नगर को मुख्य याम्योत्तर वृत्त पर समझ कर २० नगरों के अक्षांश और तूलांश दिये गये हैं जिसके अनुसार कुछ नगरों के अक्षांश और तूलांश नीचे दिये जाते हैं :—

	अक्षांश		तूलांश	
	अंश	कला	अंश	कला
उज्जयिनी	२२	१	११२	०
इंद्रप्रस्थ	२८	१३	११४	१८
सोमनाथ	२२	३५	१०६	०
काशी	२६	५५	११७	२०
लखनऊ	२६	३०	११४	१३
कन्नौज	२६	३५	११५	०
लाहौर	३१	५०	१०९	२०
काबुल	३४	४०	१०४	०
समरकंद	३९	४०	९९	०

इसमें स्वयं काशी का अक्षांश डेढ़ अंश के लगभग अशुद्ध है। तूलांशों में भी २ अंश तक न्यूनता और अधिकता है। खालदात्त का औसत देशांतर यहाँ के आँकड़ों से ३४° ५२′ ग्रिनिच से पश्चिम निकलता है। वहाँ भूमध्य रेखा पर कोई नगर नहीं है। निकटतम नगर जिसका नाम संभवतः खालदात्त हो सकता है काबेडेल्लो है जिसका देशांतर ३४° ५०′ पश्चिम और अक्षांश ७°०′ दक्षिण है।

इन्होंने तुरीययंत्र से वेध करने की रीति विस्तार के साथ लिखी है। यह भी लिखा है कि सूर्यग्रहण काल में चंद्रमा पर रहनेवालों को पृथ्वी पर ग्रहण लगा हुआ दिखायी पड़ता है जो बिलकुल ठीक है। मेघ, भूकंप, उल्कापात का कारण भी लिखा है जो कुछ-कुछ ठीक है। अंकगणित, रेखागणित, क्षेत्रविचार, ज्यासाधन की रीतियाँ कई बातों में बिलकुल नयी हैं। अधिकांश सिद्धांत ग्रंथों में ३४३८ की त्रिज्या के अनुसार ज्याओं की सारणी दी गयी है, परंतु इसमें त्रिज्या ६० मान कर

प्रत्येक अंश की ज्या दी गयी है जो गणना के लिए बड़ी सुगम है। ग्रह के भोगांश से विषुवांश निकालने की सारणी भी है। यह बात किसी और सिद्धांत ग्रंथ में नहीं है। इन सब नवीन बातों को लिखते हुए भी यह ज्योतिष की शोध के बिलकुल विरुद्ध थे यह दुःखजनक बात है।

पूर्वलिखित मुनीश्वर इनके समकालीन थे और दोनों एक दूसरे के प्रबल विरोधी थे। मुनीश्वर भास्कराचार्य के पक्ष में थे और ये सूर्यसिद्धांत के पक्ष में।

सिद्धांततत्त्वविवेक ज्योतिष की आचार्य परीक्षा में नियत है और इस पर प्रतापगढ़ (अवध) के मेहता संस्कृत विद्यालय के ज्योतिष के अध्यापक पं० गंगाधर मिश्र ज्योतिषाचार्य की अच्छी टीका है। इसका एक संस्करण सुधाकर द्विवेदी और मुरलीधर झा की टिप्पणी सहित ब्रजभूषणदास कंपनी ने सन १९२४ में प्रकाशित किया था।

नित्यानंद

नित्यानंद कुरुक्षेत्र के समीप इंद्रपुरी के रहने वाले थे और संवत् १६९६ (१६३९ ई०) में सिद्धांतराज नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें गोलाध्याय और गणिताध्याय के प्रायः सब अधिकार हैं। विशेषता यह है कि इसमें वर्षमान सायन है और इसी के अनुसार ग्रहों के भगणों के मान दिये गये हैं और मीमांसाध्याय में कहा गया है कि सायन मान ही देवर्षि के मत के अनुसार ठीक है, निरयण नहीं। इनके अनुसार एक कल्प में सावन दिनों की संख्या १५७७८४७७४८१०१ है। इसलिए १ वर्ष में ३६५·२४२५३४२८ दिन अथवा ३६५ दिन १४ घड़ी ३३ पल ७·४०४४८ विपल होते हैं। इस समय सूक्ष्म यंत्रों से निकाला हुआ सायन वर्ष का मान ३६५ दिन १४ घड़ी ३१ पल ५३·४२ विपल है।

ग्रहों को स्पष्ट करने के लिए बीज-संस्कार करने को भी कहा गया है।

भग्रहयुत्यधिकार में ८४ तारों के भोगांश और शर दिये गये हैं।

अध्याय १६

जयसिंह और उनकी वेधशालाएँ

जीवनचरित्र

महाराज सवाई जयसिंह द्वितीय जयपुर के थे और उनका जन्म १६८६ ई०[1] में हुआ था[2]। तेरह वर्ष की आयु में वे अंबर राज की गद्दी पर बैठे। उसके थोड़े ही वर्ष बाद औरंगज़ेब का देहांत हुआ। अपना राज स्थापित करने में उन्हें पहले तो कठिनाई हुई, परंतु १७०८ में उन्होंने पूरे प्रांत पर अपना अधिकार कर लिया। १७१९ में मुहम्मदशाह ने उन्हें आगरा प्रांत का शासक नियुक्त किया और कुछ ही काल बाद मालवा का। उनकी मृत्यु १७४३ में हुई।

जयसिंह का काल अत्यंत अशांतमय था, परंतु उन्होंने अधिकतर चाणक्य नीति से काम लिया और सफलता पायी। उन्होंने नयी राजधानी स्थापित की, जिसका नाम जयनगर अथवा जयपुर पड़ा। उनके समय में वह विद्या का केंद्र बन गया। उन्होंने बहुत-सी धर्मशालाएँ और सराय बनवाये, और पाँच प्रमुख नगरों में ज्यौतिष वेधशालाएँ बनवायीं। उन्होंने वैज्ञानिक अन्वेषण का नवीन मार्ग खोज निकाला और उसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। इस बारे में उनकी लगन आज भी अनुकरणीय है। उनकी वेधशालाएँ भारतीय इतिहास के अंधकार-मय काल में परम उज्ज्वल प्रकाश-स्तंभ की तरह उत्पन्न हुईं।

बाल्यकाल से ही जयसिंह को ज्योतिष से प्रेम था और, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है, सदा अनुशीलन करते रहकर इसके सिद्धांतों और नियमों का प्रगाढ़ ज्ञान

[1] यह वही वर्ष है जिसमें प्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक न्यूटन की प्रिंसिपिया नामक पुस्तक समाप्त हुई। इस पुस्तक में गति-विज्ञान के आधुनिक सिद्धांत हैं।

[2] इस अध्याय की अधिकांश बातें के महोदय द्वारा लिखित 'ए गाइड टु दि ऑबजर्वेटरीज़ ऐट दिल्ली, जयपुर, उज्जैन ऐंड बनारस' से ली गयी हैं।

उन्होंने प्राप्त किया। परंतु उन्होंने देखा कि उस समय की सारणियों से गणना करने पर परिणाम दृक्तुल्य नहीं निकलता, अर्थात उन्होंने देखा कि आकाशीय पिंडों की वेधप्राप्त और गणनाप्राप्त स्थितियों में अंतर रहता है। इसलिए उन्होंने स्वयं नवीन सारणियाँ बनाने का संकल्प किया। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने प्रत्येक रीति से सफलता पाने की चेष्टा की। उन्होंने हिंदू, मुसलिम और यूरोपियन ग्रंथों का अध्ययन किया। कई विदेशी ग्रंथों को एकत्रित किया और उनका अनुवाद करा लिया। उन्होंने इन सब कामों के लिए कई विद्वान लगा रक्खे थे और उनमें से कुछ को तो उन्होंने विदेश भेजा कि वे वहाँ से काम सीख कर आयें। उन्होंने कुछ यूरोपियन तथा अन्य देश के ज्योतिषियों को अपने यहाँ आमंत्रित कर लिया। पहले उन्होंने दिल्ली में एक बड़ी-सी वेधशाला बनवायी और सात वर्षों तक सावधानी से वेध आदि करते रहे, जिसका मुख्य उद्देश्य था एक नवीन-तारा-सूची बनाना। पीछे उन्होंने जयपुर, उज्जैन, बनारस और मथुरा में भी वेधशालाएँ बनवायीं।

ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया

जयसिंह के लेखों से, तथा अन्य सामग्री से इस बात का पता चलता है कि वे निम्न ग्रंथों से परिचित थे : टॉलमी की अलमजेस्त; उलूगबेग की ज्यौतिष सारणियाँ; यंत्रराज (ऐस्ट्रोलेब) पर कुछ ग्रंथ; ला हायर की ज्यौतिष सारणियाँ; फ्लैमस्टीड की हिस्टोरिया सेलेस्टिस ब्रिटैनिका; यूक्लिड की ज्यामिति; समतल तथा गोलीय त्रिकोणमिति पर कुछ पुस्तकें और लघुगणक (लॉगरिथ्म) बनाने की रीति अवश्य ही उन्होंने अन्य पुस्तकें भी पढ़ी होंगी, परंतु उनका पता लगना असंभव है, क्योंकि उनका पुस्तकालय अब नष्ट हो गया है।

टॉलमी के सिनटैक्सिस नामक ग्रंथ ने यूरोप में एक हजार वर्षों तक राज किया और अरब वालों में भी अनुवाद के बाद इस ग्रंथ का राज लगभग उतने ही काल तक बना रहा। जयसिंह इस पुस्तक से अत्यंत प्रभावित थे और उन्होंने इसका अनुवाद अरबी पाठ से कराया। अनुवादकर्ता जगन्नाथ नाम के एक पंडित थे जो जयसिंह के ज्योतिषियों के प्रधान थे। जगन्नाथ ने इस पुस्तक का नाम सम्राट-सिद्धांत रक्खा। जगन्नाथ ने लिखा है कि जयसिंह को नवीन यंत्र बनाने का और नवीन रीतियाँ निकालने का बड़ा शौक था और इसमें वे बहुत चतुर थे। वेधशाला के लिए नाडी-यंत्र, गोल-यंत्र, दिगंश-यंत्र, दक्षिणोदिग्भित्ति, वृत्त-षष्ठांशक, सम्राट-यंत्र और जयप्रकाश ये यंत्र आवश्यक बताये गये हैं।

जयसिंह की सारणियाँ

ज़ीज मुहम्मदशाही नाम का सारणी-समूह जयसिंह के आदेशानुसार बना। इसका नाम उस समय के सम्राट मुहम्मद शाह के नाम पर रक्खा गया था। इस ग्रंथ की एक अपूर्ण प्रति जयपुर में है, एक संपूर्ण फारसी अनुवाद ब्रिटिश म्यूज़ियम में है। यह सारणी उलूग़ बेग की सारणी को परिशोधित करके बनायी गयी थी। भूमिका के अनुसार "उलूग बेग की सारणी ८४१ हिजरी के लिए थी। ज़ीज मुहम्मद शाही ११३८ के लिए है; अर्थात उलूग बेग की सारणी को बने २९७ वर्ष हो गये हैं। इतने समय में अयन ४ अंश ८ विकला हुआ। ज़ीज मुहम्मदशाही में क्रांति आदि का मान गोल से लिया गया है।" आगे चल कर यह लिखा है : "जयसिंह ने देखा कि तारों की स्थितियाँ प्रचलित सारणियों से, उदाहरणतः सईद गुरगानी और खाकनी की नवीन सारणियों से या तसहिलातमुल चांद अकबरशाही से, या हिंदू या यूरोपीय ग्रंथों से, अशुद्ध निकलती हैं और वेधप्राप्त स्थितियों से बहुत अंतर पड़ता है। विशेष कर अमावस्या के बाद चांद दिखायी पड़ने में गणना और आँख से देखी बात में मेल नहीं है। परंतु इन बातों पर धर्म-कर्म और राज्य की बातें आश्रित हैं। फिर, ग्रहों के उदय-अस्त में भी वेध और गणना में अंतर रहता है, सौर तथा चांद्र ग्रहणों में, और अन्य कई बातों में भी बहुत अंतर पड़ता है। तो उन्होंने परम शक्तिमान ......सम्राट (मुहम्मद शाह) से इस बात की चर्चा की। उन्होंने प्रसन्न होकर उत्तर दिया कि आप ज्योतिष के सब भेद को जानते हैं, आपने इसलाम के ज्योतिषियों और गणितज्ञों को, ब्राह्मणों और पंडितों को, तथा यूरोप के ज्योतिषियों को एकत्रित किया है और वेधशाला बनवायी है, तो आप ही इस प्रश्न को हल करने का कष्ट उठायें, जिसमें गणना से मिले समय और घटना के वस्तुतः होने के समय का अंतर मिट जाय।

"यद्यपि यह अत्यन्त कठिन कार्य था, ...तो भी उन्होंने इस आज्ञा के पालन करने के लिए कमर कसा और दिल्ली में वेधशाला के योग्य कई यंत्र बनवाये जैसे समरकंद में बने थे और जो मुसलमानी ग्रंथों के अनुसार थे, जैसे पीतल का ज़ातुन-हल्का, जिसका व्यास वर्तमान गज़ से तीन गज़ था, और ज़ातुल शब्तैन, और ज़ातुल-ज़कतैन, और सद्सफकरी और शामला।

"परंतु यह देखकर कि पीतल के यंत्र उतने सूक्ष्म वेध नहीं कर सकते थे जितना उन्होंने समझा था, क्योंकि ये यंत्र छोटे होते हैं, उनमें कला के अंक नहीं बन पाते, और उनकी धुरी घिस जाती है और उसमें हचक उत्पन्न हो जाता है, वृत्त के केंद्र हट

जाते हैं, और यंत्र के समतल विचलित हो जाते हैं, वे इस परिणाम पर पहुँचे कि हिपार्कस और टालमी के वेध में अशुद्धियाँ इन्हीं कारणों से उत्पन्न हुई होंगी ।

"इसलिए उन्होंने दारुल-खलफत शाह जहानाबाद... (दिल्ली) में अपने आविष्कार किये यंत्र बनवाये, जैसे जयप्रकाश और रामयंत्र और सम्राट-यंत्र, जिसका अर्धव्यास १८ हाथ है और जिसमें एक कला डेढ़ जौ के बराबर है । इसे पत्थर और चूने से बनवाया, तो पूर्णतया स्थिर है, और जिसके बनाने में ज्यामिति के नियमों पर ध्यान रक्खा गया और याम्योत्तर तथा स्थान के अनुसार साधा गया, और उन्हें नापने तथा स्थायी करने में सावधानी रक्खी गयी । इस प्रकार वृत्तों के हिलने, केंद्रों के हिलने तथा हटने, और कलाओं की नापों में सब असमानता दूर हो गयी । इस प्रकार वेधशाला बनाने की शुद्ध रीति स्थापित हुई और वह अंतर जो गणना-प्राप्त, वेधप्राप्त तारों और ग्रहों की स्थितियों में था दूर कर दिया गया ।

"और इन वेधों की सचाई की परीक्षा लेने के लिए उन्होंने उसी प्रकार के यंत्र सवाई जयपुर, मथुरा, बनारस और उज्जैन में बनवाये । जब ये वेधशालाएँ बन गयीं तो देशांतरों का संस्कार करने पर सब जगह के वेधों में एकता पायी गयी ।"

"...जब वेधशालाएँ बन गयीं तो तारों की स्थितियाँ प्रति दिन देखी जाने लगीं । जब इस काम में कई वर्ष बीत चुके तो समाचार मिला कि यूरोप में हाल में कई वेध-शालाएँ बनी हैं और वहाँ के विद्वान भी इसी प्रकार के काम में लगे हैं और वे बराबर परिश्रम कर रहे हैं कि ज्योतिष की सूक्ष्मताओं को शुद्धता से नापा जाय ।

"इस कारण पादरी मैन्युअल के साथ कई चतुर व्यक्तियों को उस देश में भेजा गया और नवीन सारणियाँ मँगा कर, जो तीस ही साल पहले रची गयी थीं, ... और उसके पहले की भी सारणियाँ मँगा कर और उनकी जाँच करके वेधों से तुलना की गयी, तो पता चला कि चंद्रमा की स्थिति में आधे अंश का अंतर पड़ता है । ... इसलिए वे इस परिणाम पर पहुँचे कि यूरोप के यंत्र उतनी नाप के और उतने बड़े व्यास के नहीं बने थे; इसीसे उनसे जो गतियाँ नापी गयी थीं वे पूर्णतया सच्ची नहीं थीं[१] । ..."

यंत्रराज

जयपुर में यंत्रराजों (ऐस्ट्रोलेबों) का अच्छा संग्रह है । जयसिंह ने पहले बड़े यंत्रराजों से काम लेना चाहा, परंतु ये संतोषप्रद न निकले । जयपुर में सात यंत्र-

[१] फ्लैमस्टीड का अधिकांश काम भित्ति-यंत्र से हुआ था, जिसका अर्धव्यास ७ फुट था । फ्लैमस्टीड के पास दो दूरदर्शक भी थे ।

राज हैं जिनकी रचना सब एक प्रकार की नहीं है। साधारण यंत्र में धातु का एक वृत्त होता है जो अंकित रहता है और एक कड़ी से लटकता रहता है। उस पर एक पट्टी घूम सकती है जिसको आकाशीय पिंड की दिशा में साधा जाता है। इस प्रकार उस पिंड का उन्नतांश ज्ञात हो जाता है।

अरब वाले बहुत पहले से ही अच्छे यंत्रराज बनाने लग गये थे। सत्रहवीं शताब्दी तक यह प्रधान यंत्र था। साधारणतः यह पीतल का बनता था और इसका व्यास २ इंच से लेकर कई फुट तक होता था। अच्छे यंत्रराजों में गणना की सुविधा के लिए कई पत्र रहते हैं जिन पर विशेष रेखाएँ खिंची रहती हैं। इनसे लेखाचित्रीय रीतियों से वही फल प्राप्त किया जा सकता है जो लंबी गणना से प्राप्त होती। संक्षेप में यंत्रराज की रचना निम्न प्रकार की होती है :

यंत्रराज का उदर : यह धातु का गोल पत्र होता है जिसकी बारी उठी हुई होती है, अर्थात यह छिछली थाली के समान होता है। यंत्र के अन्य भाग इसी में डाले जाते हैं। इसको अरबी में उम्म कहते हैं।

उम्म के भीतर जाने योग्य एक वृत्ताकार पत्र में झँझरी की तरह कटा रहता है। देखने में ऐसा जान पड़ता है कि बहुत-सी पत्तियाँ बनी हैं, परंतु ये पत्तियाँ अनियमित स्थितियों में नहीं रहतीं। प्रत्येक पत्ती की नोक सावधानी से ठीक स्थान पर बनायी जाती है और किसी तारे की स्थिति सूचित करती है। उम्म के भीतर रेखाएँ खिंची रहती हैं, या उम्म के भीतर डाले जाने वाले पत्र पर रेखाएँ खिंची रहती हैं जो झँझरी के खुले भागों से दिखायी पड़ती हैं। इस प्रकार तारों के निर्देशांक पढ़े जा सकते हैं। इस झँझरी वाले पत्र को अरबी में अंकबूत कहते हैं।

यंत्रराज की पीठ पर धातु की एक पट्टी घूमती है। इस पट्टी के प्रत्येक सिरे पर समकोण बनाती हुई एक छोटी पट्टी होती है। इन दो छोटी पट्टियों में एक-एक छेद होता है। तारे को इन्हीं छेदों में से देखा जाता है। इस प्रकार लंबी पट्टी, जिसे अरबी में अलहिदाद कहते हैं, किसी भी तारे की दिशा में कर दी जा सकती है। इसे हम दर्शनी कहा करेंगे।

ऊपर बताये गये वृत्ताकार धातु पत्र और दर्शक एक कील के बल घूमते हैं जिसे अरबी में कुत्ब कहते हैं। इस उद्देश्य से कि कील निकल न पड़े उसमें चौकोर छेद करके एक कीलक पहना कर कस दिया जाता है। इस कीलक का मुंड बहुधा घोड़े के मुंड की आकृति का बना दिया जाता था। इसी से अरब वाले इसे फरस (= घोड़ा) कहते थे।

कुल यंत्र एक छल्ले से लटका रहता है। यह छल्ला उस घुंडी में पिरोया रहता है जो उम्म की बारी में जड़ा रहता है।

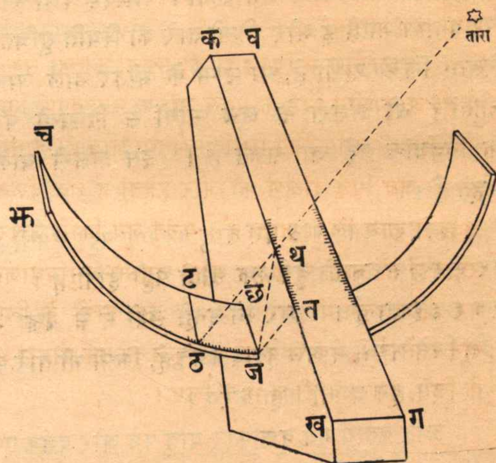
यंत्र की पीठ पर, जिधर दर्शनी रहती है, अंश आदि अंकित रहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य रेखाएँ या सारणियाँ रहती हैं जिनका चुनाव यंत्र बनाने वाले या बनवाने वाले की इच्छा पर निर्भर है।

यंत्र का नापने वाला भाग तो केवल पीठ पर लगी दर्शनी और पीठ पर अंकित अंश आदि ही है। अन्य सब भाग केवल गणना की सुविधा के लिए रहते हैं।

सम्राट यंत्र

जयसिंह ने जिन यंत्रों को अपने ढंग का बनवाया वे थे सम्राट यंत्र, जयप्रकाश और रामयंत्र। प्रत्यक्ष है कि जयप्रकाश का नाम जयसिंह के नाम पर पड़ा। रामयंत्र का नाम जयसिंह के एक पूर्वज रामसिंह के नाम पर था। इन तीनों यंत्रों में से अधिकतम महत्त्व का सम्राट यंत्र था। नाम से भी इतना स्पष्ट हो जाता है।

इस यंत्र से प्रत्येक क्षण आकाशीय पिंड संबंधी दो कोण पढ़े जा सकते हैं, एक तो होराकोण और दूसरा वह जिसे क्रांति कहते हैं। होराकोण पढ़ने के लिए सम्राट यंत्र में बेलनाकार वक्रतल पर अंशांकन खुदे रहते हैं, और क्रांति पढ़ने के लिए सीधे समतल पर। यंत्र का स्वरूप बगल के चित्र में दिखाया गया है। यंत्र मध्य समतल के हिसाब से सममित है, अर्थात यंत्र जैसा बायीं ओर है, ठीक वैसा ही दाहिनी ओर भी है। अब यदि हम एक ओर के भाग पर, मान लें बायीं ओर वाले भाग पर, विचार करें तो हम देखते हैं कि खड़ी भीत (दीवार) की एक कोर **क ख** पृथ्वी के अक्ष के ठीक समानांतर है। **च छ ज झ** एक बेलनाकार



सम्राट-यंत्र।
इस यंत्र से तारों के विषुवांश और क्रांतियाँ नापी जाती हैं।

पृष्ठ है जिसका अक्ष **क ख** है। जब सूर्य याम्योत्तर[1] में रहता है तो कोर **क ख** की परछाईं (प्रतिच्छाया) ठीक जड़ **छ ज** पर पड़ती है, परंतु इसके कुछ समय पहले **च छ** और **छ ज** के बीच कहीं पड़ेगी। मान लो तब **क ख** की परछाईं **ट ठ** पर पड़ती है। तो बारी (किनारा) **च छ** पर खुदे अंशांकनों से ठीक पता चल जाता है कि कितने घंटों में सूर्य मध्याह्न पर आयेगा। यही होराकोण है[2]।

कोर **क ख** पर अँगुली या छड़ी रख कर और उसे आवश्यकतानुसार **क** या **ख** की दिशा में हटा कर पता लगाया जा सकता है कि कोर के किस विंदु की परछाईं विंदु **ट** पर पड़ रही है। मान लो कि पता चला कि वह विंदु **थ** है। फिर मान लो कि विंदु **छ** से रेखा **क ख** पर गिराया गया लंब रेखा **छ त** है। तो **क ख** पर खुदे हुए अंशांकनों को पढ़ने से कोण **त छ थ** का मान ज्ञात हो जाता है। यही क्रांति है।

यदि सूर्य के बदले किसी तारे का वेध करना हो तो **च छ** के ऐसे विंदु पर आँख लगा कर देखना होगा कि वह तारा रेखा **क ख** पर दिखायी पड़े, अर्थात वह समतल **ट क ख** में रहे; फिर पता लगाना होगा कि **क ख** का कौन-सा विंदु तारे के सीध में है। तब **ट छ** और **त थ** के मानों से तारे का होराकोण और क्रांति इन दोनों का पता चल जायगा।

होराकोण से विषुवांश की गणना की जा सकती है, और विषुवांश और क्रांति ये ही आकाशीय पिंड के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निर्देशांक हैं। इनके ज्ञात हो जाने पर आकाश में पिंड की स्थिति पूर्णतया ज्ञात हो जाती है।

जब पिंड दक्षिण की ओर रहता है तब बेलनाकार पृष्ठ **च छ ज झ** की बारी **च छ** से काम लिया जाता है; परंतु जब किसी उत्तर की ओर के पिंड का वेध करना रहता है तो बारी **च छ** पर आँख लगाना असुविधाजनक होता है। तब बारी **ज झ** पर आँख लगायी जाती है। इस बारी के लिए भी कोर **क ख** पर अंशांकन खुदे रहते हैं। **क ख** के बीच में कुछ दूर तक दोहरा अंशांकन रहता है, एक बारी **च छ** के लिए, दूसरा बारी **ज झ** के लिए।

[1] उत्तर, दक्षिण और शिरोविंदु से होकर जाने वाले समतल को याम्योत्तर कहते हैं।

[2] होराकोण वह है जो बताता है कि इष्ट से कितने घंटे बाद सूर्य (अथवा अन्य आकाशीय पिंड) याम्योत्तर में आयेगा।

जब आकाशीय पिंड याम्योत्तर के पश्चिम रहता है तब दाहिनी ओर के बेलनाकार खंड का प्रयोग किया जाता है और कोर **ग घ** के अंशांकनों को पढ़ा जाता है।

कोर **क ख** और **ग घ** के अंशांकनों को पढ़ सकने के लिए **क ख** और **ग घ** के बीच सीढ़ी लगी रहती है। इसी प्रकार **च छ**, **ज झ**, इत्यादि की बगल में भी कोई प्रबंध रहता है कि वहाँ तक द्रष्टा सुगमता से पहुँच सके। दिल्ली के सम्राटयंत्र का उत्तर-दक्षिण विस्तार १२० फुट है, पूरब-पच्छिम विस्तार १२५ फुट और ऊँचाई ६८ फुट।

इस यंत्र से धूप-घड़ी का काम भी निकल सकता है, परंतु यदि पाठक कभी अपनी घड़ी को ऐसे यंत्र से मिलाना चाहे तो उसे स्मरण रखना चाहिए कि धूप-घड़ी और साधारण घड़ी के समयों में अंतर रहता है। यह अंतर घटा-बढ़ा करता है और घड़ी के समय से धूप-घड़ी का समय कभी आगे रहता है, कभी पीछे। महत्तम अंतर १६½ मिनट तक पड़ सकता है।

जयप्रकाश

जयप्रकाश यंत्र वस्तुतः एक गोले का आधा भाग होता है जिसके भीतरी पृष्ठ पर रेखाएँ खुदी रहती हैं और अंशांकन भी रहते हैं। गोले के केंद्र को निर्धारित करने के लिए दो तार तने रहते हैं, जिनका मिलन-विंदु गोले के ठीक केंद्र पर रहता है। इस विंदु की परछाईं देखकर बताया जा सकता है कि सूर्य के निर्देशांक (जैसे होराकोण और क्रांति) क्या हैं। यदि परछाईं कटे हुए भागों में कहीं पड़ रही हो तो ठीक उसी प्रकार के सहयोगी यंत्र को देखा जाता है जिसमें ठीक वे भाग बने रहते हैं जो पहले यंत्र में कटे रहते हैं।

ग्रहों और तारों का वेध कर सकने के लिए गोले के पृष्ठ से कुछ भाग काट कर निकले रहते हैं। इस प्रकार वेधकर्ता उचित स्थान पर आँख लगा कर देख सकता है कि जब आँख, केंद्र और तारा तीनों एक ही सीध में रहते हैं तब आँख किन अंशांकनों पर रहती है।

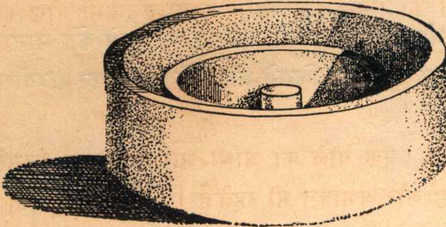
रामयंत्र

रामयंत्र में एक बेलनाकार ऊर्ध्वाधर भीत होती है और उस पर अंशांकन रहते हैं। बीच में एक ऊर्ध्वाधर स्तंभ रहता है जिसकी परछाईं देखी जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि सूर्य का उन्नतांश इतना बढ़ जाय कि परछाईं भीत पर न

पड़कर यंत्र के फर्श पर पड़े। इसलिए फर्श पर भी अंशांकन रहते हैं। तारों का भी वेध संभव हो सके इस उद्देश्य से भीत और फर्श दोनों थोड़ी-थोड़ी दूर पर कटे रहते हैं। फर्श भूमि से लगभग कमर की ऊँचाई पर बना रहता है। इस प्रकार उचित स्थान पर आँख लगायी जा सकती है। इस यंत्र से आकाशीय पिंडों के उन्नतांश (ऊँचाई) और दिगंश (दिशा) ये दोनों निर्देशांक सुगमता से जाने जा सकते हैं। जयप्रकाश यंत्र की तरह इस यंत्र में भी एक जोड़ी यंत्रों की आवश्यकता पड़ती है, जिनमें से एक में ठीक वे ही भाग कटे रहते हैं जो दूसरे में नहीं कटे रहते।

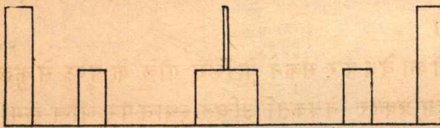
दिगंश-यंत्र

दिगंश-यंत्र में दो बेलनाकार ऊर्ध्वाधर भीतें एक के भीतर एक रहती हैं और उनके केंद्र में खड़ा स्तंभ रहता है। स्तंभ लगभग ४ फुट ऊँचा होता है, भीतरी भीत



दिगंश-यंत्र, काशी

इससे दिगंश नापा जाता है।





दिगंश-यंत्र, काशी।

इसमें पूर्वोक्त यंत्र की काट दिखायी गयी है।

ठीक उतनी ही ऊँची होती है और बाहरी उसकी दुगुनी ऊँचाई की। दोनों भीतों

के सिरे अंशांकित रहते हैं। भीतरी दीवार के सिरे पर आँख लगा कर देखा जाता है। केंद्रीय स्तंभ में लोहे की सीधी खड़ी छड़ रहती है जिसका ऊपरी सिरा ठीक उतनी ही ऊँचाई पर रहता है जितनी बाहरी भीत की ऊँचाई होती है। इस यंत्र से दिगंश (दिशा) नापी जाती थी।

नाडीवलय-यंत्र

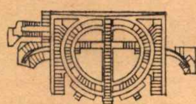
नाडीवलय-यंत्र वृत्ताकार पत्थर होता है, जिसके दोनों पृष्ठ समानांतर और ठीक आकाशीय विषुवत के समतल में रहते हैं। इससे तुरंत पता चल जाता है कि सूर्य (या अन्य पिंड) विषुवत के उत्तर है या दक्षिण। दिन में बीच की कील की छाया देखकर समय भी जाना जा सकता है।

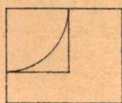
दक्षिणोवृत्ति यंत्र

याम्योत्तर में बनी भीत पर कील लगी रहती है और इसे केंद्र मान कर दीवार पर एक अंशांकित वृत्त खिंचा रहता है, जिससे आकाशीय पिंडों का याम्योत्तर उन्नतांश

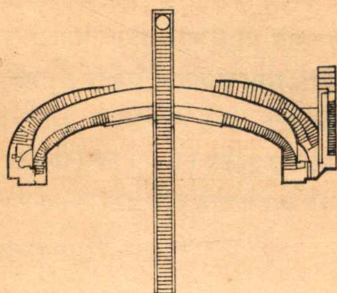
दक्षिणोवृत्ति यंत्र, काशी।
इससे याम्योत्तर उन्नतांश नापा जाता है।

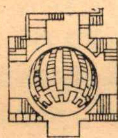
नापा जा सकता है। इसी को दक्षिणीवृत्ति यंत्र कहते हैं। सुविधा के लिए पूरे वृत्त के बदले वृत्त का केवल चतुर्थांश ही खिंचा रहता है और शिरोविंदु के उत्तर और

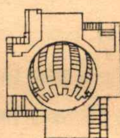


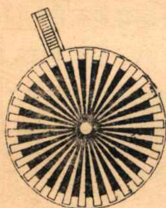


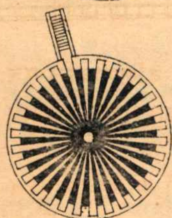


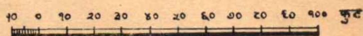












जंतर-मंतर, दिल्ली।

यह वेधशाला आज भी सुरक्षित अवस्था में है।

दक्षिण दोनों ओर वेध कर सकने के लिए दो कीलें और दो वृत्त-चतुर्थांश बने रहते हैं।

षष्ठांश यंत्र

षष्ठांश यंत्र में एक अँधेरी कोठरी में वृत्त का छठाँ हिस्सा याम्योत्तर-समतल में बनी भीत पर अंकित रहता है। सूर्य की रश्मियाँ एक छिद्र से आती हैं। वे कहाँ पड़ती हैं, यह देखकर सूर्य का उन्नतांश जाना जा सकता है।

मिश्र यंत्र

मिश्र यंत्र सम्राट यंत्र की तरह होता है, परंतु बीच वाली सीढ़ी और भीतों की अगल-बगल अंशांकित दो या अधिक अर्धवृत्त होते हैं जिसके समतल क्षैतिज नहीं होते। दिल्ली में जो मिश्र यंत्र है उसमें प्रत्येक ओर दो अर्धवृत्त हैं। एक अर्धवृत्त ग्रिनिच प्रदर्शित करता है, दूसरा ज्यूरिच (जरमनी) का। इस प्रकार इस यंत्र से दिल्ली में बैठे वे वेध किये जा सकते हैं जो ग्रिनिच या ज्यूरिच में सम्राट यंत्र से हो सकते हैं।

दिल्ली और जयपुर की वेधशालाएँ

जयसिंह की प्रत्येक वेधशाला में पूर्वोक्त सब यंत्र नहीं हैं। दिल्ली में एक सम्राट-यंत्र, एक जोड़ी जयप्रकाश, एक जोड़ी राम यंत्र और एक मिश्र यंत्र केवल ये ही हैं। मिश्र यंत्र की पूर्व भीत पर दक्षिणोवृत्ति यंत्र भी बना है। मिश्र यंत्र की उत्तर वाली भीत ऊर्ध्वाधर होने के बदले उससे ५° का कोण बनाती है। इस भीत पर एक बड़ा-सा अंशांकित वृत्त बना है। इसे कर्कराशि-वलय कहते हैं। जब सूर्य विषुवत से महत्तम उत्तर दूरी पर (कर्क राशि में) पहुँचता है तो वह इस भीत के धरातल से कुछ कला (लगभग १० कला) उत्तर चला जाता है और इसलिए कुछ दिनों तक इस भीत पर धूप पड़ती है और केंद्रीय कील की परछाहीं अंशांकित वृत्त पर पड़ती है। इस यंत्र से प्रत्यक्ष हो जाता है कि दक्षिणायन कब से आरंभ हुआ।

दिल्ली की वेधशाला बहुत कुछ टूट-फूट गयी थी, परंतु १८५२ में जयपुर के राजा ने यंत्रों की मरम्मत करवा दी। १९१० में जयपुर के महाराजा ने वेधशाला का पुनरुद्धार कराया। इस कार्य में कुछ यंत्रों को फिर से बनवाना पड़ा और प्रायः सभी अंशांकनों को फिर से अंकित करना पड़ा। खेद है कि अधिकांश अंकन चूने में किये गये और फिर मिट रहे हैं।

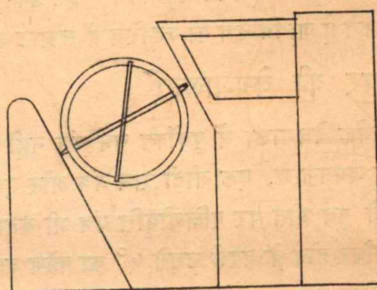
जयपुर की वेधशाला सुरक्षित दशा में है। यहाँ पत्थर आदि के बड़े यंत्रों के अतिरिक्त धातु के भी कई यंत्र हैं। संग्रहालय (म्यूज़ियम) में अन्य कई यंत्र भी हैं,

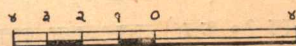
जो निस्संदेह जयसिंह द्वारा संगृहीत हुए थे। जयपुर में सम्राट-यंत्र, षष्ठांश यंत्र, राशिवलय यंत्र, जयप्रकाश, कपाल, रामयंत्र, दिगंश-यंत्र, नाडीवलय-यंत्र, दक्षिणोवृत्ति यंत्र, दो बड़े यंत्र राज, १७½ व्यास का पीतल का उन्नतांश चक्र यंत्र और क्रांतिवृत्त यंत्र हैं।

राशिवलय यंत्र सम्राट यंत्रों की तरह बने बारह यंत्रों का समूह है। एक-एक राशि के लिए एक-एक यंत्र बना है। इनमें चतुर्थांश बेलनाकार अंशांकित खंड विषुवत के धरातल में न होकर ऐसे धरातलों में है कि जब यंत्र की विशेष राशि क्षितिज के ऊपर आती है तो उसका धरातल यंत्र के धरातल में रहता है।

कपाल बहुत कुछ जयप्रकाश की तरह है, परंतु इससे "उदय होते समय राशियों का वेध किया जाता है।"

चक्र यंत्र में छः फुट व्यास का धातु का एक अंशांकित चक्र है, जिसकी धुरी पृथ्वी की धुरी के समानांतर है। चक्र पर दर्शनी लगी है। वस्तुतः यह आधु-



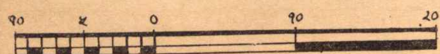


चक्र यंत्र, काशी।

इस धातु के बने यंत्र से विषुवांश और क्रांति
की नाप हो सकती है।

निक इक्विटोरियल यंत्र की तरह है; अंतर केवल इतना ही है कि इसमें दूरदर्शी के बदले सरल दर्शनी है।

क्रांतिवृत्त यंत्र में पीतल के दो वृत्त हैं, जिनमें से एक सदा विषुवत के धरातल में रहता है और दूसरा रविमार्ग के धरातल में लाया जा सकता है। सिद्धांततः



मानमंदिर, काशी।

जयसिंह की बनवायी यह वेधशाला आज भी देखी जा सकती है।

इससे भोगांश और शर नापे जा सकते हैं, परंतु यह भद्दा यंत्र है और इससे नापें सूक्ष्म नहीं हो पाती हैं।

अन्य यंत्रों का वर्णन पहले दिया जा चुका है। जयपुर का सम्राट-यंत्र बहुत भव्य यंत्र है। यह ९० फुट ऊँचा है और १४७ फुट लंबा। इसके बेलनाकार चतुर्थांशों की त्रिज्या ४९ फुट १० इंच है। इसके अंशांकनों से एक विकला तक नाप संभव है, परंतु वस्तुतः इतनी सूक्ष्मता नहीं आ पाती, क्योंकि परछाईं पर्याप्त तीक्ष्ण नहीं पड़ती।

काशी की वेधशाला

काशी में जयसिंह की बनवायी वेधशाला मानमंदिर की छत पर है। मानमंदिर को अंबर-नरेश मानसिंह ने बनवाया था। वेधशाला मणिकर्णिका घाट के पास है और साधारणतः वेधशाला ही को लोग अब मानमंदिर कहते हैं। वहाँ ये प्रधान यंत्र हैं: (१) सम्राट-यंत्र, (२) नाडीवलय-यंत्र, (३) दिगंश-यंत्र और (४) चक्र-यंत्र।

सम्राट-यंत्र काशी में वैसा ही बना है जैसा अन्य वेधशालाओं में, परंतु नाप में यह जयपुर के सम्राट-यंत्र से छोटा है। इसकी ऊँचाई २२ फुट ३½ इंच है, और तिरछी कोर, जिसकी परछाईं देखी जाती है, ३९ फुट ८½ इंच लंबी है। प्रत्येक चतुर्थांश की त्रिज्या ९ फुट १½ इंच है। तिरछी कोर और चतुर्थांशों की बारियाँ पत्थर की हैं और अंशांकन सावधानी से बने हैं। चतुर्थांशों पर आधे घंटे वाले चिह्नों पर धातु के छोटे वृत्त लगे हैं जिस पर अंक खुदे हैं। उत्तर वाली बारी पर देवनागरी अंक हैं, दक्षिण वाली पर अँग्रेज़ी अंक। चतुर्थांशों के अंकन मिनट की चौथाई तक बने हैं; साथ ही वे अंश और अंश के दशम भी बताते हैं।

पूरब वाली खड़ी भीत पर दक्षिणोत्तृत्ति-यंत्र बना हुआ है। इस यंत्र के प्रत्येक चतुर्थांश की त्रिज्या १० फुट ७ इंच है। एक पृथक बना हुआ दक्षिणोत्तृत्ति-यंत्र भी है।

एक छोटा सम्राट-यंत्र भी है, जिसकी ऊँचाई केवल सवा आठ फुट है।

अन्य यंत्रों का ब्योरेवार वर्णन आवश्यक नहीं जान पड़ता। उनके निर्माण और प्रयोग की विधि पहले बतायी जा चुकी है।

काशी की यह वेधशाला लगभग सन १७३७ ई० में बनी थी, परंतु विविध यात्रियों और प्राचीन लेखकों ने विविध दिनांक बताये हैं, जिससे यह दिनांक बहुत पक्का नहीं माना जा सकता।

इति० १६

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में वेधशाला की एक बार मरम्मत हुई थी। १९१२ में महाराजा जयपुर ने सारी वेधशाला का पुनरुद्धार कराया और कार्य बहुत संतोष-जनक रीति से हुआ।

आधुनिक यंत्रों से तुलना

बहुधा लोग यह जानना चाहते हैं कि आधुनिक यंत्रों की तुलना में जयसिंह के यंत्र कितने अच्छे ठहरते हैं। उत्तर यह है कि आधुनिक यंत्र कहीं अधिक सूक्ष्म और शुद्ध मान देते हैं। सब से छोटा यंत्र थियोडोलाइट भी, जिसमें दिगंश और उन्नतांश नापने के लिए चार इंच या पाँच इंच के वृत्त लगे रहते हैं, जयसिंह के यंत्रों से अधिक उत्तम मान देता है। कारण यह है कि इन वृत्तों का अंशांकन चाँदी पर किया जाता है जो पीतल की अपेक्षा कम रवादार होती है और ये अंशाकन इतने घने होते हैं कि उन्हें प्रवर्धक ताल द्वारा पढ़ना पड़ता है। फिर यंत्र की धुरी छेद में नहीं पिरोयी रहती है। वह अंग्रेज़ी अक्षर V की तरह द्विशूलों पर आरूढ़ रहती है। इससे धुरी में हचक हो ही नहीं पाती। फिर, यंत्र घड़ी की तरह सच्चा बनाया जाता है, और तिस पर भी उसकी सचाई पर भरोसा न करके उसकी त्रुटियों को नापा जाता है और गणना से इन त्रुटियों के प्रभाव को दूर किया जाता है। इन त्रुटियों को नापने में एक आवश्यक क्रिया यह है कि यंत्र के घूर्णशील भाग को उठाकर पलट दिया जाता है, जिसमें एक ओर की धुरी दूसरी ओर चली जाय। यह काम ईंट-पत्थर के बने विशालकाय यंत्रों से नहीं हो सकता। परंतु सबसे अधिक सूक्ष्मता तो इससे आती है कि यंत्र में दूरदर्शी लगा रहता है। दूरदर्शी में आँख लगाने पर तारा तो दिखायी पड़ता ही है, साथ ही समकोण पर परस्पर काटती हुई दो महीन रेखाएँ दिखायी पड़ती हैं, जिन्हें स्वस्तिक तार कहते हैं; और तारा तथा ये रेखाएँ दोनों पूर्णतया तीक्ष्ण और स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं। जब तारा ठीक स्वस्तिक के केंद्र पर रहता है तब दूरदर्शी ठीक तारे की दिशा में रहता है। स्वस्तिक और तारा दोनों के तीक्ष्ण और स्पष्ट दिखायी पड़ने के कारण दूरदर्शी को तारे पर साधने का काम बड़ी सूक्ष्मता से किया जा सकता है। बिना दूरदर्शी के यंत्रों में यंत्र के दर्शनी नामक भाग के दोनों सिरे कभी भी स्पष्ट नहीं देखे जा सकते। जब निकट सिरे को स्पष्ट देखने की चेष्टा की जाती है तब केवल वही स्पष्ट दिखायी पड़ता है; जब दूर वाले सिरे को स्पष्ट देखने की चेष्टा की जाती है तब निकट वाला सिरा अस्पष्ट हो जाता है। यही कठिनाई सम्राट-यंत्र, जयप्रकाश, राम-यंत्र, इत्यादि सभी में पड़ती है और उनसे सूक्ष्म वेध नहीं किया जा सकता।

अध्याय १७

जयसिंह के बाद

जयसिंह के बाद पाश्चात्य ज्योतिष भारत में सुगमता से आने लगा क्योंकि यहाँ अँग्रेजों की शक्ति बढ़ने लगी। नीचे केवल उन्हीं ज्योतिषियों की चर्चा की जा रही है जो प्राचीन भारतीय ज्योतिष के विद्वान थे।

मणिराम

ग्रहगणितचिंतामणि में शक १६९६ चैत्र शुक्ल १ रविवार के प्रातःकाल का क्षेपक दिया गया है, जो ग्रहलाघव से बहुत कुछ मिलता है और ध्रुवाङ्क उससे सूक्ष्म हैं।[1] ग्रंथकार मणिराम सूर्य-सिद्धांत के अनुयायी जान पड़ते हैं, परंतु उन्होंने ग्रहलाघव की पद्धति से काम लिया है। इन्होंने स्वयं वेध करके ग्रंथ में ध्रुवांक शुद्ध किये हैं। अयनांश सूर्य-सिद्धांत के अनुसार माना है। इस ग्रंथ में कुल १२ अधिकार हैं और श्लोकों की संख्या १२० है।

नृसिंह उपनाम बापूदेव शास्त्री

बापूदेव शास्त्री बनारस में ज्योतिष के प्रसिद्ध आचार्य थे और इस प्रान्त में अब तक प्रसिद्ध हैं। भारतीय और पाश्चात्य ज्योतिष के ये अगाध विद्वान थे। इनका जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के अहमदनगर जिले में गोदा नदी के किनारे टोंके गाँव में शक १७४३ (१८२१ ई०) में हुआ था। इन्होंने नागपुर में ढुंढिराज मिश्र से बीजगणित, लीलावती और सिद्धांतशिरोमणि का अध्ययन किया और अन्त में काशी में आकर संस्कृत कालेज के प्रधान गणिताध्यापक हुए। आप बंगाल एशिया-

[1] इस अध्याय की सारी बातें मेरे द्वारा संपादित सरल विज्ञान-सागर नामक ग्रंथ में छपे श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव के एक लेख से ली गयी हैं।

टिक सोसाइटी के आदरणीय सभासद तथा कलकत्ता और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के सदस्य थे। आपको महामहोपाध्याय की पदवी भी मिली थी।

आप भारतीय ज्योतिष में सुधार करने की आवश्यकता समझते थे और चाहते थे कि पंचांगों की गणना शुद्ध वेधसिद्ध मूलांकों से करनी चाहिए। इसका प्रचार करने के लिए आपने पुस्तकें लिखीं और पंचांग भी बनाना आरम्भ किया, परंतु उस समय काशी के पंडितों के दल ने इनका घोर विरोध किया। दैवदुर्विपाक से म० म० सुधाकर द्विवेदी इस विरोधी दल के अग्रणी थे; इसलिए ज्योतिष संबंधी सुधार अब तक नहीं हो पाया। आश्चर्य तो यह है कि जिस सूर्य-सिद्धांत को सुधाकर द्विवेदी स्वयं आर्षग्रंथ नहीं मानते थे[1] और कहते थे कि यह हिपार्कस नामक यवन ज्योतिषी के ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है[2] उसी को प्रामाणिक कह कर पंचांग बनाने के लिए आवश्यक समझते थे और पहले के आचार्यों के चलाये हुए बीज-संस्कार की पद्धति को भी त्याज्य समझते थे। सुधाकर द्विवेदी का मत था कि तिथियाँ अदृश्य घटनाएँ हैं; उन्हें सूर्य-सिद्धांत के अनुसार बनाना चाहिए; ग्रहण दृश्य घटना है; उसकी गणना आधुनिक ज्योतिष से करनी चाहिए। उत्तर प्रदेश के कई पंचांग आज भी इसी सिद्धांत पर बनते हैं, जिसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि सूर्य-सिद्धांत का नाता लोगों ने धर्म से जोड़ रक्खा है और इसलिए पूजा-पाठ की गणना के लिए उसके बदले किसी अन्य ग्रंथ को ठीक मानना अनुचित समझते हैं; परंतु यदि वे ग्रहण की भी गणना सूर्य-सिद्धांत से करते हैं तो घंटों का अंतर पड़ जाता है और जनता भी देख लेती है कि ज्योतिषीगण अज्ञानी ढोंगी हैं।

बापूदेव शास्त्री के बनाये हुए ग्रंथों के नाम नीचे दिये जाते हैं:

रेखागणित प्रथमाध्याय, त्रिकोणमिति, सायनवाद, प्राचीन ज्योतिषाचार्याशय-वर्णन, अष्ठादश विचित्र प्रश्न संग्रह सोत्तर, तत्त्वविवेक परीक्षा, मानमन्दिरस्थ यंत्र वर्णन, और अंकगणित। ये सब संस्कृत भाषा में हैं और छपकर प्रकाशित हुए हैं। कुछ संस्कृत ग्रंथ अप्रकाशित हैं, जैसे चलन-कलन सिद्धांत के २० श्लोक, चापीय त्रिकोणमिति संबंधी कुछ सूत्र, सिद्धांतग्रंथोपयोगी टिप्पणी, यंत्रराजोपयोगी छेद्यक, और लघुशंकुच्छिन्न क्षेत्रगुण।

[1] 'भटोत्पलानान्तरं भास्कराचार्यतः प्रागेव भारतवर्षेऽस्य सूर्यसिद्धान्तस्य प्रचारो जातः'। सुधावर्षिणी टीका की भूमिका, पृ० १ (१९२५ ई० की छपी)।

[2] पंचांग विचार, पृ० ११, १२।

हिंदी में इनके नीचे लिखे ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं: अंकगणित, बीजगणित, फलित विचार और सायनवादानुवाद। सिद्धांतशिरोमणि के गोलाध्याय का अँग्रेजी अनुवाद इन्होंने विलकिनसन के सहयोग से किया है। सूर्यसिद्धांत का अँग्रेजी अनुवाद भी किया है। ये दोनों ग्रंथ ई० सन १८६१-६२ में प्रकाशित हुए थे।

आपने सिद्धांतशिरोमणि के गणित और गोल दोनों अध्यायों का शोधपूर्वक टिप्पणी के साथ एक संस्करण शक १७८८ (१८६६ ई०) में और लीलावती का १८०५ शक में प्रकाशित किया था।

आप शक १७९७ से १८१२ तक नॉटिकल अलमनक के आधार पर पंचांग बनाकर प्रकाशित करते थे। अब भी आपके नाम के पंचांग में यही विशेषता पायी जाती है। १८१२ शक में आप का देहावसान हुआ।

नीलांबर शर्मा

नीलांबर शर्मा का जन्म शक १७४५ (१८२३ ई०) में हुआ था और आप गंगा और गंडकी के संगम से दो कोस पर पटना के रहने वाले मैथिल ब्राह्मण थे। आप ने यूरोपीय पद्धति के अनुसार गोलप्रकाश नामक ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखा है, जिसको १७९३ शक में पं० बापूदेव शास्त्री ने शोधकर छपाया था। इसमें पाँच अध्याय हैं: ज्योत्पत्ति, त्रिकोणमितिसिद्धांत, चापीयरेखागणितसिद्धांत, चापीय त्रिकोण-मितिसिद्धान्त और प्रश्न।

विनायक (उपनाम केरो लक्ष्मण छत्रे)

विनायक (उपनाम केरो लक्ष्मण छत्रे) का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त में शक १७४६ (१८२४ ई०) में हुआ था। आप गणित, ज्योतिष और सृष्टि-विज्ञान में बड़े निपुण थे और आपने बम्बई प्रान्त के अनेक स्कूलों और कालेजों में उच्च पद पर काम किया। आपका लोकप्रिय नाम नाना था।

आपने फ्रांसीसी और अँग्रेजी ज्योतिष ग्रंथों के आधार पर ग्रहसाधनकोष्ठक नामक एक मराठी ग्रंथ शक १७७२ में तैयार किया था, जो शक १७८२ में छापा गया था। इस ग्रंथ में वर्तमान सूर्य-सिद्धांत के अनुसार लिया गया है परंतु ग्रह-गतिस्थिति सायन लिया है, ज़ीटा पिसियम को रेवती का योगतारा माना है, जो शक ४९६ में वसंत विषुव पर था। अयन की वार्षिक गति ५०·१ विकला मानी है। शक १७८७ (१८६५ ई०) से आपने नाविक पंचांग के अनुसार पंचांग प्रकाशित करना आरंभ किया। इस बात में आपा साहब पटवर्धन ने आप की सहायता

की, जिससे यह पंचांग खूब चलने लगा और इसका नाम पड़ गया नानापटवर्धनी पंचांग।

तिथि-साधन के लिए तिथि चिंतामणि के समान एक ग्रंथ नाना साहब ने लिखा था, परंतु अब इसका प्रचार नहीं है।

आपने स्कूलों के लिए मराठी में पदार्थविज्ञान-शास्त्र और अंकगणित की पुस्तकें लिखी थीं।

लेले

विसाजी रघुनाथ लेले का जन्म नासिक में शक १७४९ (१८२७ ई०) में हुआ था और शक १८१७ में ६८ वर्ष की अवस्था में देहान्त हुआ। आपने मराठी पत्रिकाओं में इस बात का खूब आन्दोलन किया कि पंचांग सायन पद्धति से बनाना चाहिए और इस बात में केरोपंत का विरोध किया। कई वर्ष तक ग्रहलाघव की सहायता से सायन पंचांग बनाकर चलाते रहे। फिर नाविक पंचांग की सहायता से काम लेते थे, परंतु इस काम के लिए अपना कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं बनाया।

रघुनाथ

चिंतामणि रघुनाथ आचार्य का जन्म शक १७५० (१८२८ ई०) में तामिल प्रान्त में हुआ था। आप यूरोपीय ज्योतिष और गणित के अच्छे विद्वान थे और रायल एशियाटिक सोसायटी के फ़ेलो थे। १८४७ ई० से आप मद्रास वेधशाला में काम करने लगे और उसके प्रथम असिस्टैंट के पद पर पहुँच गये थे। आपने यहाँ से तारों की एक सूची तैयार की और दो रूपविकारी तारों की खोज की। ज्योतिष-चिंतामणि ग्रंथ आपका ही का लिखा हुआ है जिसके तीन भाग हैं। पहले में मध्यम गति, पृथ्वी आदि ग्रहों के आकार और उनके महत्त्व पर विचार किया गया है। दूसरे में स्फुट गति आदि पर लिखा गया है और तीसरे का नाम करण-पद्धति है, जिसमें ग्रह-गणित करने के लिए बहुत से कोष्ठक हैं। यह ग्रंथ तामिल भाषा में लिखा गया था।

आप शक १७९१ से नाविक पंचांग के आधार पर दृग्गणित पंचांग बनाकर प्रकाशित करने लगे, जिसे आपके दो पुत्र शक १८०८ तक चलाते रहे। आपका वर्षमान सूर्यसिद्धांत के अनुसार था और अयनांश २२°५′ था[१]।

[१] भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ ३०४-३०५।

गोडबोले

कृष्णशास्त्री गोडबोले का जन्म शक १७५३ (१८३१ ई०) में बंबई प्रांत में हुआ था। उस प्रांत के कई स्कूलों के शिक्षक के पद पर रह कर आप हेडमास्टरी से रिटायर हुए और पूना में रहने लगे थे। आपने बम्बई की वेधशाला में भी कुछ दिन काम किया था। १८८६ ई० में आपका स्वर्गवास हुआ।

शक १७७८ में आपने वामनकृष्ण जोशी गद्रे के सहयोग से ग्रहलाघव का मराठी भाषांतर उदाहरण सहित किया, जो प्रधानतः विश्वनाथ की टीका का भाषांतर है। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण भी छपा है। कृष्ण शास्त्री ने ग्रहलाघव की उपपत्ति भी मराठी में लिखी है। शक १८०७ में एक छोटा-सा ज्योतिषशास्त्र का इतिहास लिखा था। आपने पाठशालोपयोगी बहुत-सी गणित की पुस्तकों की रचना की थी।

चंद्रशेखर सिंह

चन्द्रशेखर सिंह सामन्त का जन्म शक १७५७ (१८३५ ई०) में उड़ीसा प्रांत में कटक से ५०-६० मील पच्छिम खंडपारा गाँव के एक राजवंश में हुआ था। बचपन में आपने संस्कृत, व्याकरण, स्मृति, पुराण, तर्कशास्त्र और आयुर्वेद की शिक्षा पायी थी और सभी महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रंथों को पढ़ लिया था। जब आप दस वर्ष के थे तब आपके एक चाचा ने आपको फलित ज्योतिष का कुछ पाठ पढ़ाया और आकाश के कुछ नक्षत्रों और ग्रहों को दिखाया। धीरे-धीरे इस बालक का मन आकाश का दर्शन करने और तारों की बदलती हुई स्थिति को देखने में लग गया। इन्होंने घर के पुस्तकालय में संस्कृत सिद्धांत के जितने भी ग्रंथ मिले सबको अपने-आप ही भाष्यों की सहायता से पढ़ डाला।

जब आप ग्रहों की स्थिति की गणना करने लगे तब आपको विदित हुआ कि गणना से ग्रहों की जो स्थिति निकलती थी, वह आकाश में ग्रहों की प्रत्यक्ष स्थिति से नहीं मिलती थी; दोनों में बड़ा अन्तर पड़ता था।

अपने बनाये स्थूल यंत्रों से आपने सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों के मूलांकों का संशोधन करके एक पुस्तक लिख डाली, जिसका नाम है सिद्धांतदर्पण। यह ज्योतिष-सिद्धांत का एक सुन्दर ग्रंथ है। जगन्नाथपुरी और उड़ीसा प्रांत में इसी के अनुसार बनाये हुए पंचांग शुद्ध माने जाते हैं।

सिद्धांतदर्पण का मूल तालपत्र पर उड़िया अक्षरों में लिखा गया था, जिसको कटक कालेज के गणित के अध्यापक श्री योगेशचन्द्र राय ने अपनी अँग्रेजी भूमिका

के साथ सन १८९९ ई० (श० १८२१) में छापाया है। यह ग्रंथ उड़ीसा और बिहार के ज्योतिष के छात्रों को पढ़ाया जाता है।

शंकरबालकृष्ण दीक्षित

शंकर बालकृष्ण दीक्षित का जन्म भी शक १७७५ में आषाढ़ शुक्ल १४ भौमवार (ता० २०-२१ जूलाई, सन १८५३ ई०) को रत्नागिरी के मुरुड गाँव में हुआ था। कठिनाई के कारण आपकी शिक्षा मैट्रिकुलेशन से अधिक नहीं हुई थी। महाराष्ट्र प्रान्त के अनेक मराठी और अँग्रेजी स्कूलों और ट्रेनिंग कालेजों में आपने शिक्षक का काम किया। आपकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। आपने मराठी में विद्यार्थी बुद्धिवर्धिनी (सन १८७६ ई०), सृष्टिचमत्कार (१८८२ ई०), ज्योतिर्विलास (१८९२ ई०) और धर्ममीमांसा (१८९५ ई०) नामक पुस्तकें छपाई थीं। डब्लू० एम० सिवेल के सहयोग से आपने इंडियन कैलेंडर नामक ग्रंथ अँग्रेज़ी में लिखा था। परन्तु आपका सबसे उपयोगी और गंभीर विद्वता का ग्रंथ मराठी का भारतीय ज्योतिषशास्त्र है, जिसे आपने सन १८८७ ई० (शक १८०९) नवम्बर मास में आरंभ किया था और सन १८८८ (शक १८१०) के अक्टूबर तक समाप्त किया। इस पुस्तक पर आप को पूने की दक्षिण पुरस्कार कमेटी से ४५०) का पुरस्कार मिला था।

इस ग्रंथ के पहले भाग के पहले विभाग में वैदिक काल का वर्णन है, जिसमें वैदिक संहिता और ब्राह्मण में आये हुए ज्योतिष संबंधी वचनों का अवतरण देकर बताया गया है कि वैदिक ऋषियों को ज्योतिष संबंधी बातों का कितना ज्ञान था।

दूसरे विभाग में वेदांगकाल की ज्योतिष का वर्णन है। इसमें आर्च और याजुष ज्योतिष का विस्तृत वर्णन है। इसके कुछ श्लोकों का अर्थ भी जो पहले नहीं ज्ञात था किया गया है। अथर्व ज्योतिष की भी चर्चा है। इसी विभाग में कल्पसूत्र, निरुक्त और पाणिनीय व्याकरण में आये हुए ज्योतिष संबंधी वचनों का विवेचन है। यह पहले प्रकरण में है। दूसरे प्रकरण में स्मृति और महाभारत में आये हुए सब ज्योतिष संबंधी वचनों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार पहला भाग डिमाई अठपेजी नाप के १४७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

दूसरे भाग में ज्योतिष सिद्धांत-काल के ज्योतिष शास्त्र का इतिहास दिया गया है। पहले खंड का नाम गणित-स्कंध है, जिसके मध्यमाधिकार प्रकरण १ में प्राचीन सिद्धांतपंचक के पितामह-सिद्धांत, वसिष्ठ-सिद्धांत, रोमक-सिद्धांत और पुलिश-सिद्धांत का विवेचन बड़ी विद्वता के साथ किया गया है। फिर वर्तमान काल के

सूर्य-सिद्धांत, सोम-सिद्धांत, वसिष्ठ-सिद्धांत और शाकल्य-संहितोक्त ब्रह्म-सिद्धांत का उत्तम वर्णन है। इसके बाद प्रथम आर्यभट (शक ४२१) से लेकर सुधाकर द्विवेदी (शक १८०६) तक के ज्योतिष के प्रसिद्ध आचार्यों और उनके ग्रंथों का वर्णन १११ पृष्ठों में किया गया है। ग्रंथों में लिखे हुए काल की शुद्धता जाँचकर लिखी गयी है और यह भी बताया गया है कि किस ग्रन्थ में क्या विशेषता है।

इसके बाद भारतीय ज्योतिष पर मुसलमान ग्रंथकारों, विशेषकर अलबीरूनी के मत का विवेचन किया गया है।

दूसरे प्रकरण में भुवनसंस्था के संबंध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का तुलनात्मक विवेचन है। तीसरे प्रकरण में अयन (विषुव-चलन) पर विस्तृत विवेचन किया गया है। चौथा प्रकरण वेधप्रकरण है, जिसमें दिखाया गया है कि हमारे ग्रन्थों में वेध संबंधी बातों और यंत्रों का कैसा वर्णन है।

स्पष्टाधिकार के प्रकरण १ में ग्रहों की स्पष्ट गति और स्थिति के संबंध में तुलनात्मक विवेचन है, प्रकरण २ में पंचांग और विविध सनों तथा संवतों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकरण में पंचांगशोधन विचार नामक एक अध्याय है, जिसके ३२ पृष्ठों में दिखाया गया है कि पंचांग का शोधन करना क्यों आवश्यक है, सायन-पंचांग क्यों स्वाभाविक है।

इस प्रकार कुल ४४२ पृष्ठों में इतनी बातें लिखी गयी हैं। इसके आगे संक्षेप में त्रिप्रश्नाधिकार, चंद्रसूर्य-ग्रहणाधिकार, छायाधिकार, उदयास्ताधिकार, शृंगोन्नति, ग्रहयुति, भग्रहयुति और महापात अध्याय हैं। भग्रहयुति अध्याय में योगतारों के भोगांशों और शरों पर तुलनात्मक विचार विस्तार के साथ किया गया है।

संहितास्कंध में संहिता और मुहूर्त संबंधी पुस्तकों का वर्णन है।

जातकस्कंध में जातकशास्त्र संबंधी पुस्तकों का वर्णन है और बताया गया है कि जन्मपत्री क्या है, कैसे बनायी जाती है और उसका सिद्धांत क्या है। अंत में ताजिक पर भी थोड़ा-सा विचार है, जिससे वर्षफल बनाया जाता है। (ताजिक = फलित ज्योतिष के एक विभाग का मुसलमानी नाम)

उपसंहार में भारतीय ज्योतिष की तुलना अन्य देशों के ज्योतिष से की गयी है और इस संबंध के अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों के मतों का विवेचन किया गया है।

अंत में संस्कृत और अन्य ज्योतिष ग्रन्थों की एक वृहत सूची तथा ज्योतिष ग्रंथकारों की सूची दी गयी है। ज्योतिष के अतिरिक्त उन अन्य पुस्तकों की भी सूची है

जिससे ज्योतिष संबंधी अवतरण लिये गये हैं। अंत में विषयानुसार सूची देकर ५६० पृष्ठों में पुस्तक समाप्त की गयी है।

केतकर

वेंकटेश बापूजी केतकर का जन्म पौष शुक्ल १४ शुक्रवार शक १७७५ (१८५४ ई०) में हुआ था और १८७४ ई० से आप बंबई प्रांत के स्कूलों में शिक्षक का काम करने लगे थे। आप बागलकोट के अँग्रेजी स्कूल में हेडमास्टर के पद पर भी रहे हैं। आप प्राच्य और पाश्चात्य ज्योतिष के अद्वितीय विद्वान और ग्रंथकार थे। आपकी मृत्यु शक १८५२ (१९३० ई०) में ७६$\frac{1}{2}$ वर्ष की अवस्था में हुई।

आपने ज्योतिष पर कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनके नाम ये हैं: संस्कृत में ज्योतिर्गणित, केतकीग्रहगणित, वैजयन्ती, केतकी परिशिष्ट, सौरार्यब्रह्मपक्षीय तिथिगणितम्, केतकी वासना भाष्यम्, शास्त्रशुद्धपंचांगअयनांश निर्णय और भूमण्डलीय सूर्यग्रहणगणित; और मराठी में नक्षत्र विज्ञान, ग्रहगणितम्, गोलद्वयप्रश्न, भूमंडलीयगणित।

ज्योतिर्गणित

यह बड़े आकार के लगभग ५०० पृष्ठों का ग्रन्थ है, जिसमें पंचांग बनाने, ग्रहग की गणना करने, नक्षत्रों के उदय और अस्त का गणित करने की सभी आवश्यक बातों के लिए कोष्ठक दिये गये हैं, जिनके आधार पर पंचांग सुगमता और शुद्धता पूर्वक बनाये जा सकते हैं। जिन पाश्चात्य गवेषणाओं और गणनाओं के आधार पर यह कोष्ठक बनाये गये हैं उनके सूत्र भी दे दिये गये हैं। दशमलव भिन्न का उपयोग कर के गुणा भाग करने का काम बहुत सरल कर दिया गया है। भुजज्या, कोटिज्या आदि की सारिणी दे दी गयी है। यह एक अपूर्व ग्रंथ है, जिससे ग्रंथकर्ता के गंभीर परिश्रम और विद्वत्ता का पता चलता है। इसके ध्रुवांक शक १८०० के हैं। इस ग्रंथ में इन्होंने रेवती योगतारा को नक्षत्र चक्र का आदि विन्दु मानकर तथा चित्रा को नक्षत्र चक्र का मध्य मानकर दोनों प्रकार से अयनांश दे दिये हैं, क्योंकि महाराष्ट्र प्रांत में इन दोनों पद्धतियों से पंचांग बनाये जाते हैं और प्रत्येक के समर्थक बड़े-बड़े विद्वान हैं। परंतु पीछे से ये केवल चित्रा मत के समर्थक हो गये और केतकी ग्रहगणित तथा पंचांग अयनांश निर्णय में यह सिद्ध किया कि प्राचीन परंपरा के अनुसार चित्रातारा ही नक्षत्र चक्र का मध्य होना चाहिए, जिससे अश्विनी नक्षत्र या मेष का आदि बिंदु चित्रा से १८०° पर ठहरता है। यह ग्रंथ शक १८१२ के लगभग लिखा गया था।

केतकी ग्रहगणित

यह ग्रहलाघव के ढंग पर, संस्कृत श्लोकों में, अर्वाचीन ज्योतिष के आधार पर पंचांग बनाने के लिए उपयोगी ग्रंथ है। पुराने ढंग के पंडित श्लोकों को याद करके गणना करने का काम सुगमता से कर सकते हैं; अतः उनके लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे तिथि, नक्षत्र, आदि की तथा ग्रहों की, स्पष्ट गणना पर्याप्त शुद्ध होती है।

इस पर ग्रंथकार ने अपनी अंकविवृति व्याख्या भी की है, जिसमें उदाहरण देकर ग्रन्थ को और सुगम बना दिया है। इसके साथ ग्रंथकार के सुयोग्य पुत्र दत्तराज वेंकटेश केतकर ने केतकीपरिमलवासनाभाष्य नामक टीका लिखी है, जिसमें चित्र देकर वैज्ञानिक रीति से नियमों की उपपत्तियों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। यह पुस्तक शक १८१८ में लिखी गयी थी और शक १८५१ (१९३० ई०) में आर्य-भूषण मुद्रणालय से प्रकाशित हुई। संस्कृत में अर्वाचीन ज्योतिष पर यह अच्छी पुस्तक है।

वैजयन्ती—इसमें पंचांगोपयोगी तिथि, नक्षत्र और करणों की गणना करने के लिए सारणियाँ हैं जिनसे गणना बड़ी आसानी से की जा सकती है। इसमें चंद्रमा में केवल ५ संस्कार देकर काम लिया गया है।

नक्षत्र-विज्ञान—इसमें आकाश के विविध प्रकार के तारों का वर्णन, उनकी सूची, भोगांश, शर तथा आकाश के मानचित्र दिये गये हैं। जिन नक्षत्रों के नाम भारतीय ज्योतिष में नहीं हैं, उनके नाम इन्होंने स्वयं बनाये हैं, जैसे 'ओफियूकस' के लिए 'भुजगधारि', 'पेगासस' के लिए 'उच्चैःश्रवा', 'लायरा' के लिए 'स्वरमण्डल', आदि।

तिलक

बाल गंगाधर तिलक का जन्म शक १७७८ (१८५६ ई०) में हुआ। आप गणित, ज्योतिष, विज्ञान, प्राचीन इतिहास, दर्शन और वेद के अद्वितीय विद्वान थे। राजनीति के भी आप प्रकांड पंडित और नेता थे, जिसके कारण आप को कई बार जेल जाना पड़ा था। इससे आप देश-विदेश सभी जगह प्रसिद्ध हैं और आप को 'लोकमान्य' कहा जाता है। आप 'मराठा' नामक अँग्रेजी पत्र तथा 'केसरी' नामक मराठी पत्र के सफल सम्पादक थे। आप के लिखे तीन ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं: (१) ओरायन, (२) आर्कटिक होम इन दि वेदाज़, और (३) गीता-रहस्य।

ओरायन

यह अँग्रेजी में ज्योतिष-संबंधी ग्रंथ है और सन १८९३ ई० में लिखा गया था। इसमें आपने वेद, ब्राह्मण, संहिता तथा ज्योतिष के ग्रंथों से सिद्ध किया है कि किसी समय बसंत विषुव ओरायन (मृगशिरा) नामक नक्षत्र में था, जिससे वेद का काल ४५०० वर्ष ईसा पूर्व ठहरता है। इसके पहले पाश्चात्य विद्वान कहते थे कि वेदकाल २००० ईसा पूर्व से अधिक पुराना नहीं है। आप के मत का समर्थन प्रोफेसर याकोबी ने भी अपनी स्वतन्त्र गणना से किया। इस ग्रंथ की गंभीरता और नवीनता पर विदेशी पण्डित मैक्समूलर भी मुग्ध थे।

आर्कटिक होम इन दि वेदाज़ भी अँग्रेजी का ग्रंथ है, जिसमें आपने वेदों, पुराणों तथा ईरान की पौराणिक कथाओं और भूगर्भविज्ञान के आधार पर सिद्ध किया है कि प्राचीन आर्य उत्तरी ध्रुव के पास निवास करते थे और वहीं से जैसे-जैसे जलवायु प्रतिकूल होता गया वे भारतवर्ष में आये। यह पुस्तक सन १९०३ ई० में लिखी गयी थी।

गीतारहस्य

यह दर्शनशास्त्र का एक अपूर्व ग्रंथ है। इसमें भगवद्गीता के अनुवाद के साथ-साथ प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन की तुलना कर के दिखाया गया है कि भगवद्गीता का सिद्धान्त क्या है। इसी के एक श्लोक 'मासानां मार्गशीर्षोहम्' के अर्थ की खोज में आपने 'ओरायन' ग्रंथ का निर्माण किया था।

इन पुस्तकों के सिवा अपने केसरी समाचार पत्र के द्वारा महाराष्ट्र प्रांत में ज्योतिष संबंधी बातों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और बताया कि पंचांग बनाने की रीति में किस प्रकार का सुधार करने की आवश्यकता है। आप के मत के अनुसार एक पंचांग महाराष्ट्र प्रांत में चलता है जिसमें अयनांश का मान रैवत पक्ष के अनुसार माना जाता है[1]। आप का देहावसान सन १९२१ ई० में हुआ।

सुधाकर द्विवेदी

सुधाकर द्विवेदी काशी के निकट खजुरी ग्राम के निवासी थे। आप का जन्म शक १७८२ (१८६० ई०) में हुआ था। पं० बापूदेव शास्त्री के पेंशन लेने पर आप बनारस संस्कृत कालेज के गणित और ज्योतिष के मुख्य अध्यापक हुए। आप को सरकार से महामहोपाध्याय की पदवी मिली थी। आप शक १८४४ (१९२२ ई०) में स्वर्गवासी हुए।

[1] अर्थात रेवती (ज़ीटा पिसियम) नामक तारे से नक्षत्र-चक्र का आरंभ माना जाता है।

आप गणित और ज्योतिष के अद्वितीय विद्वान थे। आपने अनेक प्राचीन ज्योतिष ग्रंथों को शोध करके टीकाएँ लिखी हैं और अर्वाचीन उच्च गणित पर स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे हैं। आपके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं :

(१) दीर्घवृत्त लक्षण (शक १८००), (२) विचित्र प्रश्न (शक १८०१), जिसमें २० कठिन प्रश्न और उत्तर हैं, (३) वास्तव चंद्रश्रृंगोन्नतिसाधन (शक १८०२) इसमें लल्ल, भास्कर, ज्ञानराज, गणेश, कमलाकर, बापूदेव आदि की लिखी रीतियों में दोष दिखा कर यूरोपीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वास्तव श्रृंगोन्नति साधन कैसे किया जाता है, दिखाया गया है। इसमें ९२ पद्य हैं।

४—द्युचरचार (शक १८०४) में ग्रह की कक्षा का विवेचन यूरोपीय ज्योतिष के अनुसार किया गया है।

५—पिंडप्रभाकर शक १८०७ में लिखा गया था; इसमें वास्तु (भवन-निर्माण) संबंधी बातें हैं।

६—भाभ्रमरेखा निरूपण में दिखाया गया है कि शंकु की छाया से कैसा मार्ग बनता है।

७—धराभ्रम में पृथ्वी के दैनिक भ्रमण का विचार किया गया है।

८—ग्रहणकरण में इस पर विचार किया गया है कि ग्रहणों का गणित कैसे करना चाहिए।

९—गोलीय रेखागणित।

१०—यूक्लिड की ६ठवीं, ११वीं और १२वीं पुस्तकों का संस्कृत में श्लोकबद्ध अनुवाद।

११—गणक-तरंगिणी में भारतीय ज्योतिषियों की जीवनी और उनकी पुस्तकों का संक्षिप्त परिचय है, जिसकी चर्चा यहाँ कई जगहों पर आयी है। यह शक १८१२ में लिखी गयी थी।

ये सब ग्रंथ संस्कृत में हैं। सुधाकरजी की संस्कृत टीका के ग्रंथ ये हैं—

१—यंत्रराज पर प्रतिभाबोधक टीका, शक १७९५।

२—भास्कराचार्य की लीलावती पर सोपपत्तिक टीका, शक १८००।

३—भास्कराचार्य के बीजगणित की सोपपत्तिक टीका, शक १८१०।

४—भास्कराचार्य के करण-कुतूहल की वासनाविभूषण टीका, शक १८०३।

५—वराहमिहिर की पंचसिद्धांन्तिका पर पंचसिद्धांतिकाप्रकाश टीका, शक १८१० में, जो डाक्टर थीबो की अंग्रेज़ी टीका और भूमिका के साथ शक १८११ में प्रकाशित हुई थी।

६—सूर्यसिद्धांत की सुधावर्षिणी टीका १९०६ ई० के जून मास में पूर्ण हुई थी और इसका पहला संस्करण 'बिब्लियोथिका इंडिका' के दो भागों (संख्या ११८७ और १२९६) में सन १९०९ और १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने १९२५ ई० में प्रकाशित किया, जो इस समय काशी में मिलता है।

७—ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत टीका सहित १९०२ ई० में प्रकाशित हुआ था।

८—आर्यभट द्वितीय का महासिद्धांत टीका सहित पहले बनारस संस्कृत सीरीज़, संख्या १४८, १४९ और १५०, में निकला था, जो १९१० में पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया था।

९—याजुष और आर्च ज्योतिष पहले बनारस की 'पंडित' पत्रिका में सोमाकर और सुधाकर के भाष्य सहित निकला था, जो १९०८ ई० में अलग पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया गया था।

१०—ग्रहलाघवकी सोपपत्तिक टीका, जिसमें मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाएँ भी सम्मलित की गयी हैं।

इन टीकाओं के अतिरिक्त हिंदी में चलनकलन, चलराशिकलन और समीकरणमीमांसा नाम की उच्च गणित की पुस्तकें भी सुधाकर जी की लिखी हुई हैं। अंतिम पुस्तक दो भागों में विज्ञान-परिषद, प्रयाग, से प्रकाशित हैं। आपने हिंदी भाषा की भी कई पुस्तकें लिखी हैं।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि सुधाकर द्विवेदी इस प्रान्त में ज्योतिष और गणित के अद्भुत विद्वान हो गये हैं। पता नहीं, आप ज्योतिष के आवश्यक सुधार के प्रतिकूल क्यों थे जब इस संबंध में बहुत प्राचीनकाल से यह परंपरा चली आयी है कि दृक्तुल्यता के लिए आवश्यक सुधार करते रहना चाहिए। इस विषय पर आपका मत बापूदेव शास्त्री के संबंध में बताया जा चुका है।

पिल्लई

एल० डी० स्वामी कन्नू पिल्लई का जन्मकाल, जन्मस्थान आदि का पता नहीं मिल सका, परंतु आपकी अँग्रेज़ी में लिखी इंडियन क्रोनॉलोजी एक अनोखा ग्रंथ है। इसमें सौर और चांद्र तिथियों और ग्रहों की गणना करने की रीति, उपपत्ति और सारणियाँ दी गयी हैं और इससे ईसवी सन के २००० वर्षों की तिथि, नक्षत्र, जन्मपत्र तथा अन्य ऐतिहासिक लेखों की तिथियों की शुद्धता परखी जा सकती है। इसमें भारतवर्ष भर में प्रचलित सभी प्रकार के संवतों, तिथियों और तारीखों के जानने

की रीति बहुत सरलता से समझायी गयी है । थोड़े-से अभ्यास से किसी तारीख की शुद्धता की जाँच एक मिनट में हो सकती है ।

इस पुस्तक में बड़े आकार के ११४ पृष्ठों में भारतीय ज्योतिष के सभी व्यावहारिक अंगों पर बहुत ही वैज्ञानिक रीति से प्रकाश डाला गया है । किस मास में कौन-सी तिथि किस पर्व या त्योहार के लिए कैसे निश्चित की जाती है, पंचांग कैसे बनाये जाते हैं, पंचांग के अंग क्या हैं, इसका पूरा विवेचन किया गया है । इसके बाद २३२ पृष्ठों में २२ सारणियाँ हैं । पहली सारणी में दक्षिण भारत में प्रचलित ९६७ ई० से १९२६ ई० तक का संवत्सर-चक्र दिया गया है । दूसरी में सूर्यसिद्धांत और आर्यसिद्धांत (आर्यभटीय) के अनुसार सौरमासों के मान, अधिमासों तथा क्षय मासों की सीमाएँ और तिथियों के मान बताये गये हैं । तीसरी में नक्षत्र के नाम, उनके देवता और उनके मान वर्तमान प्रथा तथा गर्ग और ब्रह्मा के अनुसार दिये गये हैं । चौथी में केवल एक पृष्ठ में यूरोपीय तारीखों की शाश्वत जंत्री दी गयी है, जिससे कोई भी ३००१ ई० पूर्व से लेकर २३९१ ई० तक की, अर्थात कलि संवत के आरंभ से ५३९९ कलि संवत तक की ईसवी तारीखों के वार आध मिनट में बिना गणना के निकल सकता है । पाँचवीं में नक्षत्रों, योगों और संवत्सरों के गुणक, छठवीं में सूर्यसिद्धांत और आर्यसिद्धांत के अनुसार शताब्दि ध्रुवांक और तिथि के अंश, कला, विकला तक के गुणक दिये गये हैं । सातवीं में सूर्यसिद्धांत और आर्यसिद्धांत के अनुसार ३००० वर्ष के मेषसंक्रान्तिकाल के सौर वर्ष और चंद्रकेंद्र के ध्रुवांक तथा सौर वर्ष की पहली अमावस्या के ध्रुवांक तथा सूर्य और चंद्रकेंद्र की विकलात्मक गति के गुणक दिये गये हैं । आठवीं में यह जानने की रीति बतायी गयी है कि किस अँग्रेज़ी तारीख में कौन-सी सौर तिथि, चांद्र तिथि, नक्षत्र, योग या करण है । नवीं सारणी में तिथि, नक्षत्र और योगों को स्पष्ट करने की रीति सूर्यसिद्धान्त और आर्यसिद्धांत के अनुसार बतायी गयी है । इससे पंचांग बहुत ही सुगमता से बनाये जा सकते हैं । दसवीं सारणी के १०८ पृष्ठों में ईसवी सन के आरंभ से १९९९ ई० के अंत तक के प्रत्येक मास की अमावस्या की अँग्रेज़ी तारीख और वार, कलियुग, विक्रम और ईसवी सन, अधिमास और क्षयमास, सौर ग्रहण के दिन, और वर्ष के आरंभ काल का समय, उस समय का चंद्रकेंद्र, आदि, दिये हुए हैं, जिनसे २००० वर्ष के किसी तारीख की तिथि और वार ५ मिनट में जाना जा सकता है । ग्यारहवीं में नक्षत्र और योग जानने के ध्रुवांक हैं । बारहवीं में १८४० ई० से १९२० ई० तक के कलियुग, शक, विक्रम, ईस्वी, हिजरी, कोल्लम सनों के अंक और प्रत्येक मास की अमावस्या का मध्यम और स्पष्टकाल और सूर्य, चंद्रमा के मन्दकेंद्र दिये गये हैं । तेरहवीं में ८ से लेकर ३५ अक्षांश तक के एक-एक

अंश के अन्तर के स्थानों तथा बम्बई और कलकता के वर्ष के प्रतिदिन के सूर्योदय का समय दिया गया है। चौदहवीं में नर्मदोत्तर भारत में व्यवहार किये जाने वाले ११६९ ई० से १९४० ई० तक के संवत्सरचक्र की सारणी है। पंद्रहवीं में आरंभ से लेकर १४२१ हिजरी सनों के समानार्थक ईसवी सन और उन महीनों के नाम, जिनमें हिजरी वर्ष आरंभ होता है, दिये गये हैं। सोलहवीं में अर्वाचीन चांद्र गणना के अनुसार स्पष्ट तिथि निकालने के कोष्ठक हैं। सत्रहवीं में सूर्य, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि और राहु को स्पष्ट करने के कोष्ठक हैं। अठारहवीं में उपर्युक्त ग्रहों की स्पष्ट स्थिति दस-दस दिन के अंतर पर सन १८४० से १९१९ ई० तक की बतायी गयी है, जो जन्मपत्र मिलाने वालों के लिए बहुत ही उपयोगी है। उन्नीसवीं में घड़ी और पल के मान दिन के दशमलव भिन्नों में तथा बीसवीं में घंटा और मिनट के मान दिन के दशमलव भिन्नों में लिखे गये हैं। एक्कीसवीं में नवमांशों का (प्रत्येक नक्षत्र के एक-एक चरण का) मान बताया गया है। बाईसवीं में कलियुग के आरंभ से किसी दिन तक के दिनों की संख्या (अहर्गण) जानने के कोष्ठक हैं। अंत में एक दृष्टि-सारणी है, जिससे तिथियों की स्पष्ट गणना मौखिक ही की जा सकती है।

यह ग्रंथ ज्योतिष के विद्यार्थियों, इतिहासज्ञों, पुरातत्त्व के अन्वेषकों और अदालतों के लिए अत्यंत उपयोगी है। इसके विद्वान लेखक का देहावसान अभी हाल ही में हुआ है।

छोटेलाल

लाला छोटेलाल का जन्म कब और कहाँ हुआ था, यह नहीं ज्ञात हो सका। आप एक सुयोग्य इंजीनियर थे। कुछ वर्ष हुए आप का देहावसान हो गया। वेदांग-ज्योतिष पर आपने अँग्रेज़ी में एक सुन्दर भाष्य लिखा है, जो १९०६-७ के हिंदुस्तान रिव्यू में प्रकाशित हुआ था। इसकी चर्चा वेदांग-ज्योतिष के संबंध में आ चुकी है। उससे प्रकट होता है कि आपने भारतीय ज्योतिष का अच्छा अध्ययन किया था और इसके साथ यूनान, मिस्र, बैबिलन आदि के प्राचीन ज्योतिष का भी तुलनात्मक अध्ययन किया था। आपने वेदांग-ज्योतिष के कई श्लोकों का अर्थ बड़ी विद्वतापूर्वक लगाया था और अपना उपनाम बार्हस्पत्य रक्खा था।

दुर्गाप्रसाद द्विवेदी

दुर्गाप्रसाद द्विवेदी का जन्म संवत १९२० (शक १७८५) में अयोध्या से ८ कोस पच्छिम 'पण्डितपुरी' गाँव में हुआ था। आप जयपुर के संस्कृत पाठशाला

के अध्यक्ष बहुत दिन तक रहे और अपनी विद्वत्ता के लिए महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त की।

भास्कराचार्य की लीलावती और बीजगणित पर आप ने संस्कृत और हिंदी में उपपत्ति सहित टीका और सिद्धांतशिरोमणि का प्राचीन और नवीन विचारों से पूर्ण उपपत्तीन्दुशेखर नामक भाष्य लिखा है। चापीय त्रिकोणमिति, क्षेत्रमिति, सूर्य-सिद्धांतसमीक्षा, अधिमास परीक्षा, पंचांग तत्त्व नामक पुस्तकें और अन्य पुस्तिकाएँ भी आप ने लिखी हैं। जैमिनिपद्यामृत नामक जैमिनि सूत्र का पद्यानुवाद सरस छन्दों में उदाहरण सहित किया है। ज्योतिष के अतिरिक्त दर्शन और साहित्य में भी आप ने ग्रंथ लिखे हैं। आप का देहावसान संवत १९९४ में हुआ।

चुलैट

दीनानाथ शास्त्री चुलैट एक अद्वितीय ज्योतिषी हैं, और वेदों के मर्मज्ञ भी। आप ने वेदों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि बहुत-से मंत्रों में गणित और ज्योतिष संबंधी बातें हैं। आप ने कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें वेदकाल-निर्णय और प्रभाकर-सिद्धांत मुख्य हैं।

वेदकाल-निर्णय—इस ग्रंथ में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि वेदों का समय केवल छः या साढ़े छः हजार वर्ष ही पुराना नहीं है, जैसा लोकमान्य तिलक ने अपने 'ओरायन' ग्रंथ में सिद्ध किया है, वरन् इसके कुछ मंत्रों से सूचित होता है कि वे लाखों वर्ष पुराने हैं। लोकमान्य तिलक ने तो भगवद्गीता के 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम' से केवल यही सिद्ध किया, और बड़ी कठिनता से, कि मार्गशीर्ष पहला मास इसलिए समझा जाता था कि छः हजार वर्ष पहले इसी नाम के नक्षत्र में, अर्थात मृगशिरा नक्षत्र में, वसंत विषुव था। परंतु चुलैटजी ने इसके प्रतिकूल यह सिद्ध किया है कि मृगशिरा नक्षत्र में नहीं वरन् मार्गशीर्ष मास में ही वसंत का आरंभ होता था, अर्थात उस समय अनुराधा या ज्येष्ठा नक्षत्र में वसंत विषुव था; इस प्रकार वह समय १८००० वर्ष पुराना था।

इसी प्रकार कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य के उद्धरणों से आप सिद्ध करते हैं कि उनके समय में वसंत-विषुव चित्रा और स्वाती नक्षत्रों के बीच में था; इसलिए कर्काचार्य का समय चौदह, पन्द्रह हजार वर्ष प्राचीन है। इस पुस्तक में आप भूगर्भविज्ञान के अनेक चित्र देकर यह सिद्ध करते हैं कि संस्कृत साहित्य में वर्णित जलप्रलयों और भूगर्भविज्ञान के विविध कालों में बहुत सामंजस्य है। पुस्तक

अद्भुत है और हिंदी भाषा में लिखी गयी है। भाषा सरल और शुद्ध नहीं है; इसलिए पढ़ने वालों को कुछ कठिनाई पड़ती है।

प्रभाकर-सिद्धांत—इसमें ग्रहलाघव के मूलांकों में अर्वाचीन ज्योतिष के आधार पर बीजसंस्कार देकर ग्रहों की शुद्ध गणना करने की रीति बहुत सुगम कर दी गयी है। इसी के आधार पर शास्त्री जी पहले प्रभाकर पंचांग बनाते थे, जिसमें ऐसा उपाय किया गया था कि वह सारे भारतवर्ष में काम दे सके। इसी के आधार पर बनाया हुआ भारतविजय पंचांग इन्दौर के ज्योतिष सम्मेलन के बाद, जिसका आयोजन आपने ही इन्दौर सरकार की सहायता से किया था, संवत १९९५ में प्रकाशित हुआ था। इस पंचांग में भी इतनी सामग्री भर दी गयी है कि यह एक उपयोगी ग्रंथ-सा हो गया है।

इन्दौर के ज्योतिष सम्मेलन की रिपोर्ट भी एक वृहदाकार ग्रंथ है, जिसमें दृग्गणना के पक्ष और विपक्ष दोनों ओर की बातें रखकर सिद्ध किया गया है कि दृग्गणना ही उचित है।

आप्ते

गोविन्द सदाशिव आप्ते का जन्म शक १७९२ (१८७० ई०) में महाराष्ट्र प्रांत में हुआ था। आप गणित के प्रोफेसर रहे हैं और अवकाश ग्रहण करने पर उज्जैन की वेधशाला के प्रधान बहुत दिन तक रहे। आप का देहावसान १९४१ में हुआ। आप ने शक १८५१ (१९२९ ई०) में सर्वानन्द-करण नामक ज्योतिष ग्रंथ की रचना प्रसिद्ध ग्रहलाघव के ढंग पर की है। इसके पूर्व खंड में कुल ११ अधिकार हैं, जिनमें सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की गणना करने की सरल रीतियाँ बतायी गयी हैं। चंद्रमा में केवल पाँच संस्कार करने को कहा गया है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इससे ग्रहों के जो भोगांश आते हैं वे सायन होते हैं। सायन से निरयण बनाने के लिए अयनांश घटा देना पड़ता है, जो अपने-अपने मत के अनुसार लगाया जा सकता है। इसलिए यह पुस्तक प्रत्येक पक्ष के लिए उपयोगी हो सकती है। इस संबंध में आप केतकर के चित्रापक्ष के प्रबल विरोधी हैं। आप ने एक अँग्रेज़ी पुस्तिका में कई प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भारतीय राशिचक्र का आदि स्थान वह नहीं है जहाँ से चित्रा तारा ठीक १८० अंश पर है वरन् रेवती नक्षत्र का ज़ीटा पिसियम तारा है, जिसके अनुसार अयनांश लगभग ४ अंश कम ठहरता है। आप के इस मत के समर्थक महाराष्ट्र में कई विद्वान हैं। इस पक्ष के अनुसार वहाँ कई पंचांग भी बनते हैं। चित्रा और रेवती पक्ष के पंचांगों में मलमास के संबंध में बहुत भिन्नता

रहती है जिसके कारण पर्वों और त्योहारों के निश्चय करने में वहाँ बहुत गड़बड़ी रहती है ।

इस खंड में एक उपकरणाधिकार है, जिसमें चंद्रमा की सूक्ष्मगति निकालने की भी रीति बतायी गयी है । इससे चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण का समय सूक्ष्मतापूर्वक बताया जा सकता है ।

सूर्यातिक्रमणाधिकार में यह बताया गया है कि बुध और शुक्र सूर्य के बिम्ब का वेध कब करते हैं । इस खंड के परिशिष्ट में आप ने दस-दस कलाओं की भुजज्या, कोटिज्या और स्पर्शज्या की सारणी दी है, जिसमें त्रिज्या १०००० मानी गयी है ।

उत्तर खंड में आपने पहले दशमलव भिन्नों के गुणा-भाग की रीति बता कर नवीन रीति से ग्रहगणना करने की विधि लिखी है, जिसमें त्रिकोणमिति, और गोलीय त्रिकोणमिति के अनुसार गणना करने की रीति बतायी गयी है, क्योंकि यह उन्हीं को प्रिय हो सकता है जो उच्च गणित का ज्ञान रखते हैं । इसलिए इस खंड का नाम प्रौढ़-रंजन रक्खा गया है ।

इसमें सौरार्यतिथि-साधन, सूक्ष्म नक्षत्रानयन, तिथि-तारिखानयन और उपपत्तिकथन नामक अध्याय बहुत महत्त्व के हैं ।

यह ग्रंथ उज्जैन में लिखा गया था, जिसकी वेधशाला का आप ने फिर से उद्धार किया है ।

उपसंहार

भारतीय ज्योतिष और ज्योतिषियों के संबंध में यहाँ तक जो कुछ लिखा गया है उसकी बहुत-सी सामग्री महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी की गणक-तरंगिणी और आचार्य शंकर बालकृष्ण दीक्षित के मराठी भारतीय ज्योतिषशास्त्र से ली गयी है । इनमें आये हुए कुछ ज्योतिषियों और उनके ग्रंथों की चर्चा विस्तार-भय से छोड़ दी गयी थी, जो नीचे की तालिका में दी जाती है :

ग्रंथकर्ता	ग्रंथ	रचनाकाल शक	विशेष
बलभद्र	?	८८८ ?	कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । भटोत्पल और पृथूदक स्वामी की टीकाओं में कुछ श्लोकों के अवतरण हैं ।

ग्रंथकर्ता	ग्रंथ	रचनाकाल शक	विशेष
वरुण	खण्डखाद्यक की टीका	९६२ ?	इस टीका में ९६२ शक के उदाहरण हैं।
दशबल	करणकमल मार्तण्ड	९८०	राजमृगांकोक्त बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धांत के अनुसार करणग्रंथ।
राजा ?	करणोत्तम	१०३८	इसकी चर्चा महादेव कृत श्रीपति रत्नमाला में कई बार आयी है और जातक-सार में भी एक श्लोक है।
सोमेश्वर	अभिलषितार्थ-चिंतामणि	१०५१	अनेक विषयों का संग्रह जिसमें ज्योतिष का भी विषय है और १०५१ शक के क्षेपक हैं।
भूलोकमल्ल	मानसोल्लास	?	
माधव	सिद्धांतचूड़ामणि	?	भास्कराचार्य के सिद्धांत शिरोमणि में उल्लेख है परंतु पुस्तक का अब पता नहीं है।
ब्रह्मा	बीजगणित	?	भास्कराचार्य के बीजगणित में उल्लेख है परंतु पुस्तक का पता नहीं है।
विष्णुदैवज्ञ	बीजगणित	?	
अनन्त दैवज्ञ	ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के छंदश्चित्युत्तर और वृहज्जातक पर टीकाएँ	?	शक ११४४ के एक शिलालेख से ज्ञात।
भोजराज ?	आदित्यप्रताप-सिद्धांत	?	श्रीपति की रत्नमाला की महादेवी टीका (शक ११८५) में इसके कुछ वाक्यों का उल्लेख है और आफ्रेच सूची में इसके कर्ता भोजराज कहे गये हैं।

ग्रंथकर्ता	ग्रंथ	रचनाकाल शक	विशेष
चक्रेश्वर	ग्रहसिद्धि ?	?	
नार्मद	सूर्य-सिद्धांत की टीका या इसके आधार पर कोई ग्रंथ जिसका पता नहीं है	१३०० के लगभग	ये पद्मनाभ के पिता थे।
सूर्यदेव यज्व	आर्यभटीय प्रकाशिका टीका	?	ईसवी की १२वीं शताब्दी (दत्त और सिंह)।
रामचन्द्र	कल्पद्रुम करण	?	करण-कुतूहल की १४८२ शक की टीका में यह नाम है।
अनन्त	महादेवकृत कामधेनु की टीका, जातक पद्धति	१४८० ?	
रघुनाथ	सुबोधमंजरी (करण)	१४८४	ब्रह्मपक्षीय ग्रंथ
कृपाराम	वास्तुचंद्रिका	शक १४२० के बाद	बीजगणित, मकरंद, यंत्रचिंतामणि पर उदाहरण सहित टीका तथा सर्वार्थ चिंतामणि, पंचपक्षी और मुहूर्त-तत्त्व की टीका भी लिखी है।
रघुनाथ शर्मा	मणिप्रदीप (करण)	१४८७	सिद्धांतशिरोमणि और सूर्यसिद्धांत के आधार पर।
नारायण	मुहूर्तमार्तण्ड और इस पर टीका, मार्तण्ड वल्लभ	१४९३-९४	मुहूर्त ग्रंथ।
दिनकर	खेटकसिद्धि, चंद्रार्की	१५००	ब्रह्मसिद्धांत के अनुसार करणग्रंथ।

ग्रंथकर्ता	ग्रंथ	रचनाकाल शक	विशेष
गंगाधर	ग्रहलाघव की मनोरमा टीका	१५०८	
श्रीनाथ	ग्रहचिंतामणि (करण)	१५१२	
गणेश	जातकालंकार	१५३५	जातक पर प्रसिद्ध पुस्तक।
नाग या नागेश	ग्रहप्रबोध	१५४१	दृग्गणितानुसार करणग्रंथ।
विट्ठल दीक्षित	मुहूर्तकल्पद्रुम और उसकी टीका, मुहूर्त कल्पद्रुम मंजरी	१५४९ ?	मुहूर्तग्रंथ।
नारायण	केशवपद्धति टीका, नारायणीबीजम्		ये मुनीश्वर के गुरु थे, जो शक १५२५ में पैदा हुए थे। दूसरी पुस्तक बीजगणित पर है।
शिवदैवज्ञ	अनन्तसुधारसविवृति (गणित), मुहूर्त-चूड़ामणि (मुहूर्त)	जन्मकाल १५२८	कृष्ण दैवज्ञ के पुत्र और नृसिंह-दैवज्ञ के अनुज।
बलभद्रमिश्र	हायनरत्न (ताजिक ग्रंथ)	१५६४	रामदैवज्ञ के शिष्य, शाहजहाँ के द्वितीय पुत्र शाहसुजा के आश्रित।
सोमदैवज्ञ	कल्पलता	१५६४	संवत्सर के राजा, मंत्री, आदि, के शुभाशुभ फल पर विचार।
रंगनाथ	सिद्धांत-शिरोमणि की मितभाषिणी टीका, सिद्धांत-चूड़ामणि	१५६२	ये नृसिंहदैवज्ञ के पुत्र और कमलाकर के भाई थे। सूर्य-सिद्धांत के अनुसार करण-ग्रंथ की रचना की थी।

ग्रंथकर्ता	ग्रंथ	रचनाकाल शक	विशेष
कृष्ण	करणकौस्तुभ	१५७५	महाराज शिवाजी के समय में ग्रहकौतुक, ग्रहलाघव तथा निज वेध के अनुसार करण ग्रंथ बनाया।
यादव	ग्रहप्रबोध पर उदाहरण सहित टीका	१५८५	
रत्नकंठ	पंचांगकौतुक	१५८०	खण्डखाद्यक के अनुसार पंचांग बनाने के लिए उपयोगी।
विद्दण	वार्षिक तंत्र	१६००से पूर्व	वर्तमान सूर्य-सिद्धांत के अनुसार।
जटाधर	फत्तेशाह-प्रकाश	१६२६	श्रीनगर के चंद्रवंशी राजा के नाम पर।
दादाभट	किरणावलि	१६४१	सूर्यसिद्धांत की टीका।
शंकर	वैष्णव करण	१६८८	भास्कराचार्य के अनुसार।
परमानन्द-पाठक	प्रश्नमाणिक्यमाला	१६७०	जन्मकुंडली के भावों का शुभाशुभ फल विचार है। यह काशिराज बलवंतसिंह के प्रधान गणक थे।
भुला	ब्रह्मसिद्धांतसार	१७०३	ब्रह्मपक्षानुसार सिद्धांतग्रंथ, सिद्धांत-शिरोमणि और ग्रहलाघव के आधार पर लिखा गया।
मथुरानाथ शुक्ल	१—यंत्रराज घटना, २—नक्षत्र स्थापन विधि	१७०४	राजा शिवप्रसाद, सितारे-हिंद, के बाबा डालचंद के आश्रित थे।

ग्रंथकर्ता	ग्रंथ	रचनाकाल शक	विशेष
चिंतामणि दीक्षित	१—सूर्यसिद्धांत की सारणी		
	२—गोलानन्द (वेधग्रंथ)	१७१३	
राघव (खांडेकर)	१—खेटकृति	१७३२	पहली पुस्तक ग्रहलाघव के अनुसार है, दूसरी सिद्धांत ग्रंथ है और तीसरी जातक पर है।
	२—पंचांगार्क	१७३९	
	३—पद्धति-चंद्रिका	१७४०	
शिवदैवज्ञ	तिथिपारिजात	१७३७	ग्रहलाघव के अनुसार।
यज्ञेश्वर (बाबा जोशी रोडे)	१—ज्योतिःपुराण-विरोध-मर्दन	१७५९	
	२—यंत्रराज-वासना टीका	१७६४	
	३—गोलानंद की अनुभावकी टीका		
	४—मणिकांति टीका		
	५—प्रश्नोत्तरमालिका		
विनायक पांडुरंग	वैनायिकी ताजिकग्रंथ		
खानापूरकर	सिद्धांतसार		

भारतीय ज्योतिष का प्रसार (अरब देशों में)

ब्रह्मगुप्त के वर्णन में यह चर्चा की गयी थी कि इनके दोनों ग्रंथों का अनुवाद अरबी में कराया गया था। यहाँ इस संबंध में कुछ विशेष बातें बतायी जाती हैं। रोम के प्रोफेसर सी० ए० नलिनो 'इन्साक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐंड एथिक्स' अध्याय १२, ९५ में लिखते हैं,[१] 'ज्योतिष के प्रथम वैज्ञानिक मूलांकों के लिए मुसलमान

[१] जी० आर० के की हिंदू ऐस्ट्रॉनोमी, पृष्ठ ४९ की पाद-टिप्पणी।

भारतवर्ष के ऋणी हैं। ७७१ ई० में भारतवर्ष की एक विद्वन्मंडली बगदाद गयी; इसके एक विद्वान ने अरबों को ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत का परिचय कराया, जिसे ब्रह्मगुप्त ने संस्कृत में ६२८ ई० में लिखा था। इस ग्रंथ से (जिसे अरब वाले अल सिंदहिंद कहते थे) इब्राहीम इब्न हबीब-अल-फज़ारी ने मूलांकों और गणना की रीतियों को लेकर अपने ज्योतिष की सारणियाँ मुसलमानी चांद्र वर्ष के अनुसार तैयार कीं। प्रायः इसी काल में याकूब इब्न तारीक ने अपनी 'तरकीब-अल-अफलाक' (खगोल की रचना) लिखी, जो ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के मूलांकों और रीतियों पर तथा उन ध्रुवांकों पर जिन्हें एक दूसरे भारतीय वैज्ञानिक ने एक दूसरी मंडली के साथ १६१ हिजरी (७७७-७७८ ई०) में बगदाद आकर दिया था, आश्रित था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रायः उसी समय खण्डखाद्यक का भी अरबी में 'अलअर्कंद' के नाम से अनुवाद किया गया, जिसे ६६५ ई० में ब्रह्मगुप्त ने ही रचा था परंतु जिसके मूलांक उसके पहले ग्रंथ के मूलांकों से भिन्न थे। अलफ़ज़ारी और याकूब इब्न तारीक के समकालीन अबुल हसन अल अहवाज़ी ने विद्वान भारतवासियों के शायद मौखिक शिक्षाओं से प्रभावित होकर 'अल अर्जभद' (अर्थात आर्यभट) के अनुसार ग्रहगतियों का परिचय अरबों को कराया। मुसलिम संसार में हिजरी की पंचम शताब्दी के पूर्वार्द्ध (ईस्वी की ११वीं शताब्दी) के अन्त तक इन भारतीय ग्रंथों के बहुत से अनुगामी हुए। कुछ ज्योतिषियों ने (जैसे, हबश, अननैरीज़ा, इब्न अस्संभ ने) भारतीय मूलांकों और प्रणालियों के आधार पर भी पुस्तकें लिखीं और यूनानी-अरबी मूलांकों के अनुसार भी। दूसरों ने (जैसे मुहम्मद इब्न इसहाक अस सरहसी, अबुलवफ़ा, अलबीरूनी, अलहजीनी ने) उन मूलांकों को ग्रहण किया, जिनकी गणना मुसलमान ज्योतिषियों ने भारतीय ज्योतिषियों के अनुकरण में कृत्रिम दीर्घ युगों के अनुसार की थी।"

इस संबंध में अलबीरूनी ने भारत पर अपने अरबी ग्रंथ में जिसका अँग्रेजी भाषान्तर बर्लिन के प्रोफेसर एडवर्ड सी० साचो ने किया है और जिसका हिंदी अनुवाद इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया है, बहुत कुछ लिखा है। यह विद्वान ९७३ ई० में खीवा में उत्पन्न हुआ था और महमूद गज़नवी के साथ भारतवर्ष में आकर यहाँ सन १०१७ ई० से लेकर १०३१ ई० तक रहा था और संस्कृत भाषा सीख कर इसके साहित्य की बहुत-सी, विशेषकर ज्योतिष की, बातें जान कर अरबी में पूर्वोक्त ग्रंथ का निर्माण किया था। वह लिखता है कि पूर्वकालीन मुसलिम ज्योतिषियों ने आर्यभट और अन्य सिद्धांत ग्रंथों की चर्चा की है। आर्यभट का एक अरबी रूपान्तर आर्जवह था जो और बिगड़ कर 'आज्जभर' हो गया। अलबीरूनी लिखता है कि 'सिंदहिंद' नाम की अरबी पुस्तक को हिंदू लोग सिद्धांत कहते हैं।

यूरोप और अमेरिका में

ईसा की १७वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में भारतीय ज्योतिष की चर्चा आरंभ हुई, जिसमें लाप्लास बेली, प्लेफेयर, डीलाम्बर, सर विलियम जोन्स, जान बेंटली, आदि ने भाग लिया। १६९१ ई० में फ्रांस के प्रसिद्ध ज्योतिषी जियोबनी डोमिनिको कैसिनी ने डी० ला० लूबियर के आसाम से लाये हुए कुछ ज्योतिष संबंधी नियमों का प्रकाशन किया और उसके थोड़ी ही देर बाद 'हिस्टोरिया रेग्नी ग्रीकोरम बैक्ट्रीयानी' के परिशिष्ट में टी० एस० बेयर ने हिंदू ज्योतिष की चर्चा की, जिसमें लियोनार्ड ऑयलर का एक निबंध ३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट और ३० सेकेंड के हिंदू वर्ष पर था। १७६९ ई० में लीवेंटिल नामक ज्योतिषी पांडीचेरी में शुक्र की वेधयुति देखने के लिए आया और १७७२ ई० में उसने 'त्रिवेलोर' सारणी और हिंदू ज्योतिष पर एक लेख प्रकाशित किया। इस प्रकाशन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि जीन सिलवेन बेली (पेरिस का पहला मेयर और नेशनल एसेंबली का सभापति, जिसने १७३६ ई० में जन्म लिया और जो १७९३ ई० में शूली पर चढ़ाया गया) इस ओर आकर्षित हो गया और १७८७ ई० में भारतीय ज्योतिष पर एक ग्रंथ[१] प्रकाशित किया। बेली की पुस्तक से लाप्लास और प्लेफेयर का ध्यान इस ओर बहुत आकर्षित हुआ। प्लेफेयर ने १७९२ ई० में एशियाटिक सोसाइटी में व्याख्यान देकर सुझाया कि हिंदू गणित और ज्योतिष का नियमपूर्वक अनुशीलन किया जाय।

इसी बीच में एस० डेविस ने १७८९ ई० में सूर्य-सिद्धांत का विश्लेषण किया और लिखा कि इस ग्रंथ में रविमार्ग की परम क्रांति २४ अंश है, जो आकाश के प्रत्यक्ष अवलोकन से जानी गयी होगी और यह अवलोकन २०५० ई० पूर्व किया गया होगा। सर विलियम जोन्स ने इसका समर्थन किया और कहा कि भारतीय नक्षत्र-चक्र अरब या यूनान से नहीं लिया गया। १७९९ ई० में जॉन बेंटली ने बेली की इस बात का विरोध किया कि भारतीय ज्योतिष बहुत प्राचीन है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सूर्य-सिद्धांत १०९१ ई० के आसपास का बनाया हुआ है। इस संबंध में कोलब्रुक, डीलाम्बर और बेंटली ने १८२५ ई० तक अच्छा वादविवाद किया। परंतु इसके साथ-साथ भारतीय ज्योतिष का अनुशीलन भी होता रहा। बंगाल के सेनानायक सर डबल्यू० बार्कर ने काशी के जयसिंह-निर्मित मान-मन्दिर के यंत्रों का अध्ययन किया और इसके कुछ बाद ही प्लेफेयर ने अपना सुझाव उपस्थित किया।

[१] ट्रेट डी ला ऐस्ट्रॉनोमी इंडियन एट ओरियंटल।

१७९९ ई० में हंटर ने उज्जैन की वेधशाला का ब्योरेवार वर्णन लिखा। परंतु भारतीय ज्योतिष के इतिहास का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेबर (१८६०-६८ ई०), ह्विटनी (१८५८) और थीबो (१८७७-१८८९) ने नींव डाली। वेबर ने वेदांग-ज्योतिष, ह्विटनी ने सूर्य-सिद्धांत का अनुवाद अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ और थीबो ने वराहमिहिर की पंच-सिद्धांतिका अपने अनुवाद और टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया। इनके साथ साचौ ने अलबीरूनी के भारत विषयक ग्रंथ का अनुवाद किया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मध्यकालीन हिंदू ज्योतिष और यूनानी ज्योतिष में घनिष्ठ संबंध है। इसलिए प्राच्यविद्या विशारदों का ध्यान वैदिक और वेदोत्तर कालों की ओर गया। १८९३ ई० में जैकोबी और तिलक ने अलग-अलग सुझाव उपस्थित किये कि वैदिक ग्रंथों में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वैदिक-काल बहुत प्राचीन है, परंतु ह्विटनी, ओल्डेनबर्ग और थीबो ने इसका घोर विरोध किया[1]।

बरजेस का कार्य

इस वादविवाद के बीच में रेवरेंड ई० बरजेस ने सन १८६० ई० में सूर्य-सिद्धांत का प्रसिद्ध अनुवाद अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी के जरनल में प्रकाशित किया, जिसमें भारतीय ज्योतिष के पक्ष और विपक्ष में कहने वालों का वैज्ञानिक रीति से विचार किया गया और दिखाया गया कि भारतीय ज्योतिष का महत्त्व क्या है। इस सुन्दर अनुवाद का दूसरा संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय के फणीन्द्रलाल गंगोली द्वारा सम्पादित होकर प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त की भूमिका के साथ कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ।

भारतीय ज्योतिष का एक दूसरा ग्रंथ डब्लू ब्रेनैंड ने सन १८९६ ई० में लिखा था, जिसके प्रथम भाग के १३ अध्यायों में हिंदू ज्योतिष पर यूनान, मिस्र, चीन और अरब के ज्योतिष के साथ तुलनात्मक विचार किया गया है और कई पौराणिक कथाओं का, जैसे शिव और दुर्गा का विवाह, सती की मृत्यु आदि का, संबंध ज्योतिषिक घटनाओं से बताया गया है और दूसरे भाग में सूर्य-सिद्धांत का अँग्रेज़ी में अनुवाद किया गया है। इस विद्वान का विश्वास था कि यूरोपवालों ने हिंदुओं को इनके साहित्य और गणितीय विज्ञान के लिए उतना श्रेय नहीं दिया जितने के वे अधिकारी हैं। यह ग्रंथ लंडन में १८९६ ई० में मुद्रित और प्रकाशित हुआ था। ब्रेनैंड महाशय बंगाल में बहुत दिन तक किसी कालेज के अध्यक्ष रह चुके थे।

[1] जी० आर० के की हिंदू ऐस्ट्रॉनोमी की भूमिका का सारांश।

इन ग्रंथों के होते हुए भी जी० आर० के महाशय अपने विविध लेखों और हिंदू एस्ट्रॉनोमी में हिंदू ज्योतिष के संबंध में कुछ बातें ऐसी लिखते हैं जिससे सिद्ध होता है कि ये भी भारतीय ज्योतिष को उतना श्रेय नहीं देना चाहते थे जितने का वह अधिकारी है। इसका उत्तर प्रयाग के श्री नलिनबिहारी मित्र ने १९१५-१६ के माडर्न रिव्यू में और कलकत्ता विश्वविद्यालय के कई आचार्यों ने, विशेषकर डाक्टर विभूतिभूषण दत्त और प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त ने, भारतीय और यूनानी ज्योतिष का तुलनात्मक अध्ययन करके दिया है।

आधुनिक खोज

वर्तमान समय में ज्योतिष में बहुत लगन के साथ खोज जारी है। सारी दुनिया के ज्योतिषी इसी में लगे हैं कि कोई नवीन बात निकालें। वह बात केवल एक देश के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए नवीन होनी चाहिए। ज्योतिषियों की खोज के परिणाम ज्योतिष और वैज्ञानिक पत्रिकाओं में छपते रहते हैं और प्रति वर्ष कई हजार पृष्ठ नवीन खोजों के विवरण में छपते हैं। हमारे भारतीय ज्योतिषी भी इसमें सहयोग देते हैं, यद्यपि बड़ी वेधशालाओं के अभाव से और प्रोत्साहन न मिलने से पिछले वर्षों में अन्य देशों से भारत पिछड़ा हुआ था। तो भी डॉक्टर मेघनाथ साहा, प्रोफेसर एस० चंद्रशेखर, इत्यादि ने ऐसा काम किया है कि विदेश में भी भारत का नाम है। यों तो वे सभी जो ज्योतिष विषय लेकर विश्वविद्यालयों से डॉक्टर की उपाधि लेते हैं, थोड़ी-बहुत खोज अवश्य करते हैं और ज्योतिष में नवीन बातों का पता लगाते हैं। उदाहरणतः, इन पंक्तियों के लेखक ने भी इस पर खोज की कि तारों की निजी गति और उनकी चमक में क्या संबंध रहता है। उत्तर प्रदेश के डॉक्टर चंद्रिकाप्रसाद, डॉक्टर हरिकेशव सेन और डॉक्टर रामसिंह कुशवाहा ने, तथा अन्य कुछ व्यक्तियों ने भी, ज्योतिष में खोज की है और कर रहे हैं।

हमारे प्राचीन ज्योतिषी इसी में जुटे रहते थे कि सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की स्थितियों की गणना कैसे की जाय। परंतु यह विषय अब प्रायः पूर्ण समझा जाता है। इस विषय पर सारे संसार में इने-गिने ही व्यक्ति काम करते होंगे। इन दिनों अधिकतर खोज तारों के संबंध में हो रही है और गत पचास वर्षों में आश्चर्य-जनक ज्ञानवृद्धि हुई है। उदाहरणतः, अब यह प्रमाणित हो गया है कि हमारे तारों की दुनिया का विस्तार सीमित है और हमारी ही जैसी तारों की बस्तियाँ असंख्य हैं। वे एक दूसरे से दूर-दूर पर बसी हैं। अब यह चेष्टा की जा रही है कि पता चले

कि तारों की भीतरी संरचना कैसी है[1]। इसमें भी बहुत-कुछ सफलता मिली है। इस खोज में इन दिनों ज्योतिष का भौतिक विज्ञान और रसायन से बहुत घना संबंध हो गया है। एक प्रकार से ऐटम बम के बनने का सूत्रपात वहाँ से होता है जब से ज्योतिषियों ने इस प्रसंग को उठाया कि सूर्य ठंढा क्यों नहीं हो जाता, और यदि वह आग का गोला है तो अब तक जलकर भस्म क्यों नहीं हो गया।

ज्योतिष के अब कई विभाग हो गये हैं। वर्णनात्मक ज्योतिष में आकाशीय पिंडों के रूप-रंग का अध्ययन किया जाता है, उनकी गति अथवा रासायनिक तथा भौतिक संरचना से विशेष सरोकार नहीं रहता। गतिक ज्योतिष में इस विषय का अध्ययन किया जाता है कि आकाशीय पिंडों के परस्पर आकर्षण से उनमें क्या गति उत्पन्न होगी। सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की स्थितियाँ बता सकने का काम इसी विभाग के आधार पर संभव है। भौतिक ज्योतिष में आकाशीय पिंडों की रासायनिक तथा भौतिक संरचना पर विशेष ध्यान दिया जाता है। भौतिक विज्ञान की उस शाखा को ज्योतिष-भौतिकी कहते हैं, जिसमें तारों आदि की संरचना का अध्ययन किया जाता है। इसमें और भौतिक ज्योतिष में कोई भेद नहीं है। गोलीय ज्योतिष में आकाशीय पिंडों की स्थितियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—उनकी स्थितियाँ कैसे नापी जायँ, इन नापों में क्या-क्या त्रुटियाँ रह जाती हैं, और वे कैसे दूर की जाती हैं, ग्रहणादि क्यों और कब लगते हैं, और समय कैसे नापा जा सकता है, इन सब विषयों पर ज्योतिष की इसी शाखा में विचार किया जाता है।

[1] देखें: गोरखप्रसाद कृत 'नीहारिकाएँ' (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना)।

अध्याय १८

भारतीय पंचांग

पंचांग

पूर्वगामी अध्यायों को पूर्णतया समझने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक को भारतीय पंचांग का कुछ ज्ञान हो। इसलिए इस अध्याय में इस विषय को सरल रीति से समझा दिया गया है।

पंचांग बताता है कि वर्ष का आरंभ कब हुआ, किसी दिन क्या दिनांक (तारीख) है; इत्यादि। पंचांग के संबंध में प्राचीन समय के लोगों को कठिनाई इसलिए पड़ती थी कि लोग वर्षमान—वर्ष की लंबाई—ठीक-ठीक नहीं नाप पाते थे। फिर, तब और अब भी, एक कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि एक वर्ष में दिनों की संख्या, या चांद्र मासों की संख्या, कोई पूर्ण संख्या नहीं है, और न एक चांद्र मास में ही दिनों की संख्या कोई पूर्ण-संख्या है।

यदि उद्देश्य यह हो कि वर्षारंभ सदा एक ही ऋतु में हो तो वर्षमान ठीक-ठीक सायन होना चाहिए, अन्यथा गड़बड़ी पड़ेगी। उदाहरणतः, मुसलिम धार्मिक वर्ष ठीक १२ चांद्र मासों के बराबर होता है, अर्थात उसका मान, मोटे हिसाब से २९½ × १२, अर्थात ३५४ दिन, होता है। परंतु सायन वर्ष ३६५·२४२२ दिन का होता है। इसलिए किसी एक वर्ष में यदि मुसलिम वर्ष का आरंभ उस दिन से हुआ जब वसंत में दिन रात बराबर होते हैं, अर्थात वसंत विषुव पर, तो आगामी वसंत विषुव से लगभग ३६५¼—३५४, अर्थात ११¼, दिन पहले ही मुसलिम वर्ष का अंत हो जायगा और नया वर्ष आरंभ हो जायगा। अगली बार नया वर्ष वसंत विषुव आने के २२½ दिन पहले ही आरंभ हो जायगा; और इसी प्रकार आगे भी। यही कारण है कि मोहर्रम या रमज़ान का महीना किसी भी ऋतु में पड़ सकता है। यदि किसी वर्ष रमज़ान जाड़े में है तो कुछ ही वर्ष बाद वह बरसात में

पड़ेगा। अधिक समय बीतने पर वह गर्मी के ऋतु में पड़ेगा और लगभग ३६५$\frac{१}{४}$ ÷ ११$\frac{१}{४}$ वर्षों के बाद वह फिर जाड़े में पड़ेगा।

भारतीय पंचांग

संस्कृत में पंचांग का नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें पाँच वस्तुएँ बतायी जाती हैं: (१) तिथि (जो दिनांक अर्थात तारीख का काम करती है); (२) वार, अर्थात कोई दिन रविवार, सोमवार, ... में से कौन-सा दिन है; (३) नक्षत्र (जो बताता है कि चंद्रमा तारों के किस समूह में है); (४) योग (जो बताता है कि सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों का योग क्या है); और (५) करण (जो तिथि का आधा होता है)।

पूर्वोक्त पाँच बातों के अतिरिक्त हिंदी पंचांगों में साधारणतः यह भी दिया रहता है कि अँग्रेज़ी दिनांक (तारीख) क्या है; मुसलिम तारीख क्या है; दिनमान क्या है (अर्थात सूर्योदय से सूर्यास्त तक कितना समय लगेगा); चंद्रमा का उदय और अस्त किन-किन समयों पर होगा, चुने हुए दिनों पर आकाश में ग्रहों की क्या स्थितियाँ रहेंगी और इनके अतिरिक्त फलित ज्योतिष की बहुत-सी बातें दी रहती हैं। नीचे हम तिथि आदि को अधिक ब्योरे के साथ समझायेंगे।

तिथि और वार

चंद्रमा और सूर्य के भोगांशों के अंतर से तिथि का निर्णय होता है; जब यह अंतर ०° और १२° के बीच रहता है तो तिथि को प्रतिपदा कहते हैं; अंतर के १२° और २४° के बीच रहने पर तिथि को द्वितीया कहते हैं; इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी होती हैं। आगामी तिथि अमावस्या या पूर्णिमा होती है। इस प्रकार एक चांद्र मास में ३० तिथियाँ होती हैं। परिभाषा से स्पष्ट है कि तिथि दिन या रात के किसी भी समय बदल सकती है। इसलिए पंचांग में लिखा रहता है कि अमुक तिथि का अंत अमुक समय होगा। पंचांगों में समय की एकाई साधारणतः १ घटी होती है (जो २४ घंटे के एक दिन के $\frac{१}{६०}$ के बराबर होती है)। घटी के ६०वें भाग को पल और पल के ६०वें भाग को विपल कहते हैं। पंचांगों में समय साधारणतः सूर्योदय से नापा जाता है। उदाहरणतः, यदि किसी विशेष तिथि (जैसे पंचमी) के सम्मुख समय ४ घटी ५१ पल लिखा है तो उस का अर्थ है कि पंचमी का अंत उस दिन सूर्योदय के ४ घटी ५१ पल बाद हुआ।

लौकिक कार्यों के लिए सूर्योदय के क्षण की तिथि, उस क्षण से लेकर आगामी सूर्योदय तक, बदली नहीं जाती है। इस प्रकार, ऊपर बताये गये उदाहरण में उस

दिन, जिसमें पंचमी का अंत सूर्योदय के लगभग २ घंटे बाद हुआ, महाजन सारे दिन और सारी रात को पंचमी मानेगा, यद्यपि उस दिन सूर्योदय के लगभग २ घंटे बाद से ज्योतिष की परिभाषा के अनुसार षष्ठी का आरंभ हो गया था।

ऊपर की परिभाषा से स्पष्ट है कि तिथियों की अवधि (घंटों या घटीयों में नाप) बराबर नहीं होती, क्योंकि चंद्रमा और सूर्य के भोगांश समान अर्घ (दर) से नहीं बढ़ते। वे तो केपलर के नियमों के अनुसार बढ़ते हैं और ऊपर से कई विक्षोभ भी होते हैं। इसलिए तिथि की अवधि एक सूर्योदय से आगामी सूर्योदय तक के समय से छोटा भी हो सकता है, बड़ा भी। इसलिए ऐसा हो सकता है कि कोई तिथि इतनी छोटी हो कि किसी दिन सूर्योदय के थोड़े ही समय बाद उसके आरंभ होने पर आगामी सूर्योदय के पहले ही उसका अंत हो जाय। इस से स्पष्ट है कि वैध (लौकिक) तिथियाँ क्रमागत नहीं होतीं। उदाहरणतः, पंचांग के अनुसार बुध, १३ दिसंबर १९५०, को चतुर्थी का अंत सूर्योदय के १ घटी के ५ पल बाद हुआ और आगामी तिथि का (अर्थात पंचमी का) अंत आगामी सूर्योदय होने के ५ घटी २५ पल पहले ही हो गया। इस प्रकार बुध के दिन सूर्योदय के समय ज्यौतिष तिथि चतुर्थी थी और अगले दिन बृहस्पति को सूर्योदय के समय तिथि षष्ठी थी। इसलिए बुध को सारे दिन वैध तिथि चतुर्थी थी और बृहस्पति को सारे दिन षष्ठी थी। इस प्रकार इस पक्ष (अर्धमास) में पंचमी किसी दिन थी ही नहीं।

फिर, ऐसा भी हो सकता है कि कोई तिथि २४ घंटे से अधिक की हो और वह किसी दिन सूर्योदय के थोड़े समय पहले आरंभ हो और आगामी दिन के सूर्योदय के कुछ समय बाद उसका अंत हो। इसका परिणाम यह होगा कि दो क्रमागत दिनों में एक ही तिथि रहेगी। उदाहरणतः, सोमवार, १९ दिसंबर १९५०, और मंगल, २० दिसंबर १९५०, दोनों ही दिन एकादशी थी। परंतु चांद्र मास की अवधि लगभग २९½ दिन है और उतने में ३० तिथियाँ हैं। इसलिए अधिकतर तिथियों का क्षय ही होता है, पुनरावृत्ति कम होती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वैध तिथि सूर्योदय के समय पर भी निर्भर है, और इसलिए ऐसा हो सकता है, और होता भी है, कि विभिन्न स्थानों में एक ही दिन विभिन्न तिथियाँ हों। परंतु एक क्षेत्र के लोग साधारणतः किसी केंद्रीय स्थान का पंचांग मानते हैं और ठीक अपने स्थान का पंचांग आवश्यक नहीं समझते। इसलिए व्यवहार में वस्तुतः कठिनाई नहीं उत्पन्न होती।

अंकों से तिथि बताने की दो पद्धतियाँ हैं; या तो अमावस्या के बाद से आरंभ करके उनकी संख्या १ से ३० तक दिखायी जाती है, या, पक्ष बता कर और

अमावस्या या पूर्णिमा के बाद से आरंभ करके, १ से १५ तक। पक्ष आधे चांद्र मास को कहते हैं। एक पक्ष कृष्ण पक्ष कहलाता है जिसमें संध्या के समय चंद्रमा का उदय नहीं हुआ रहता; दूसरा शुक्ल पक्ष कहलाता है।

वार सात होते हैं: रविवार, सोमवार, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनिवार। मंगल, बुध, बृहस्पति और शुक्र को क्रमानुसार मंगलवार, बुधवार, इत्यादि भी कहते हैं। रविवार को आदित्यवार (या हिंदी में एतवार) भी कहते हैं।

नक्षत्र

रविमार्ग को २७ बराबर भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक नक्षत्र कहते हैं। चंद्रमा का तारों के सापेक्ष एक चक्कर लगभग २७$\frac{१}{३}$ दिन में लगता है। इसलिए चंद्रमा (वस्तुतः चंद्रमा से रविमार्ग पर डाले गये लंब का पाद) एक नक्षत्र में लगभग १ दिन तक रहता है। नक्षत्रों के नाम अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि हैं। अश्विनी का प्रथम विंदु मेष के प्रथम विंदु को ही माना जाता है (नीचे भी देखो)।

जब कहा जाता है कि इस क्षण अश्विनी नक्षत्र है तो साधारणतः अर्थ यही रहता है कि चंद्रमा अश्विनी नामक नक्षत्र में है। परंतु कभी-कभी यह अर्थ भी होता है कि सूर्य अश्विनी में है। उदाहरणार्थ, जब कहा जाता है कि कृष्ण भगवान का जन्म रोहिणी नक्षत्र में हुआ था तो अभिप्राय यह है कि उस समय चंद्रमा रोहिणी नक्षत्र में था; परंतु जब कहा जाता है कि वर्षा का आरंभ आर्द्रा नक्षत्र में होता है तो अभिप्राय यह होता है कि वर्षा का आरंभ तब होता है जब सूर्य आर्द्रा नक्षत्र में रहता है। नक्षत्र का अंत कब होगा (अर्थात चंद्रमा उस नक्षत्र को छोड़ कर आगामी नक्षत्र में कब जायगा) यह पंचांगों में दिया रहता है।

नक्षत्र का एक अर्थ तारा भी है; कुछ तारों के समूह को भी नक्षत्र कहते हैं, विशेषकर तारों के उन छोटे-छोटे समूहों को जो चंद्रमा के मार्ग में पड़ते हैं। ये समूह तारामंडलों से छोटे हैं और इनके वे ही नाम हैं जो ऊपर रविमार्ग के खंडों के लिए बताये गये हैं, अर्थात अश्विनी, भरणी, आदि। ऐसा जान पड़ता है कि अत्यंत प्राचीन समय में अश्विनी, भरणी आदि से तारों के समूह ही समझे जाते थे और आँख से देख कर पता लगाया जाता था कि चंद्रमा किस नक्षत्र में, अर्थात किस तारका-पुंज में है। पीछे गणना की सुविधा के लिए नक्षत्र को रविमार्ग का ठीक सत्ताईसवाँ भाग मान लिया गया।

इति० १८

योग और करण

सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों के योगफल से योग ज्ञात किया जाता है। योगफल को संख्याओं में न बताना पड़े इस अभिप्राय से यह मान लिया गया है कि २७ योग होते हैं और उनके नाम रख दिये गये हैं, जैसे विषकंभ, प्रीति, इत्यादि। योग ज्ञात करने के लिए सूर्य और चंद्रमा के भोगांशों के योगफल को कलाओं में व्यंजित करना चाहिए और तब उसे ८०० से भाग देना चाहिए। भजनफल के पूर्ण संख्या में एक जोड़ देने से योग की क्रमसंख्या प्राप्त होगी। उदाहरणतः, यदि भजनफल १·३७२ मिले तो योग की क्रमसंख्या २ होगी और इसलिए उस क्षण प्रीति नामक योग होगा। पंचांगों में योगों के अंतिम क्षण दिये रहते हैं। योग देने का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि तिथि और नक्षत्र की गड़बड़ी की जाँच हो सके।

करण—आधी तिथि का एक करण होता है। उदाहरणतः, प्रतिपदा के पहले आधे को बालव नामक करण माना जाता है; दूसरे आधे को कौलव; इत्यादि। परंतु ३०×२ नाम होने के बदले नाम थोड़े ही हैं और करणों का क्रम जानने के लिए एक नियम है, जिसे यहाँ देना आवश्यक नहीं जान पड़ता।

लग्न

किसी क्षण क्या लग्न है यह इससे पता चलता है कि उस क्षण रविमार्ग का कौन-सा खंड पूर्वीय क्षितिज को पार कर रहा है। लग्न के उल्लेख से वही उद्देश्य सिद्ध होता है जो आधुनिक प्रणाली में घंटा बताने से।

मास

पूर्वोक्त पाँच बातें प्रतिदिन (और कुछ तो दिन में कई बार) बदलती हैं। इसलिए किसी घटना का समय बताने के लिए इनके अतिरिक्त अवश्य ही मास और वर्ष भी बताना पड़ता है। हिंदू पंचांगों में चांद्र मासों का उपयोग होता है और नियमानुसार समय-समय पर एक वर्ष में १२ के बदले १३ मास रख कर ऐसा प्रबंध किया जाता है कि महीनों और ऋतुओं का संबंध टूटने नहीं पाता। तेरहवें मास, अर्थात अधिमास, के जोड़ने के लिए वैज्ञानिक नियम बने हैं। यूरोप के लोगों के महीनों का अमावस्या-पूर्णिमा से कोई संबंध नहीं रह गया है और उन्होंने महीनों में इच्छानुसार दिन रखकर १२ महीनों को एक वर्ष के बराबर बना लिया है। मुसलिम वर्ष, जैसा हम देख चुके हैं, १२ चांद्र मासों का होता है, जिससे मास और ऋतु में कोई अचल संबंध नहीं रहता। यह उनका धार्मिक वर्ष है। लगान वसूल करने के लिए मुसलमान

बादशाहों को एक अन्य वर्ष का प्रयोग करना पड़ता था जिसे वे फसली (=फसल वाला) वर्ष कहते थे और जिस की लंबाई लगभग सायन थी।

वर्ष में चांद्र मासों के नाम, और यदि अधिमास लगे तो उसका भी नाम, हिंदू पंचांग में सौर महीनों के नाम पर पड़ते हैं। एक विशेष विंदु से आरंभ करके रविमार्ग को १२ भागों में बाँटा गया है, जिनमें से प्रत्येक को एक राशि कहते हैं। जब तक सूर्य प्रथम राशि में रहता है उतने समय तक प्रथम सौर मास रहता है, दूसरी राशि में जब तक सूर्य रहता है उतने समय तक द्वितीय सौर मास रहता है; इत्यादि।

इस प्रकार ज्यौतिष सौर मास, जिसकी परिभाषा ऊपर दी गयी है, दिन-रात के किसी क्षण पर आरंभ हो सकता है। सुविधा के लिए वैध (अर्थात लौकिक व्यवहार वाला) सौर मास ज्यौतिष सौर मास के प्रथम सूर्योदय से आरंभ होता है।

राशि नामों के अर्थ वे ही हैं जो यूरोपीय नामों के। वे यों हैं:

मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन।

उस क्षण को संक्रांति कहते हैं जब सूर्य एक राशि से आगामी राशि में जाता रहता है। मेष-संक्राति उस क्षण को कहते हैं जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है। ज्यौतिष सौर मास एक संक्रांति से आगामी संक्रांति तक चलता है।

सौर महीनों के वे ही नाम हैं जो राशियों के हैं, परंतु विकल्प से उनके वे नाम भी हैं जो चांद्र मासों के हैं। उदाहरणतः, मेष सौर मास को बैसाख सौर मास भी कहते हैं।

सौर मासों में दिनांक १ से २९, ३०, ३१, या ३२ तक हो सकते हैं, क्योंकि सूर्य के न्यूनाधिक कोणीय वेग के कारण सौर मासों की लंबाइयाँ विभिन्न होती हैं। बंगाल, उड़ीसा और मद्रास के कई जिलों में सौर मास ही अधिक चलते हैं; परंतु इन स्थानों में भी धार्मिक कृत्य, त्यौहार और फलित ज्योतिष की गणनाएँ चांद्र तिथियों पर आश्रित हैं।

ज्योतिष के काम के लिए उत्तर भारत में चांद्र मास पूर्णिमा के क्षण के ठीक बाद से आरंभ होकर आगामी पूर्णिमा के क्षण तक (और उस क्षण को सम्मिलित करके) चलता है। परंतु लौकिक कार्यों के लिए चांद्र मास ज्यौतिष चांद्र मास के प्रथम सूर्योदय से आरंभ होता है। दक्षिण भारत में चांद्र मासों की गणना अमावस्या से अमावस्या तक होती है, यही प्रथा पहले उत्तर में भी चलती थी। अब केवल शुक्ल पक्ष में उत्तर और दक्षिण के महीनों में एकता रहती है। कृष्ण पक्ष में उत्तर भारत में चांद्र मास का नाम दक्षिण की तुलना में एक मास आगे बढ़ा रहता है।

चांद्र मासों का नाम २७ नक्षत्रों में से चुने हुए १२ नक्षत्रों पर पड़ा है। ये १२ नक्षत्र इस प्रकार चुने गये हैं कि वे यथासंभव बराबर-बराबर कोणीय दूरी पर रहें और उनमें कोई चमकीला तारा रहे। महीने का नाम उस तारे या नक्षत्र पर पड़ जाता है जहाँ चंद्रमा के रहने पर उस मास पूर्णिमा होती है। उदाहरणतः, उस मास को चैत्र कहते हैं जिसमें पूर्णिमा तब होती है जब चंद्रमा चित्रा (प्रथम कन्या, ऐल्फा वर्जिनिस) के पास रहता है। चैत्र को हिंदी में चैत कहते हैं।

अधिमास का लगना सौर और चांद्र मासों के संबंध पर आश्रित है। इसे समझने के लिए चांद्र और सौर मासों की लंबाइयों पर ध्यान देना चाहिए :

हम जानते हैं कि एक वर्ष में लगभग ३६५$\frac{1}{4}$ दिन होते हैं। इसलिए एक सौर मास इसका बारहवाँ भाग, अर्थात लगभग ३० दिन और १०$\frac{1}{2}$ घंटे का होता है। यह चांद्र मास (२९$\frac{1}{2}$ दिन) से अधिक है। इसलिए बहुधा ऐसा होगा कि एक ही सौर मास में दो अमावस्याएँ पड़ेंगी। ऐसे अवसरों पर दो क्रमागत चांद्र मासों को एक ही नाम दे दिया जाता है। उस चांद्र मास को (अमावस्या से अमावस्या तक के समय को) अधिमास (या मलमास) कहा जाता है जिसमें संक्रांति नहीं होती। इस प्रकार उस वर्ष १३ महीने होंगे। स्पष्ट है कि चांद्र मास वस्तुतः सौर मासों के आधीन होते हैं और अधिमासों का नियम अपने-आप चांद्र मासों और ऋतुओं का संबंध बनाये रखता है; यदि अंतर पड़ता है तो अधिक-से-अधिक १५ दिन इधर या १५ दिन उधर[1]।

सूर्य विभिन्न राशियों को बराबर समयों में नहीं पार करता। कुछ सौर महीने २९$\frac{1}{2}$ दिन के चांद्र महीने से छोटे होते हैं। इसलिए कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उस छोटे सौर मास में कोई अमावस्या नहीं पड़ती। ऐसे अवसर पर एक महीना पड़ता ही नहीं; परंतु ऐसा विरले अवसरों पर ही होता है।

वर्ष

समय की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एकाई वर्ष है। आप्टेकृत अँग्रेज़ी-संस्कृत कोष में वर्ष के अँग्रेज़ी शब्द के लिए वर्ष, संवत्सर, वत्सर, अब्द, हायन, समा, शरद और संवत ये शब्द दिये हैं, और इन सब शब्दों का संबंध ऋतुओं से है। वर्ष और वर्षा का संबंध तो स्पष्ट है ही; संवतसर का अर्थ है वह आवर्तकाल जिसमें सब ऋतुएँ

[1] यहाँ यह मान लिया गया है कि सौर मास स्वयं ऋतुओं के साथ चलते हैं, अर्थात वर्ष का मान ठीक सायन है।

एक बार आ जायँ; इत्यादि। प्रत्यक्ष है कि भारत में प्राचीन काल से ही वर्ष का अर्थ सायन वर्ष समझा जाता है। इसका प्रमाण इससे भी मिलता है कि वर्ष को दो भागों में बाँटा जाता था, एक वह जिसमें सूर्य उत्तर जाता है (उत्तरायण) और दूसरा वह जिसमें सूर्य दक्षिण जाता है (दक्षिणायन)।

परंतु हमारे प्राचीनतम ज्योतिषी अयन (विषुव-चलन) को नहीं जानते थे। बाद वाले ज्योतिषियों में यह निर्विवाद नहीं था कि वसंत विषुव एक मध्यक स्थिति के इधर-उधर दोलन करता है या बराबर एक ओर चलता रहता है। बात यह है कि गतिविज्ञान का उनका ज्ञान इतना अधिक नहीं था कि वे निश्चायात्मक रूप से जान सकें कि वसंत विषुव सदा एक दिशा में चलता रहेगा। परिणाम यह हुआ कि भारतीय ज्योतिषी नाक्षत्र और सायन वर्षों में बहुत समय तक भेद नहीं मानते थे, और यद्यपि वे सायन वर्ष का मान जानना चाहते थे, उन्होंने नाक्षत्र वर्ष का मान नाप पाया। सूर्य-सिद्धांत के अनुसार एक वर्ष ३६५ दिन ६ घंटे १२ मिनट ३६·६५ सेकंड का होता है। परंतु आधुनिक नापों के अनुसार सायन वर्ष की नाप इससे लगभग २४ मिनट छोटी है। सूर्य-सिद्धांत और शुद्ध नाक्षत्र वर्ष में कुल ३ मिनट का अंतर है।

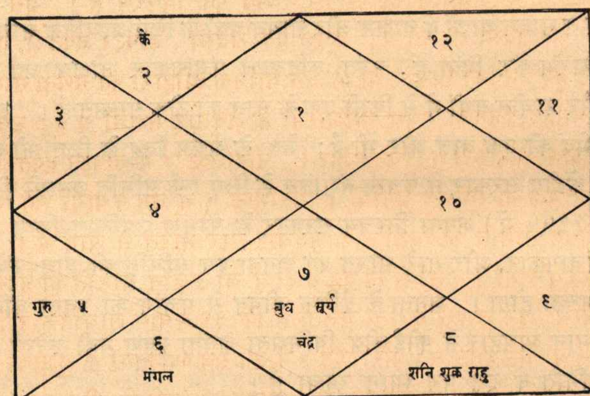
दुर्भाग्य की बात है कि आज के भारतीय पंचांगकार एकमत नहीं हैं। उनमें से रूढ़ि को न मानने वालों ने नाक्षत्र और सायन वर्षों के लिए आधुनिक मानों को काम में लाना आरंभ कर दिया है, परंतु रूढ़िवादी पंचांगकार नाक्षत्र वर्ष का प्रयोग करते हैं और प्राचीन ग्रंथों में से किसी एक के मान को ठीक समझते हैं। इसके अतिरिक्त मतभेद की एक बात और भी है; मेष के प्रथम बिंदु के लिए भी झगड़ा है। भारत की केंद्रीय सरकार ने पंचांग-संशोधन के लिए एक समिति बनायी थी। उसने हाल में (१९५५ में) अपना निश्चय सरकार के सम्मुख उपस्थित किया है। यदि सरकार, पंचांगकार, और सारे भारत की जनता इस समिति की बात स्वीकार करे तो बहुत अच्छा होगा। जनता के दैनिक जीवन से पंचांग का इतना घनिष्ठ संबंध है कि वर्तमान व्यवहार से कोई तीव्र विभिन्नता जनता ग्रहण नहीं करेगी। पंचांग-संशोधन समिति ने इस पर ध्यान रक्खा है।

इस संबंध में स्मरण रखना चाहिए कि यदि हम सायन वर्ष को नहीं अपनायेंगे तो महीनों के सापेक्ष ऋतुओं में अंतर बढ़ता चला जायगा और कुछ समय में बड़ा अनर्थ हो जायगा। आज-कल सावन भादों वर्षा के लिए प्रसिद्ध हैं, परंतु यदि हम सूर्य-सिद्धांत के ही वर्षमान का प्रयोग कुछ हजार वर्षों तक करते चले जायँगे तो उन महीनों में जिन्हें हम सावन और भादों कहेंगे कड़ाके का जाड़ा पड़ेगा! कालिदास के समय से आज २५ दिन का अंतर ऋतुओं में पड़ गया है। जैसी ऋतु कालिदास के समय में कुआर के महीने के प्रथम पचीस दिनों में रहती थी वैसी अब भादों के

अंतिम पचीस दिनों में रहती है; दूसरे शब्दों में जिस महीने को ऋतु के अनुसार हमें कुआर कहना चाहिए उसे हम वर्षमान की अशुद्धि के कारण भादों कहते हैं। वेदांग-ज्योतिष के समय से तो लगभग ४४ दिन का अंतर पड़ गया है।

कुंडली

कुंडली में, एक विशेष रूप से बारह घर (कोष्ठ) बना कर, सूर्य, चंद्रमा और पाँच प्राचीन ग्रह तथा चंद्रकक्षा के पातों (राहु और केतु) की स्थितियाँ, किसी विशेष क्षण पर, विशेषकर किसी व्यक्ति के जन्म के क्षण पर, दिखायी जाती हैं। कुंडली के बारह घर बारह राशियों को निरूपित करते हैं। ऊपरी पंक्ति के बीच वाले घर में उस राशि का क्रमांक लिखा जाता है जो अभीष्ट क्षण पर लग्न था, अर्थात पूर्वीय क्षितिज को काट रहा था। इसके बाद अन्य घरों में क्रमानुसार अन्य राशियों की संख्या लिख दी जाती है (चित्र देखो)। इस प्रकार प्रत्येक घर अब उस राशि को निरूपित करता है जिसकी संख्या उस घर में लिखी है (अवश्य ही, मेष को प्रथम राशि माना जाता है)। अब जिस राशि में जो ग्रह उस क्षण आकाश में था कुंडली के उसी घर में उसका नाम लिख दिया जाता है।



नूतन वर्ष २०१२ विक्रमी के आदिक्षण की कुंडली।

('जन्मभूमि' नामक खगोलसिद्ध निरयन कार्तिकी पंचांग के अनुसार)

कुंडलियाँ फलित ज्योतिष में भविष्य बताने के काम में आती हैं, परंतु गणितज्ञों और इतिहासज्ञों के लिए भी वे महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि कुंडली में दी गयी ग्रहों और सूर्य

आदि की स्थितियों से उस क्षण के दिनांक और समय का पता चल सकता है जिसके लिए कुंडली बनायी गयी थी[1]।

भारतीय पंचांग-पद्धति वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आश्रित है और इसके अनुसार चांद्र मास और वर्षारंभ दोनों ऋतु के अनुसार चलते हैं। एक दोष इसमें यह अवश्य है कि ज्योतिष न जानने वाली जनता स्वयं दिनांकों की गणना नहीं कर सकती, परंतु मध्यकालीन दिनांकों की सत्यता की जाँच में यह अवगुण वस्तुतः महान गुण सिद्ध हुआ है। यह खेद की बात है कि सारा भारत एक ही पंचांग नहीं मानता, परंतु इस बात का सुधार करने के लिए उपाय किया जा रहा है।

भारत सरकार की पंचांग-संशोधन समिति

काउंसिल ऑव सायंटिफिक ऐंड इंडस्ट्रियल रिसर्च, ओल्ड मिल रोड, नयी दिल्ली से प्रकाशित, भारत सरकार की पंचांग-संशोधन समिति की रिपोर्ट अब जनता भी खरीद सकती है। इसमें लगभग ३०० पृष्ठ हैं और आकार बहुत बड़ा है। आरंभ में श्री जवाहरलाल नेहरू का संदेश है। भूमिका में सभापति डॉक्टर मेघनाथ साहा ने बताया है कि पंचांग और सरकार से क्या संबंध है, फिर पंचांग की मोटी-मोटी बातें बता कर समिति की विविध बैठकों का विवरण हैं। इस समिति के परामर्शों से सब सदस्य सहमत थे; केवल एक सादस्य, डाक्टर दफ्तरी, एक बात में नहीं सहमत हुए: उनका विचार था कि उन धार्मिक त्योहारों की गणना सायन[2] नक्षत्रों से करनी चाहिए, जिनका संबंध धर्मशास्त्रों के अनुसार नक्षत्रों से है; उनकी गणना निरयन[3] नक्षत्रों से करना अनुचित होगा। परिशिष्ट ४ में डाक्टर दफ्तरी का लिखा हुआ इस मतभेद का समर्थन छपा है। परिशिष्ट ५ में उन पंचांगों की सूची है जो पंचांग-संशोधन समिति की विज्ञप्ति के अनुसार सारे भारत से आये थे। परिशिष्ट ६ में इन सब पंचांगों के कर्त्ताओं का वह उत्तर है जो उन्होंने समिति की प्रश्नावली पाने पर भेजा था। इन उत्तरों से पता चलता है कि ३६ पंचांग आधुनिक रीति से बनते हैं; शेष १५ प्राचीन रीति से। परिशिष्ट ७ में उन सब व्यक्तियों के सुझावों का सारांश है जिन्होंने समिति को पत्र लिखने का कष्ट उठाया था (समिति की ओर से सुझाओं की

[1] कभी-कभी दिनांक में तीन दिन का अंतर पड़ सकता है, क्योंकि चंद्रमा एक राशि से दूसरे में जाने में दो दिन से अधिक समय लेता है।

[2] अर्थात वसंत विषुव के साथ चलने वाले।

[3] अर्थात तारों के हिसाब से स्थिर।

माँग सब समाचार पत्रों में छपी थी)। इसके बाद शक १८७६ से शक १८८० तक (१९५४ मार्च से १९५९ मार्च तक) के लिए आधुनिक पंचांग है। इसके बाद त्यौहारों के लिए नियम विविध धर्मशास्त्रों या लोकाचारों के आधार पर बताये गये हैं। साथ में विविध प्रांतों के लिए छुट्टियों की सूचियाँ भी संलग्न हैं।

यहाँ तक की सामग्री खंड **क** और **ख** में है। इसके बाद खंड **ग** है जिसे डाक्टर मेघनाथ साहा और श्री निर्मलचंद्र लहिरी ने मिलकर लिखा है। इसमें विविध देशों में प्राचीनतम समय से आधुनिक समय तक पंचांग का इतिहास दिया गया है।

समिति के परामर्श निम्नलिखित हैं:

(१) वर्ष ३६५·२४२२ दिन का हो। इसका परिणाम यह होगा कि ऋतुओं के हिसाब से महीने भविष्य में न खिसकेंगे। जिन महीनों में जैसा ऋतु आज रहता है वैसा भविष्य में भी बना रहेगा। जो गड़बड़ी पड़ चुकी है उसे ठीक करने की चेष्टा नहीं की गयी है। वर्षमान का बदल जाना जनता को पता ही न चलेगा, क्योंकि अंतर बहुत सूक्ष्म है।

(२) भारतीय वर्ष का आरंभ वसंत-विषुव दिवस से (अर्थात २२ मार्च से) हो। सौर महीनों का उपयोग करने वाले प्रांतों में इससे विशेष कठिनाई न पड़ेगी; केवल एक वर्ष कुछ असुविधा होगी। उत्तर प्रदेश में इन दिनों हिंदू वर्ष चैत से आरंभ होता है, जो आगे-पीछे हटा करता है।

(३) वर्ष के दूसरे से लेकर छठे सौर महीनों में ३१ दिन रहें; शेष में ३० दिन; अधिवर्षों में सातवें महीने में भी ३१ दिन रहेंगे। भारतीय प्रथा में अधिवर्ष उसी वर्ष होगा जब यूरोपीय वर्ष में अधिवर्ष (लीप इयर) होगा। यह बंगाल आदि में प्रचलित प्रथा के इतना निकट है कि वहाँ कोई कठिनाई न पड़ेगी।

(४) दिन का आरंभ अर्ध-रात्रि से माना जाय।

(५) भारत सरकार का पंचांग उज्जैन के अक्षांश और ग्रिनिच से ५½ घंटा पूर्व देशांतर के लिए बना करे।

(६) शक वर्षों का प्रयोग किया जाय।

भारतीय ज्योतिष संबंधी संस्कृत ग्रंथ

१. वेदांग-ज्योतिष—ग्रंथकार लगध महात्मा

(क) मूल और संस्कृत टीका, सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १९०६।

(ख) मूल, अँग्रेजी अनुवाद और संस्कृत टीका, शामशास्त्री, मैसूर, १९३६।

२. सूर्य-सिद्धांत—ग्रंथकार अज्ञात।

(क) मूल और रंगनाथ कृत संस्कृत टीका; संपादक जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता, १८९१।

(ख) मूल और संस्कृत टीका, कपिलेश्वर चौधरी, बनारस, १९४६।

(ग) मूल और संस्कृत टीका, सीताराम झा, बनारस १९४२।

(घ) मूल और संस्कृत टीका, सुधाकर द्विवेदी, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता १९२५।

(ङ) मूल और परमेश्वर कृत संस्कृत टीका, संपादक डाक्टर कृपाशंकर शुक्ल, लखनऊ, १९५६।

(च) अँग्रेजी अनुवाद और टीका, बापूदेव शास्त्री, कलकत्ता १८६१।

(छ) अँग्रेजी अनुवाद और टीका, ई० बरजेस; पुनर्मुद्रित, कलकत्ता, १९३५

(ज) हिंदी अनुवाद और टीका, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, इलाहाबाद, १९४०।

३. आर्यभटीय—ग्रंथकार आर्यभट प्रथम (जन्म ४७६ ई०)

(क) मूल और परमेश्वर कृत संस्कृत टीका, संपादक एच० कर्न, लाइडेन (हॉलैंड), १८७४।

(ख) मूल और नीलकंठ कृत संस्कृत टीका, संपादक के० एस० शास्त्री, ट्रिवैण्ड्रम १९३०-३१

(ग) अँग्रेजी अनुवाद, पी० सी० सेनगुप्त, कलकत्ता, १९२७।

(घ) अँग्रेजी अनुवाद, डब्ल्यू० ई० क्लार्क, शिकागो, १९३०।

(ङ) हिंदी अनुवाद, उदय नारायन सिंह, इटावा, १९०६।

४. पंच-सिद्धांतिका—ग्रंथकार वराहमिहिर (लगभग ५५० ई०)।

मूल, संस्कृत टीका और अँग्रेजी अनुवाद, जी० थीबो और सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८८९।

इति० १९

५. **ग्रहचार-निबंधन**—ग्रंथकार हरिदत्त ।
के० वी० शर्मा द्वारा संपादित, मद्रास, १९५४ ।

६. **महाभास्करीय**—ग्रंथकार भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ।
मूल और परमेश्वर कृत संस्कृत टीका, संपादक बी० डी० आप्टे, पूना, १९४५ ।

७. **लघुभास्करीय**—ग्रंथकार भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ।
मूल और परमेश्वर कृत संस्कृत टीका, संपादक बी० डी० आप्टे, पूना, १९४६ ।

८. **ब्रह्मस्फुट-सिद्धांत**—ग्रंथकार ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ।
मूल और स्वयं ग्रंथकार कृत संस्कृत टीका, संपादक सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १९०२ ।

९. **खंडखाद्यक**—ग्रंथकार ब्रह्मगुप्त (६६५ ई०) ।
(क) मूल और पृथूदक कृत संस्कृत टीका, संपादक पी० सी० सेनगुप्त, कलकत्ता, १९४१ ।
(ख) मूल और आमराज कृत संस्कृत टीका, संपादक बबुआ मिश्र, कलकत्ता, १९२५ ।
(ग) अँग्रेजी अनुवाद, पी० सी० सेनगुप्त, कलकत्ता, १९३४ ।

१०. **शिष्यधीवृद्धिद**—ग्रंथकार लल्ल ।
सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, १८८६ ।

११. **लघुमानस**—ग्रंथकार मंजुल (९३२ ई०) ।
(क) मूल और परमेश्वर कृत संस्कृत टीका, संपादक बी० डी० आप्टे, १९४४ ।
(ख) अँग्रेजी अनुवाद, एन० के० मजूमदार, कलकत्ता, १९५१ ।

१२. **महासिद्धांत**—ग्रंथकार आर्यभट द्वितीय (लगभग ९५० ई०) ।
मूल और स्वयं ग्रंथकार कृत संस्कृत टीका, संपादक सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १९१० ।

१३. **राजमृगांक**—ग्रंथकार किंवदंती के अनुसार राजा भोज (१०४२ ई०) ।
संपादक के० माधव कृष्ण शर्मा, आड्यार, १९४० ।

१४. **सिद्धांत-शेखर**—ग्रंथकार श्रीपति (लगभग १०३९ ई०) ।
संपादक बबुआ मिश्र संस्कृत टीका सहित, अंशतः मक्कि भट्ट कृत और अंशतः संपादक कृत, कलकत्ता, १९३२, १९४७ ।

१५. **करण-प्रकाश**—ग्रंथकार ब्रह्मदेव (१०९२ ई०)।
मूल और संस्कृत टीका, सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८९९।

१६. **भास्वती**—ग्रंथकार शतानंद (१०९९ ई०)।
मूल और स्वयं ग्रंथकार कृत संस्कृत तथा हिंदी टीकाएँ, संपादक एम० पी० पांडे, बनारस, १९१७।

१७. **सिद्धांत-शिरोमणि**—ग्रंथकार भास्कर द्वितीय (११५० ई०)।
(क) बापू देव शास्त्री द्वारा संपादित और गणपति देव शास्त्री द्वारा संशोधित, बनारस, १९२९।
(ख) भाग १, मूल और गणेश दैवज्ञ कृत टीका, संपादक बी० डी० आप्टे, पूना, १९४३।
(ग) भाग २, अँग्रेजी अनुवाद, एल० विल्किनसन, कलकत्ता, १८६१।
(घ) हिंदी अनुवाद, गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, लखनऊ, भाग १ (१९२६), भाग २ (१९११)।

१८. **करण-कुतूहल**—ग्रंथकार भास्कर द्वितीय (११५० ई०)।
मूल और सुमति हर्ष कृत टीका, संपादक माधव शास्त्री, बंबई, १९०१।

१९. **यंत्रराज**—ग्रंथकार महेंद्र सूरी।
मूल और मलयेन्दु सूरी कृत टीका, संपादक कृष्णशंकर केशव वर्मा रैक्क, बंबई, १९३६।

२०. **गोलदीपिका**—ग्रंथकार परमेश्वर (१४३० ई०)।
संपादक टी० गणपति शास्त्री, ट्रिवैण्ड्रम, १९१६।

२१. **राशिगोलस्फुटानीति**—ग्रंथकार अच्युत।
मूल और संस्कृत टीका, के० वी० शर्मा, आद्यार, १९५५।

२२. **सिद्धांत-दर्पण**—ग्रंथकार नीलकंठ (लगभग १५०० ई०)।
मूल तथा अँग्रेजी अनुवाद, के० वी० शर्मा, आद्यार, १९५५।

२३. **ग्रहलाघव**—ग्रंथकार गणेश दैवज्ञ (१५४५ ई०)।
मूल और मल्लारि कृत, विश्वनाथ कृत तथा अपनी टीकाएँ; सुधाकर द्विवेदी, बंबई, १९२५।

२४. **सिद्धांत-सार्वभौम**—ग्रंथकार मुनीश्वर।
संपादक, मुरलीधर ठाकुर, बनारस, १९३२, १९३५।

२५. **सिद्धांत-तत्व-विवेक**—ग्रंथकार कमलाकर।
(क) संपादक सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८८५।
(ख) मूल और संस्कृत टीका, भाग १, लखनऊ, १९२८; भाग २, भागलपुर, १९३५; भाग ३, बनारस, १९४१।

अन्य ग्रंथ

१. **गणक-तरंगिनी**—सुधाकर द्विवेदी; बनारस, १८९२।

२. **बृहत्संहिता**—वराहमिहिर कृत—मूल और भट्टोत्पल कृत संस्कृत टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८९५, १८९७।

३. **सिद्धांत-दर्पण**—चंद्रशेखर सिंह कृत—योगेशचंद्र राय।

४. **भारतीय ज्योतिषशास्त्र** (मराठी में)—शंकर बालकृष्ण दीक्षित, पूना, १९३१।

५. **एनशेण्ट इंडियन मैथिमैटिक्स ऐंड वेध**—एल० वी० गुर्जर, पूना, १९४७।

६. **हिंदू ऐस्ट्रॉनोमी**—जी० आर० के।

७. **ऐस्ट्रोनॉमिकल ऑबज़रवेटरीज़ ऑफ जयसिंह**—जी० आर० के।

८. **दि जयपुर ऑबज़रवेटरी ऐंड इट्स बिल्डर**—आर० ई० गैरट।

९. **गाइड टु दि ऑबज़रवेटरीज़ ऑफ जयसिंह**—जी० आर० के (१९२०)।

१०. **अस्ट्रोनोमी, अस्ट्रोलोजी उंड मथिमटीक** (जरमन में)—जी० थीबो।*

---

*संपूर्ण सूची डाक्टर कृपाशंकर शुक्ल की थीसिस से संकलित।

अनुक्रमणिका

